निराला : पुनर्मूल्यांकन

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कलकत्ता

महाप्राण निराला : पुनर्मूल्यांकन

सम्पादक

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

डॉ० वसुमति डागा

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

कलकत्ता

प्रकाशक :
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
१ सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट
कलकत्ता-७०००७
फोन : २३८-८२१५

प्रकाशन तिथि :

१ फरवरी १९५४ ई०

परामर्श :
आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

प्रकाशन समिति :
श्री जुगलकिशोर जैथलिया
श्री महावीर बजाज
डॉ० उषा द्विवेदी

मुद्रक :
एसकेज
८, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट
कलकत्ता-७०००७

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के संस्कृति विभाग के
सहयोग से प्रकाशित

Mahapran Nirala : Punarmulyankan
(A critical analysis of famous Hindi poet NIRALA)
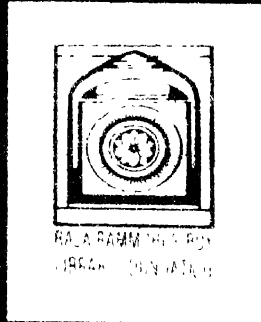
महाप्राण निराला की परम्परा

के

संघर्षशील रचनाकारों

को

सादर समर्पित

मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत कृष्ण अथवा
वह नहीं क्लिन्न
भेदकर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलङ्क
हो कोई सर।

—निराला

सम्पादकीय—

शताब्दी के कवि निराला को नमन

हे महामानव ! महाकवि ! हे कला के प्राण।
लिखे तुमने रक्तलिपि में अमर अपने गान।।
शब्द ध्वनि से सधी तेरे छंद की झंकार।
खोलती युग-युग रहेगी जागरण के द्वार।।

—गंगा प्रसाद पांडेय

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने निराला के निधन को 'शताब्दी के कवि का अवसान' कहा था। यद्यपि महाकवि की मृत्यु के बाद इस शताब्दी के शेष होने में ३९ वर्ष बाकी थे और हिन्दी कविता के परवर्ती रूपों का प्रकाश में आना शेष था। परन्तु इस शताब्दी के अन्त में पहुँचकर यह तथ्य सहज ही स्वीकार करना पड़ता है कि बीसवीं शती की हिन्दी कविता में निराला जैसे व्यक्तित्व एवं कृतित्व का कवि दूसरा नहीं है।

यह निराला की काव्य-प्रतिभा का ही वैशिष्ट्य है कि वे आज भी कवियों एवं साहित्यकारों के लिए प्रेरणा के अक्षय स्रोत बने हुए हैं। अपने समय के आलोचकों, सम्पादकों द्वारा वे भले ही उपेक्षित और 'अलक्षित' रहे हों परन्तु यह सत्य है कि अपनी परवर्ती पीढ़ी और आज के युवा रचनाकारों द्वारा वे सर्वाधिक सम्मान्य कवि के रूप में समादृत हैं। आधुनिक काल के साहित्यकारों में केवल निराला ही ऐसे सर्जक हैं जिनके प्रति श्रद्धाज्ञापन की सर्वाधिक कविताएँ उपलब्ध हैं। इन प्रशस्तिपरक कविताओं के रचनाकारों की सूची में हिन्दी के लगभग सभी श्रेष्ठ कवि आते हैं। इन कविताओं की संख्या इतनी है कि इन्हें संकलित कर एक अच्छा ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि समस्त हिन्दी साहित्य में तुलसीदास के बाद केवल निराला ही ऐसे वरेण्य साहित्यकार हैं जिनके प्रति जनसाधारण से लेकर विद्वज्जनों का समान झुकाव है। उनका कृतित्व यदि 'बुध विश्राम' है तो उनका व्यक्तित्व 'सकल जन रंजन' करने में समर्थ है। हिन्दी जगत उनके साहित्य के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व से भी अभिभूत रहा है।

निरालाजी को यह स्थान यों ही प्राप्त नहीं हुआ है। परम्परा के स्वस्थ पक्षों के साथ समकालीनता का विवेकपूर्ण समन्वय तथा सुन्दर समाज की संरचना हेतु क्रांतदर्शी चेतना ने निराला को कालजयी रचनाकार की प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनमें कबीर और तुलसी दोनों के व्यक्तित्व एवं गुण-वैशिष्ट्य एक साथ समाहित हैं।

व्यक्तित्व एवं कृतित्व, दोनों ही क्षेत्रों में वैविध्य ही उन्हें सही अर्थों में निराला बनाता है। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' उक्ति यदि उनके व्यक्तित्व पर सही उतरती है तो उनकी रचनाओं में कथ्य, भाषा, भाव तथा अभिव्यक्ति की विविधता उन्हें दूसरे साहित्यकारों से पृथक् करती है। यह वैविध्य ही साहित्य के अध्येताओं तथा आलोचकों को निराला-साहित्य के पुनः पुनः मूल्यांकन हेतु प्रेरित करता रहा है।

निराला शताब्दी के अवसर का लाभ उठाते हुए हमने उनके साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करने का विनम्र प्रयास किया है। हमारा यह कतई दावा नहीं है कि इस ग्रन्थ के द्वारा निराला का नए ढंग से मूल्यांकन कर ही लिया गया है परन्तु सहृदय पाठकों को इस बात की प्रतीति अवश्य होगी कि अपनी सीमा में हमने ईमानदार चेष्टा की है। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि सूर्यकांत त्रिपाठी को 'निराला' बनाने वाली उनकी प्रमुख कर्मभूमि कलकत्ता से यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रन्थ को गरिमापूर्ण बनाने में हमें देश के सुप्रतिष्ठित रचनाकारों से लेकर नवोदित लेखकों का जो अकुंठ सहयोग मिला है, उसके लिए हम सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

हम आभारी हैं मानव संसाधन विकास मंत्रालय (भारत सरकार) के संस्कृति विभाग के, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ व्यय का वृहद् अंश आर्थिक अनुदान के रूप में प्रदान किया है। इस संदर्भ में विशेष धन्यवाद के पात्र हैं केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मन्त्री सम्मान्य श्री एस. आर. बोम्मई तथा संस्कृति विभाग के तत्कालीन सचिव माननीय श्री वाल्मीकि प्रसाद सिंह, जिनकी सदाशयता एवं साहित्यानुराग से हमें न केवल इस ग्रन्थ हेतु अनुदान प्राप्त हुआ है बल्कि निराला के जन्मस्थान महिषादल (प० बंगाल) में मूर्ति स्थापना तथा निराला के पैतृक ग्राम गढ़ाकोला (उन्नाव) के उन्नयन हेतु भी केन्द्र सरकार का पूर्ण सहयोग मिला है। पूर्व-प्रधानमन्त्री माननीय श्री अटल बिहारी वाजपेयी तथा साहित्यकार-सांसद आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के भी हम कृतज्ञ हैं जिनके प्रयत्न एवं सहयोग से ये योजनायें रूपायित हो सकीं।

निराला साहित्य के अध्येताओं को यदि यह ग्रन्थ प्रीतिकर लगा तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे। सुधी पाठकों की सम्मति की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

बसंत पंचमी सं० २०५४

१ फरवरी १९५४ ई०

—सम्पादकद्वय

अनुक्रम

निराला के साहित्य में जातीय चेतना

डॉ० रामविलास शर्मा

१९२३ में साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से बोलते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य और जातीयता का सम्बन्ध इस तरह बताया था—"जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य रूपी आईने में ही मिल सकती है।" इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी शक्ति कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। इस शक्ति के प्रति निराला अत्यन्त सजग थे। हिन्दी जाति को भाषा और साहित्य के माध्यम से प्रगति पथ पर आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया।

२६ अगस्त, १९२० को उन्होंने 'बंग भाषा का उच्चारण' शीर्षक लेख महावीर प्रसाद द्विवेदी को भेजा। साथ के पत्र में उन्होंने अपने को "बंग प्रवासी एक अपरिचित संतान" लिखा। यद्यपि उनका जन्म बंगाल में हुआ था, फिर भी वह अपने को बंगप्रवासी मानते थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी उनके पितामह के समान थे इसलिए निराला ने स्वयं को अपरिचित सन्तान लिखा। द्विवेदीजी ने जब उनके बारे में और बातें जाननी चाही, तब ११ जनवरी १९२१ के पत्र में उन्होंने लिखा—"आप हिन्दी संसार के स्वनामधन्य पुरुष हैं। मैं आपको हृदय से पूजता हूं। यही आपसे मेरा सम्बन्ध है। इससे अधिक मधुरता और किस सम्बन्ध में है?" पत्र में आगे उन्होंने लिखा—"हिन्दी मैंने किसी व्यक्ति विशेष से नहीं सीखी। यहां हिन्दी का एक भी ज्ञाता नहीं। आप पर भक्ति का एक कारण यह भी है।" पत्र समाप्त करने के बाद उन्होंने एक वाक्य और जोड़ दिया—"हिन्दी सिखाइए। इति।"

हिन्दी सीखना इसलिए भी जरूरी था कि वे घर में बैसवाड़ी बोलते थे। इसी बोली में उन्होंने आगे दो चार पत्र द्विवेदीजी को भी लिखे परन्तु वे जानते थे कि साहित्य इस भाषा में नहीं लिखा जा रहा। साहित्य की भाषा हिन्दी है। वे अवश्य ही सरस्वती पढ़ रहे थे और उससे साहित्यिक हिन्दी लिखना सीख रहे थे। 'बंग भाषा का उच्चारण' लेख में उन्होंने जिस तरह की विवेचनात्मक शैली अपनाई है, उस पर महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रभाव दिखाई देता है।

लेख में उन्होंने बंग भाषा को सर्वाङ्ग सुन्दरी किन्तु दोषयुक्त बताया है। दोष स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण को लेकर है। अ को ओकार वत् बोलना; ऐ, औ को ओइ ओउ बोलना; स, श, ष तीनों सकारों को तालव्य रूप दे देना, व को ब बोलना आदि बातें उन्होंने दोष मानी हैं। हिन्दी में वर्णों का जैसा उच्चारण होता है, उससे भिन्नता देखकर इसे उन्होंने दोष कहा है। हिन्दी भाषी के लिए सही ढंग से बांग्ला बोलना कठिन है, इसलिए कि "यदि जीभ लड़कपन में न फेरी गयी तो वह इसके उच्चारण-मार्ग पर कभी शुद्ध चाल चल ही नहीं सकती।" फिर अपने बंगाल में पैदा होने और बंगला बोलने पर ध्यान देकर उन्होंने लिखा—"यह सभी को मालूम है कि बंगालियों की तरह बंग-भाषा का उच्चारण केवल वही कर सकता है जिसका बाल्यकाल का जीवन बंग-भूमि ही में व्यतीत हुआ है।" (निराला रचनावली, खण्ड-६, पृ० २७) इस समय उनका विचार था कि मात्रिक छन्द ही वास्तव में पद्य के लिए उपयुक्त होते हैं। किसी पद्य में यदि मात्राओं का मेल न रहे तो वह पद्य पद्य नहीं गिना जा सकता। इधर बंगाल के कवियों का यह हाल था कि "पद्य रचते समय बंगाली लेखक की दृष्टि मात्राओं के मेल पर नहीं, अक्षरों के मेल पर रहती है।" (उपर्युक्त) इससे तर्कसंगत निष्कर्ष यह निकलेगा कि बंगला भाषा में न तो वास्तविक कविता लिखी गयी है, न लिखी जा सकती है। यह उस समय की बात है जब निराला ने कवित्त छन्द को अपने मुक्त छन्द का आधार न बनाया था, जब उन्होंने कवित्त को हिन्दी का जातीय छन्द कहा था। २२ साल की आयु में लिखे हुए इस लेख का महत्त्व इतना ही है कि वह अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ से ही स्वयं को बंगला जातीयता से अलग हिन्दी जातीयता से जोड़ रहे थे। ६-७ साल बाद उन्होंने **रवीन्द्र कविता कानन** पुस्तक लिखी और उसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बंगला कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इस पुस्तक के आरम्भ में उन्होंने बांग्ला भाषा और रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध के बारे में लिखा—"रवीन्द्रनाथ के जीवन के साथ बंग भाषा का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है' दोनों के प्राण जैसे एक हों।" (निराला रचनावली खण्ड-५, पृष्ठ-१९) बंगला भाषा और साहित्य का उत्थान जातीय जागरण से जुड़ा हुआ था, यह बात निराला ने स्पष्ट की और लिखा—"वह बंग भाषा के जागरण की पहली अवस्था थी। कुछ बंगाली जगे भी थे, परन्तु अधिकांश में लोग जगकर अँगड़ाइयाँ ही ले रहे थे।···उस समय मधुर प्रभाती के स्वरों में उन्हें सचेत करने की आवश्यकता थी।" (उपर्युक्त) इसके बाद ब्रह्म या ईश्वर का स्मरण न करके वह प्रकृति के बारे में कहते हैं,—"प्रकृति की कमी भी प्रकृति के द्वारा ही पूर्ण होती है।" (उप०) यह कमी पूरी हुई रवीन्द्रनाथ ठाकुर के माध्यम

से जातीय जागरण के द्वारा। इस प्रकार "जागरण के प्रथम प्रभात में आवेश भरी भैरवी बंगालियों ने सुनी—वह संगीत, वह तान, वह स्वर, बस जैसा चाहिए वैसा ही। जाति के जागरण को कर्म की सफलता तक पहुंचाने के लिए, चलकर जगह-जगह पर थकी बैठी हुई जाति को कविता और संगीत के द्वारा आश्वासन और उत्साह देने के लिए उसका अमर कवि आया, प्रकृति ने प्रकृति का अभाव पूरा कर दिया। ये सौभाग्यमान पुरुष बंगाल के जातीय महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं।" (उपर्युक्त) बंग भाषा के उच्चारण वाली बात, मात्रिक छदों में ही अच्छी कविता हो सकती है, वह बात बहुत पीछे छूट गयी है। जातीय जागरण में नेतृत्व करने के कारण निराला ने रवीन्द्रनाथ को जातीय महाकवि कहा है। इसी पृष्ठ पर उन्होंने यह भी लिखा है—"१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर २०वीं शताब्दी के पूर्ण प्रथम चरण तक तथा अब तक रवीन्द्रनाथ कविता साहित्य में संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं।" अन्यत्र उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भारत का राष्ट्रकवि (निराला रचनावली, खण्ड-६, पृ० ४४२), और विश्वकवि (उपर्युक्त पृ० ४४१) भी कहा है। जातीय कवि, राष्ट्रीय कवि और विश्वकवि—इन तीनों उपाधियों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। महान् साहित्यकार विदेशी भाषा में नहीं, अपनी जातीय भाषा में साहित्य रचते हैं। सबसे पहले उनकी दृष्टि के सामने उनकी जाति के लोग होते हैं, इसलिए उनका जातीय कवि होना अनिवार्य है। फिर यह जाति देश से अलग-थलग नहीं है। अनेक जातियों के एक साथ रहने से ही यह राष्ट्र बना है। जातीय प्रदेश में सीमित न रहकर कवि अन्य प्रदेशों के लोगों को भी देखता है, देश पर लिखता है। देश संसार का अंग है। कवि देश की जनता के साथ संसार की जनता को भी देखता है। वर्तमान परिस्थितियों में मानवता दो बड़े हिस्सों में बँटी हुई है, एक ग़रीबों की मानवता और दूसरी धनी वर्ग की मानवता। यदि कवि सच्चा मानवतावादी है तो अपने देश के गरीबों के अलावा दूसरे देश के गरीबों की स्थिति पर भी ध्यान देगा। जातीयता का समर्थन और जातीय संकीर्णता का विरोध, राष्ट्रीयता का समर्थन और उससे ऊपर उठकर विश्व मानवता का समर्थन, ये दोनों बातें रवीन्द्रनाथ ठाकुर में हैं और निराला में भी हैं। कहना न होगा, जिस तरह जातीय जागरण का नेतृत्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था, वह आदर्श निराला के सामने भी था और यह आदर्श उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक दौर में सुनिश्चित हो गया था।

बंगाल के जातीय जागरण में निराला ने दो बातों पर विशेष ध्यान दिया। पहली यह कि अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने भारत को गुलाम बनाकर अपनी संस्कृति का आतंक यहां जमा रखा था, वह आतंक रवीन्द्रनाथ ठाकुर की

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति से ध्वस्त हुआ। दूसरी यह कि भारतीय समाज में सामंती व्यवस्था के अंधविश्वासों का जो कचरा जमा हुआ था उसे दूर करने में रवीन्द्रनाथ ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निबाही। रवीन्द्रनाथ की कविता की लहरों से "पश्चिम की पथरीली चट्टानें ढह कर नष्ट हो गयीं—विषमता की जगह समता की सृष्टि हुई।" (निराला रचनावली, खण्ड-५, पृ० १९) पश्चिमी सभ्यता की परिणति हुई महायुद्ध में; बहुत बड़े पैमाने पर नरसंहार में। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी आलोचना की। वह आलोचना निराला को बहुत प्रिय थी। उन्होंने एक कविता उद्धृत की उसके कुछ वाक्य उनके गद्य में इस प्रकार हैं— "आज हिंसा के उत्सव में, अस्त्रों की झनकार के साथ-ही-साथ, मृत्यु की भयंकर उन्माद-रागिनी बज रही है....स्वार्थ के साथ अस्वार्थ का संघात हो रहा है—लोक के साथ लोक का संग्राम मचा हुआ है—भद्रवेशिनी बर्बरता अपनी पंकशय्या से जगकर उठी है—लाज-शर्म से हाथ धो जाति-प्रेम के नाम से प्रचंड अन्याय धर्म को अपने बल की बाढ़ में बहा देना चाहता है। कवियों का समूह पञ्चम स्वर में श्मशान-श्वानों की छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है और लोगों में भय का संचार कर रहा है। निराला ने अपनी ओर से कहा—"शताब्दियों के सभ्यता-सूर्य को पश्चिमी रक्तवर्ण मेघों में अस्त करके, पश्चिमी सभ्यता का जो नग्न चित्र महाकवि ने इन पंक्तियों में दिखलाया है, वह तो पूरा उतरा ही है।" (निराला रचनावली पृ० ६४) उसके अलावा कविता की अन्य विशेषताओं पर भी निराला ने ध्यान दिया है। "रक्त वर्ण मेघों में सभ्यता-सूर्य अस्त होते हैं। एक तो स्वभावतः सूर्य के अस्त होने पर मेघ लाल-पीले देख पड़ते हैं, दूसरे मेघों की रक्तिम आभा पश्चिमी सभ्यता के संग्राम-वर्णन की साहित्यिक छटा को और बढ़ा देती है; क्योंकि संग्राम या रजोगुण का रंग भी लाल है—इसी संग्राम या रजोगुण में शताब्दियों के सभ्यता-सूर्य अस्त हो गये हैं—अब वह उज्ज्वल प्रकाश नहीं है। अब ललाई मात्र रह गई है। इसके बाद है रात्रि का अन्धकार—तमो गुण !" (उपर्युक्त पृ० ५५) रवीन्द्रनाथ की कविता का यह बिम्ब कितनी दृढ़ता से निराला के मन में बैठ गया था, यह 'तुलसीदास' और "राम की शक्ति पूजा" के प्रारम्भिक अंशों को देखने से स्पष्ट हो जाएगा।

इन्हीं साम्राज्यवादियों से समझौता करके कुछ नेता देश की उन्नति करना चाहते थे। निराला ने लिखा—"कन्धे में भिक्षा की झोली डालकर जो लोग राज्य-प्राप्ति की आशा से दूसरों का दरवाजा खटखटाया करते हैं, उनके प्रति विदेशियों का कैसा भाव है, इसके सम्बन्ध में भी महाकवि की उक्ति सुन लीजिए।" उस उक्ति के दो वाक्य ये हैं :—"ऐ मेरे स्वदेश ! जो मनुष्य तुम्हें दूर रखकर नित्य ही तुमसे घृणा किया करता है, हम सम्मान के लिए उसी के

वेष में उसके पास चक्कर लगाया करते हैं। विदेशी तुम्हें (तेरी महत्ता को) नहीं जानते, इसलिए उनमें निरादर का भाव है और वे तुम्हारा अपमान किया करते हैं, और हम तुम्हारी गोद के बच्चे उनके पीछे लगे हुए, उनके इस कार्य की सहायता किया करते हैं।" (उपर्युक्त पृ० ५९) रवीन्द्रनाथ की कुछ कविताएँ आज के युग में कितनी प्रासंगिक हैं, पाठक वर्तमान परिस्थितियों की ओर देखकर यह आसानी से समझ सकते हैं। निराला में यह साम्राज्य विरोध निरन्तर निखरता गया और उन्होंने साम्राज्यवाद से समझौता करने वालों की तीखी आलोचना की।

अंग्रेजी राज में भारतवासी किस तरह जी रहे थे, इसका बहुत अच्छा चित्रण रवीन्द्रनाथ की इन पंक्तियों में है—"हम लोग कहां हैं?—दूर—बहुत-दूर—उस नगर का नाम है विषाद—उसी के एक जीर्ण मन्दिर में,—जिसकी दीवारें पुरानी हो गयी हैं—जहां एक दीप भी नहीं जल रहा!—वहीं हजारों मनुष्यों की कुटिल भौंहों के नीचे कुब्जे की तरह—सिर झुकाए हुए,—हजारों मनुष्यों के पीछे-पीछे प्रभुत्व की तर्जनी के इशारे पर उनके कटाक्ष से काँप-काँप कर हम चल रहे हैं।" (उपर्युक्त पृ० ५३)।

अंग्रेजी राज के अलावा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यहाँ के महंतो और मठाधीशों की आलोचना भी की थी। निराला इसके बारे में कहते हैं—"आगे चलकर आप अपने अक्षय तूणीर से बड़े-बड़े विकराल अस्त्र निकालते हैं। इनका संधान देश के उन साधुओं पर किया जाता है जो मुफ्त ही का धन हज़म कर जाया करते हैं और काम जिनसे कुछ भी नहीं होता। मन्दिर के विशाल मंच पर कुछ मन्त्र कहकर देश के उद्धार का द्वार खोलने वाले इन बगुलाभगत साधुओं को आपकी उक्ति से करारी चोट पहुँचती है। इससे उनके दुराचारों को भी कोई चोट पहुंचती है या नहीं, यह हम नहीं कह सकते हैं।" (उपर्युक्त ५१-५२) रवीन्द्रनाथ की इस महंत-विरोधी आलोचना का विकसित रूप प्रेमचन्द और निराला में दिखाई देता है वह आलोचना कितनी प्रासंगिक थी, यह भी आज की परिस्थितियों को देखकर आसानी से समझा जा सकता है।

यद्यपि निराला ने अंग्रेजी राज की तीखी आलोचना की थी, फिर भी उन्होंने यह विचार प्रकट किया था कि जिन प्रान्तों में अंग्रेजी राज पहले क़ायम हुआ, वहाँ नये साहित्य का जन्म पहले हुआ। उन्होंने लिखा था, "जिन-जिन प्रान्तों में अंग्रेजी शासन का पहला प्रभाव पड़ा, इस नवीन साहित्य की जड़ें वहां-वहां पहले जमीं, और वहां के साहित्यिक इस कार्य में बहुत-कुछ प्रगति कर चुके। मेरा मतलब खास तौर से सुवर्ण बंगाल से है।" (निराला-रचनावली, खण्ड-५, पृ० ३६९) अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी साहित्य एक ही

चीज़ नहीं हैं। अनेक अंग्रेज कवियों ने अपने ही देश के शासन का विरोध किया था और भारत की स्वाधीनता का समर्थन किया था। अंग्रेजी साहित्य की प्रगतिशील धारा से भारत के साहित्यकार कुछ ग्रहण करें तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं था। इसके सिवा बंगाल में ऐसे विद्वान थे जो अंग्रेजी के अतिरिक्त यूरोप की अन्य भाषाओं से भी परिचित थे। सारी पाश्चात्य संस्कृति सिमटकर इंग्लैंड में न रह गयी थी। उसी निबंध में निराला ने आगे लिखा—"बंगाल के अमर काव्य "मेघनाद वध" के रचयिता माइकेल मधुसूदन दत्त के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियों के अध्ययन के पश्चात् की थी। फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन, आदि कई भाषाएँ जानते थे, और यूरोप में रहने के समय काव्य शास्त्र में काफी प्रवेश कर लिया था।" (उप०) इंग्लैंड की यात्रा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी की थी। इंग्लैण्ड और यूरोप की यात्रा उनसे पहले राजा राममोहन राय ने की थी। यूरोप से भारत का सम्बन्ध पुराने समय से था, अंग्रेजी राज तो बाद में क़ायम हुआ। इंग्लैण्ड और यूरोप के अनेक साहित्यकार भारतीय दर्शन से प्रभावित हुए थे। उन्हें भारतीय साहित्यकारों ने समानधर्मा माना हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। शेली और रवीन्द्रनाथ की मानवता और भिन्नता दिखाते हुए निराला ने इस टिप्पणी में लिखा था—"रवीन्द्रनाथ के योरपीय चरित्र-लेखकों ने उनके जीवन का एक काल ऐसा निश्चित किया है, जिस समय उन पर अंग्रेज कवि शेली का प्रभाव पड़ा है····कुछ ही कविताओं के निकलने पर लोग इन्हें बंगला के शेली कहकर पुकारने लगे। बंकिमचन्द्र ने स्वयं भी इस शब्द से इनकी संवर्धना की थी, उस समय आर० सी० दत्त भी थे। बंकिमचन्द्र ने अपनी माला इन्हें पहना दी थी। यह तरुण रवीन्द्रनाथ थे।" (निराला रचनावली, खण्ड-५, पृ० ४५०)

निराला ने डी० एल० राय के बारे में लिखा कि वह 'चित्रांगदा' की अदम्य काम वासना देखकर क्षुब्ध हुए और उन्होंने उसकी कड़ी आलोचना की। आगे निराला कहते हैं—"पर इससे कवि को क्या? कवि अपनी रुचि के अनुसार ही चित्र खींचता है। अस्तु। तब से अब तक प्रेम के सहस्रों लावण्यमय उज्ज्वल चित्र रवीन्द्रनाथ ने खींचे हैं, और सभी पश्चिम के रंग में रंगे हुए हैं।" (उपर्युक्त पृ० ४४८-४९) वैसे चित्र कालिदास में और स्वयं निराला के साहित्य में मिल जाएँगे। यह सब पश्चिम का रंग नहीं था। निराला शेली की प्रगतिशील विचार धारा से परिचित थे। उसी निबन्ध में उन्होंने आगे लिखा था—"उस समय के समाज, पार्लमेंट और बड़े-बड़े आदमियों के स्वभावों को जिस तरह शेली अपने शब्दों की शिखाओं से झुलसा देता है, उसी

तरह रवीन्द्रनाथ भी अपनी पराधीन जाति को। लंडन की तरह नरक को एक बड़ा-सा शहर बतलाकर शैली ने अकर्मण्य, निर्दय, धार्मिकों की जैसी दशा चित्रित की है, बीवियों को जैसा बनाया है, कानूनदाओं, विचारकों की जैसी प्रकृति खींची है, वह सब आज भारतवर्ष में प्रत्यक्ष हो रहा है।" (उपर्युक्त ४५०-५१) दोनों कवियों में भाव-साम्य, बिम्ब साम्य देखते हुए निराला ने यहाँ तक कहा है--"अंग्रेजी के उच्चारण में जो संगीत शेली और कीट्स की कविताओं में मिलता है, वही रवीन्द्रनाथ की बंगला की कविताओं में है।" (उपर्युक्त, पृ० ४५१) रवीन्द्रनाथ के काव्य पर यह टिप्पणी निराला ने सन् १९३० में लिखी थी। उसमें थोड़ा संशोधन करके उन्होंने तीन साल बाद लिखा—"रही डॉ० रवीन्द्रनाथ की बात, सो हमें तो उनमें जो कुछ मिला, वह प्राचीन की ही एक सुन्दर खिचड़ी है, कुछ यहाँ के चावल, कुछ वहाँ की दाल, हिंदोस्तान का पानी और योरप की बिजली की आग। पर पहले बिजली थी हाँ नहीं, यह आप ही कह लीजिए। हमे महाकवि रवीन्द्रनाथ में एक भी बात ऐसी नहीं मिली, जो पहले नहीं थी।" (उपर्युक्त खण्ड-६, पृ० ३९२)।

बंगाल में जन्म लेने और वहाँ रहने से निराला में हिन्दी जातीय चेतना का उदय हुआ। बंगालियों में यह जातीय चेतना पहले से थी। उसने बहुत जल्दी निराला को महसूस करा दिया कि वह बंगाली जाति के अंग नहीं हैं। बंगाल के नवजागरण से निराला ने बहुत कुछ सीखा। जातीय चेतना जहाँ संकीर्ण हो जाती थी उससे भी उन्होंने सीखा। गाँधी और रवीन्द्रनाथ के चरखा सम्बन्धी विवाद में सरला देवी ने रवीन्द्रनाथ का पक्ष लिया। इसका उल्लेख करते हुए निराला ने 'चरखा' निबन्ध में लिखा—"मुझे बड़ा ही दुःख है कि इच्छा के न रहते हुए भी कई कारणों से विवश होकर मुझे उनकी समालोचना के विरोध में कुछ लिखना पड़ रहा है। मैं यह विरोध हरगिज न करता अगर यू० पी० में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रांतीयता-बुद्धि-विवर्जित हो गया होता; परन्तु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता? बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी ज़रूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रांतीयता का जहर मेरी नसों में खूब फैल गया और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हर वक्त—बंगालियों की एक-एक चाल में। बंगालियों से फ़ायदा मुझे यही हुआ। आपकी हरेक पेचीदा बात आसानी से सुलझा लेने लगा।" (निराला रचनावली, खण्ड-६, पृ० ६८-६९) **चरक संहिता** में लिखा है—जहर भी दवा का काम कर सकता है। उसी तरह प्रांतीयता के जहर ने निराला में जातीय चेतना जगाई। 'चरखा' निबंध १९२५-२६

का लिखा हुआ है। उस समय वह बंगाल में अपने रहने को महिमा मंडित न कर रहे थे। उस समय उनका विचार था, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता ? अपने प्रदेश से प्रेम यहां इस तरह प्रकट हुआ है। प्रदेश के प्रति प्रेम जातीय चेतना के संकीर्ण रूपों से अनेक बार टकराया। गांधीजी के आन्दोलन का विरोध करते हुए रवीन्द्रनाथ ने व्यक्ति स्वतन्त्रता और विधाता की इच्छा की बात कही थी। इसी प्रसंग में उनकी प्रांतीयता की आलोचना करते हुए निराला ने लिखा "जिस तरह एक जगह बंगाल का बड़प्पन गाते हुए रवि बाबू ने बंगाली दिमाग को सातवें आसमान पर चढ़ाने की चेष्टा की है, और बंगाली विवेचन पर कुछ आत्मप्रसाद के भी लक्षण प्रकट किए हैं; उसी तरह इस जगह हमें लिखना पड़ता है कि रवि बाबू जैसे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ बंगाली लेखक 'विधाता' और 'ईश्वर' पर इतना अधूरा विचार रखते हैं कि बात-बात पर उनका उल्लेख ठीक उसी तरह करते हैं जैसे धूल खेलते हुए बच्चे हर बात पर 'राम दुहाई' और 'खुदा कसम' आदि कहकर अपने अज्ञान को ईश्वर के अस्तित्व का साक्षी साबित करने लगते हैं, और इस तरह 'राम' और 'खुदा' शब्द के अनर्गल प्रलाप में एक बहुत बड़े सत्य को चिरकाल के लिए बहा देते हैं।" (उपर्युक्त पृ० ६४)।

१९३४ में निराला ने 'बंगालियों की प्रान्तीयता' शीर्षक टिप्पणी "सुधा" में लिखी। इसमें उन्होंने कहा कि बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रदेशों में प्रांतीयता का भाव है। यह भाव केवल युक्त प्रांत में नहीं है। उससे इस प्रांत के निवासियों की हानि भी हुई है। "बम्बई में, गुजराती समाज में, युक्त-प्रांतवासी 'भैया' का कैसा हेय स्थान है! यदि यह भाव किसी प्रांत में नहीं है, तो युक्त-प्रान्त में। और यही कारण है कि आज इस प्रांत के हर एक कार्यालय में ९० प्रतिशत अन्य प्रांतीय अफसर हैं, तथा इस प्रांत के लोगों को अन्य प्रांतों में प्रांतीयता के कारण तथा इस प्रांत में अप्रांतीयता के कारण स्थान नहीं मिलता।" (निराला रचनावली, खण्ड-६, पृ० ४३१) हिन्दी भाषियों का एक प्रांत था ही नहीं। उनमें प्रान्तीयता का भाव कैसे पैदा होता ? सरकारी नीति का परिणाम यह था कि शिक्षा संस्थाओं और सरकारी सेवाओं में अहिंदी भाषियों की भरमार थी। सन् १९३०-४० के दशक के प्रारम्भिक दौर में लखनऊ विश्वविद्यालय के अनेक विभाग ऐसे थे जिनमें एक भी हिन्दी भाषी नहीं था। जातीयता का ही नाम प्रांतीयता है। राष्ट्रीय हितों के विपरीत जब लोग प्रांत के हितों को सर्वोपरि मानते थे, तब उनके प्रांतीयता की आलोचना की जाती थी। निराला ने स्पष्ट किया, "प्रांत-प्रेम बुरा नहीं है; प्रांतीय तथा

मातृभाषा पर गर्व होना भी स्वाभाविक है, पर प्रांत के नाम पर अन्य प्रांतवालों को एक पराया समझना और एक ही देश का होकर पहले प्रांत और फिर देश तथा पहले प्रांतीय भाषा. फिर देश-भाषा या राष्ट्रभाषा को स्थान देना अनुचित तथा निन्दनीय बात है, और जो लोग ऐसा दुर्भाव पनपा रहे हैं, वे अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मार रहे है। 'पहले बंगाल, फिर हिन्दोस्तान' की पुकार कुछ समय पूर्व बंगाल से बहुत सुनाई पड़ती थी। पर धीरे-धीरे बंगालियों ने इससे अपनी गहरी हानि समझ ली।" (उपर्युक्त, पृ० ४३१) यह प्रातीयता क्रिकेट जैसे खेलों को लेकर भी प्रदर्शित होती है। पिछले दिनों एक मैच में बंगाल के योग्य खिलाड़ी सौरभ गांगुली को न रखा गया। उस मैच में भारत ने पाकिस्तान को परास्त किया। पर इससे बहुत से बगाली बुद्धिजीवी प्रसन्न नहीं हुए। इस पर अखबारों में टीका-टिप्पणी भी हुई। यह रोग बहुत पुराना है। निराला ने सन् ३४ की उसी टिप्पणी में लिखा था—"किन्तु हम यह समझते थे कि यह एक नादान कल्पना है, जिसका श्रेय केवल गैर-ज़िम्मेदार लोगों के सिर है। किन्तु हाल ही में 'अमृत बाजार पत्रिका' ऐसे पत्र में एक नोट पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि 'परीक्षक' मैच में कोई भी ऐसा बंगाली खिलाड़ी न निकला, जो एम० सी० सी० नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश टीम से मुक़ाबला करने वाली अखिल भारतीय टीम के ग्यारह खिलाड़ियों में से एक बनाया जा सके। हमें भी इसका उतना ही खेद है। पर पत्रिका यहीं समाप्त नहीं होती। यह ताने के साथ इस बात पर छिपा हर्ष प्रकट करती है कि एम० सी० सी० ने उत्तरी भारत का जितना दौरा किया है, वह अन्य उत्तरी प्रांतों के खिलाड़ियों को बच्चों के समान हराती जा रही है।" (उपर्युक्त, पृ० ४३२)।

प्रांतीयता को सबसे बड़ी विकृति यह थी कि अपनी भाषा राष्ट्रभाषा न हो सके तो हिन्दी भी न हो, अंग्रेजी चलती रहे। इस तरह प्रांतीयता अंग्रेजी के समर्थन से जुड़ गयी थी। इस तरह की प्रांतीयता का उभार १९४७ ई० के बाद विशेष रूप से हुआ। इसलिए इस सम्बन्ध में निराला ने जो कुछ लिखा, वह अत्यन्त प्रासंगिक है। बगला पत्रिका "विचित्रा" में प्रकाशित सुशील कुमार बसु के लेख की आलोचना करते हुए, हिन्दी सारे देश में सबसे ज्यादा समझी जाने वाली भाषा है, इस बात पर जोर देने के बाद, निराला ने लिखा—"बंगला को यह सुविधा प्राप्त नहीं, अथवा कारणवश उसे यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी। इस स्थिति के लिए बंगाली खेद ज़रूर प्रकट कर सकते हैं। परन्तु और कोई उपाय न देखकर यदि वे यह कहें जैसा कि बसु महोदय कहते है कि हिन्दी के स्थान पर सारे देश में अंग्रेजी का व्यवहार होने से ज्यादा सुविधा होगी, तो

हम कहेंगे कि ऐसा प्रस्ताव उपस्थित करके वह अपनी जबर्दस्त मानसिक संकीर्णता का परिचय दे रहे हैं।" (निराला रचनावली, खण्ड-६ पृ० ४४६) राष्ट्रभाषा का अर्थ यह नहीं है कि उसके अलावा अन्य भाषाओं का व्यवहार बन्द हो जाएगा। निराला ने स्थिति बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की—"हिन्दी यदि राष्ट्रभाषा हो जाएगी, तो बंगालियों को इस बात का डर है कि बंगला भाषा का महत्त्व उससे कम हो जाएगा। परन्तु यह उनकी भूल है। हिन्दी के रहते हुए भी वे अपनी भाषा का महत्तम विकास कर सकते हैं। सभी प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है।" (उपर्युक्त) प्रांतीय भाषाओं अर्थात् जातीय भाषाओं का विकास यदि अंग्रेजी के राजभाषा रहते हुए हो सकता है, तो हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने पर भी हो सकता है। यहाँ निराला भारत में अनेक जातीय भाषाओं के अस्तित्व पर जोर देते हैं और उनके बोलने वालों में परस्पर सम्पर्क के लिए अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के व्यवहार की आवश्यकता बतलाते हैं। आगे उन्होंने लिखा—"परन्तु राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र के कार्य-संचालन के लिए देश को यदि एक भाषा के सूत्र में ग्रथित कर दिया जाए, और वह एक भाषा हिन्दी हो, तो इसमें उनका हर्ज क्या है? परन्तु हिन्दी के स्थान पर इन बंगालियों को जब हम अंग्रेजी का नाम लेते हुए सुनते हैं, तब हमें मजबूर होकर यही कहना पड़ता है कि ये लोग हर्बर्ट स्पेन्सर ने जिसे Bias of patriotism कहा है, उससे बुरी तरह ग्रस्त हो रहे है समय आ गया है कि अपनी इस प्रवृत्ति को बगाली अब त्याग दें।" (उपर्युक्त) कहने की अब आवश्यकता नहीं कि २०वी सदी के अन्तिम चरण में इस तरह की संकीर्णता बंगाल के बाहर बहुत से अन्य प्रदेशों में भी फैल गयी है। इसके लिए लोग हिन्दी प्रचारकों और हिन्दी भाषी जनता को दोष देते हैं परन्तु भारत में जो विदेशी पूँजी आ रही है, उसके लिए कौन उत्तरदायी है? विदेशी पूँजी के साथ यदि अंग्रेजी भाषा जुड़ी हुई है तो स्वाधीन भारत मे उसका व्यवहार बढ़ेगा, घटेगा नहीं और इसके लिए हिन्दी प्रचारक या हिन्दी भाषी जनता जिम्मेदार नहीं है।

अंग्रेजी के प्रभुत्व और बढ़ती हुई प्रातीयता का मुक़ाबला करने के लिए निराला ने हिन्दी भाषा और अपने प्रदेश पर ध्यान केन्द्रित किया। १८५७ के स्वाधीनता संग्राम को याद करते हुए उन्होंने लिखा—"यही के लोग, जो आठ-आठ रुपये की मासिक वृत्ति पर गुलामी करते हैं, जूता उठाने की आज्ञा देने वाले साहब के, अपने पैरों से पंचसेरी चमरौधा उतारकर, भयबाधा रहित हो दनादन-दनादन जड़ सकते हैं। चमड़े के कारतूस को दाँतों से काटने से इन्कार करने वाले धर्मजीवन यहीं के लोग सन् ५७ की ऐसी संगठित शक्ति की

करामात दिखाने का हौसला रख सकते हैं—वह संगठन कर सकते हैं, जितना बड़ा आज तक राजनीति के अन्धकार में उड़ने वालों से नहीं हो सका। यहीं के बीर क्षत्रियों को सम्मुख समर में प्राण तक बिसर्जन कर देने की शिक्षा मिली है, जो एक बार बिना हथियार के भी मोरचे पर अड़ सकते हैं—अरे! उनके बिना सिर के धड़ तक ने पूर्वावेश के कारण संग्राम किया, और यह सब यहीं के साहित्य, कला, शिल्प, संगीत और भास्कर्य की शिक्षा की बदौलत।" (निराला रचनावली, खंड-५, पृ० २६८) १८५७ के संग्राम का मुख्य क्षेत्र हिन्दी भाषी प्रदेश था। उस पर निराला ने सही ध्यान केन्द्रित किया है। मेरठ में जब विद्रोह शुरू हुआ तब अंग्रेजों के विवरण के अनुसार विद्रोही सैनिकों ने सबसे पहले शस्त्रागार पर हमला किया और चरबी लगे कारतूस लूटे। उनका उपयोग उन्होंने अंग्रेजों से लड़ने में किया। तुर्क आक्रमणकारियों का मुख्य विरोध यहाँ के लोगों ने किया, यह बात सही है। यह विरोध क्षत्रियों तक सीमित नहीं था। जनता के अनेक वर्णों ने उसमें भाग लिया। सिर के बिना धड़ लड़ते रहे, यह कवियों की अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना है परन्तु लोग वीरता से लड़े, इसमे जरा भी सन्देह नहीं है।

साहित्य सम्मेलन के फैजाबाद अधिवेशन मे धीरेन्द्र वर्मा ने संयुक्त प्रान्त का नाम बदलकर सूबा हिन्द रखने का प्रस्ताव किया। इसके पहले वह सभी हिन्दी प्रांतों को मिलाकर एक बड़ा प्रांत बनाने का विचार प्रस्तुत कर चुके थे। सम्मेलन में उन्होंने हिंदी भाषी प्रांतों के एकीकरण के लिए नहीं, केवल संयुक्त प्रांत का नाम बदलने के लिए प्रस्ताव पेश किया। अनेक विद्वान् इसे स्थगित करने के पक्ष में थे उनमें निराला भी थे। इसके लिए नरोत्तम नागर से साक्षात्कार में उन्होंने जो कारण बताये थे वे बहुत दिलचस्प हैं। "स्थगित होने की तरफ मैं भी था। क्योंकि इस प्रांत का नाम हिन्द हो जाए, यह विशेष विचारणीय बात नहीं। विचारणीय यह है कि फिर हिन्दी क्या हिन्द प्रांत की ही भाषा कही जाएगी? बिहार, सी पी, पंजाब, राजपूताना—पूरे-के-पूरे इसी भाषा के दायरे में आते है, लेकिन उनके प्रांत के साथ हिन्दी का वैसा सम्बन्ध नहीं, जैसा हिन्दी होने पर इस प्रांत का होगा। भिन्न प्रान्त वाले कुछ अन्यथा सोच सकते हैं। उनके साथ यह न्याय भी न होगा। हिन्दी पर उनका उतना ही अधिकार है, जितना इस प्रांत के लोगों का। फिर भी प्रांत का एक नाम होना चाहिए। अगर यह प्रस्ताव स्थगित कर दिया जाता तो इस पर भिन्न प्रांत वालों की सम्मतियाँ भी मालूम होतीं और तब तदनुकूल प्रांत का हिंद नाम रखते या दूसरा नामकरण करने की हमें सुविधा होती।' (निराला रचनावली, खण्ड-६ पृ० २०८) इस समय हिन्दी भाषी हरियाणा राज्य पंजाब

में था। इसलिए हिंदी भाषी प्रदेश में निराला ने, और दूसरे लोगों ने भी, पंजाब को हिन्दी प्रदेश में शामिल किया तो यह आश्चर्य की बात नहीं। वैसे भी पंजाबी भाषा हिन्दी से बहुत मिलती जुलती है। हरियाणा से अलग, शेष पंजाब में, हिन्दी का व्यवहार काफी बड़े पैमाने पर होता है। हिन्दी-उर्दू मूलतः एक ही भाषा है, इसलिए जहाँ उर्दू का व्यवहार होता है, उसे भी हिन्दी का व्यवहार ही समझना चाहिए। बात बोलचाल की है, लिखित भाषा की नहीं। निराला के सामने एक विशाल हिन्दी भाषी प्रदेश है, वहां की जातीय भाषा हिन्दी है। यह प्रदेश अनेक प्रांतों में बँटा हुआ है। इन प्रान्तों का हिन्दी पर उतना ही अधिकार है जितना संयुक्त प्रान्त का। इसलिए इस प्रान्त का नाम बदलने के पहले उनसे भी विचार-विनिमय करना उचित होगा। धीरेन्द्र वर्मा ने इनके एकीकरण की बात कही थी। सम्भव है, यह विचार भी सामने आता।

पल्लव की भूमिका में पंत ने लिखा था, कबित्त हिन्दी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है उसमें हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। हिन्दी प्रदेश में कबित्त का कितना व्यापक चलन है, इसे याद करते हुए निराला ने लिखा—"हिन्दी के प्रचलित छंदों में जिस छंद को एक विशाल भूभाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाये रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग-वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनन्द अनुभव करते हैं, जिसके समकक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी स्वयं समझें।" (निराला रचनावली, खण्ड-५ पृ० १७८) निराला यहाँ भी एक विशाल हिन्दी भाषी प्रदेश देखते हैं, उसकी लोकसंस्कृति पर ध्यान देते हैं, उससे कवित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ते हैं। हिन्दी जाति की अवधारणा की बुनियाद पर ही वह कवित्त को हिन्दी का जातीय छंद कहते हैं।

ऋग्वेद से ब्रजभाषा तक के भाषायी विकास को ह्रास मानते हुए 'मेरे गीत और कला' निबन्ध में निराला ने लिखा—"भाषा के उत्थान पतन पर विचार करते हुए मैंने देखा, वेदों से ब्रजभाषा तक भाषा के पतन का एक मनोहर इतिहास तैयार होता है। बदलती हुई भाषा क्रमशः सुखानुशयी होती गयी है।" (निराला रचना० खण्ड-५, पृ० ३९४) परन्तु इसी निबन्ध के अगले पैराग्राफ में उन्होंने इस भाषा-परिवर्तन को प्राकृत विकास मानते हुए ब्रजभाषा से खड़ी बोली के सम्बन्ध को पुष्ट किया। लिखा—"प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस

तरफ भी जाए—शक्ति-सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जाएगा कि प्राण शक्ति उस भाषा में है। ब्रजभाषा के सन्तों और त्यागी रहीम—जैसे वीरों का विचार पूर्वोक्त प्रकरण में नहीं किया गया; ब्रजभाषा को उस समय जो व्यापक राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ था,—अपर प्रादेशिक भाषाओं पर उसका प्रभाव पड़ा था, इसका भी नहीं कारण, वह विषय भिन्न था। यहाँ, जातीय साहित्य के प्राणों की चर्चा करते हुए, यह कहना पड़ता है कि ब्रजभाषा में भाषाजन्य जातीय जीवन था, जो बुद्ध के बाद के संस्कृत-कवि और दार्शनिकों में नहीं। इसलिए, यह निर्विवाद है कि ब्रजभाषा के बाद जो भाषा होगी, उसमें ब्रजभाषा के कुछ चिह्न जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर अवश्य होंगे। खड़ी बोली का उत्थान ब्रजभाषा के पश्चात् होता है। इसलिए ब्रजभाषा के कुछ जीवन-चिह्न उसमें रहने जरूरी हैं।" (निराला रचनावली, खंड-५, पृ० ३९५-९६) जातीय जीवन ब्रजभाषा के माध्यम से व्यक्त हुआ। किसका जातीय जीवन? स्पष्ट ही हिन्दी भाषी जनता का जातीय जीवन उसकी भाषा के माध्यम से व्यक्त हुआ। बुद्ध के बाद संस्कृत में विपुल साहित्य रचा गया। दार्शनिक कृतियां भी सामने आईं। परन्तु इन सबके लिए निराला कहते है—इनमें वह जातीय जीवन नहीं है जो ब्रजभाषा-साहित्य में है। ब्रजभाषा में हिन्दी की जो ध्वनि-प्रकृति दिखाई देती है, उसी के आधार पर उन्होंने कहा था कि 'श', 'ण' 'व' ब्रजभाषा के जीवन के अनुरूप नहीं, खड़ी बोली के जीवन में भी उनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। (उपर्युक्त पृ० ३९७)।

पुराने ब्रजभाषा-साहित्य से संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध था। **रवीन्द्र कविता कानन** में निराला ने लिखा—"हिन्दी साहित्य में जिन प्रसिद्ध कवियों ने घनाक्षरी, सवैया, दोहा, सोरठा और चौपाई आदि अनेकानेक छंदों की सृष्टि की है, बहुत सम्भव है, सभास्थल में वे सस्वर उन्हें गाते भी रहे हों।" (निराला रचनावली, खण्ड-५, पृ० १०६) इन छंदों के अलावा उन्होंने पदों की रचना भी की है और उनके साथ रागों के नाम लिखे रहते हैं। इसी पृष्ठ पर निराला ने सूरदास का उल्लेख किया है—"सूरदास जैसे सुगायक सिद्ध महाकवि भी हिन्दी में हो गए हैं।" निराला यह भी मानते हैं कि इन्हीं से उत्तराधिकार में कविता गाकर पढ़ने का चलन हमें प्राप्त हुआ है, पर वह इस बात पर जोर देते हैं कि संगीत अलग कला है, और काव्य अलग कला है। इनका निष्कर्ष यह है—कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव, उसकी अर्थ-व्यंजना के लिए भावपूर्वक साधारणतया पढ़ना भी ठीक है।" (उपर्युक्त) यदि

गाते समय भावात्मक शब्दों की ध्वनि का पूरी तरह ध्यान रखा जाए, तो पुराने रागों में आधुनिक हिन्दी के गीत गाना अनुचित न होगा। वास्तव में निराला खयाल गायकी के प्रभाव से हिन्दी गीत को बचाना चाहते थे। ध्रुपद की गायकी दूसरी तरह की थी, वह उन्हें पसन्द थी। इसी निबन्ध में उन्होंने यूरोप के आलोचकों की इस धारणा का खण्डन किया है कि भारतीय संगीत में स्त्रीत्व की प्रधानता है। उन्होंने लिखा—"हमारे यहाँ भैरव, मालकोस, दीपक आदि रागों के जैसे स्वरूप चित्रित किए गये हैं, उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकेगा कि इनमें स्त्रीत्व है। भैरव में तो पुरुषत्व का विकास इतना अधिक करके दिखलाया गया है कि संसार में उस तरह का मस्त और दुनिया को तुच्छ समझने वाला पुरुष संसार की किसी भी जाति में न रहा होगा। भैरव-राग के अलापने पर वैसा ही भाव हृदय में पैदा हो जाता है। हमारे यहाँ ध्रुपद-धम्मार आदि तालों में स्त्रीत्व का तो कहीं निशान भी नहीं है। इनमें गाते समय गवैये को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं ध्रुपद गाते हुए स्वर में कंपन न हो जाए—यानी आवाज सदा भरी हुई और सीधी निकलती रहे, उसके कांपने से स्त्रीत्व के आ जाने का भय है। जो लोग इसका निर्वाह नहीं कर सकते, वे चूकते हैं। हमारे यहां मृदंग के बोल भी पुरुषत्व के उद्दीपक हैं। जब से राग-रागिनियों की खिचड़ी पकी, गजल-युग आया तब से संगीत मे स्त्रीत्व का प्रभाव बढ़ा है।" (उपर्युक्त पृ० १०८) भाषा और साहित्य के साथ निराला अपने प्रदेश के संगीत के इतिहास पर भी ध्यान देते है। सामन्ती व्यवस्था के ह्रासकाल में अलंकारप्रियता बढ़ी, तान मुरकी का जोड़ बढ़ा। ध्रुपद की गायकी इससे अलग तरह की थी। आवाज सदा भरी हुई और सीधी निकलती रहे, निराला के गायन-कौशल का इससे अच्छा वर्णन नहीं हो सकता। वे ध्रुपद के ढंग से ही अपने गीत गाते थे और उनका गायन अत्यन्त प्रभावशाली होता था। खयाल गायकी के प्रेमी जब उनके गीत तान मुरकी के साथ गाते थे, तब वे उनका शब्द-सौन्दर्य नष्ट कर देते थे और निराला का इस पर ऐतराज करना एकदम जायज़ था। अंग्रेजी के मुक़ाबले जैसे निराला हिन्दी भाषा और साहित्य का समर्थन कर रहे थे, वैसे ही उन्होंने जातीय संगीत का समर्थन करके हिन्दुस्तानी संगीत की पाश्चात्य आलोचना का जवाब दिया। भैरव जैसा पुरुषत्व किसी भी जाति में न रहा होगा—अर्थात् हर जाति का अपना संगीत होता है। जैसे जातीय साहित्य, वैसे ही जातीय संगीत। भैरव राग जैसी शक्तिमत्ता हिन्दी संगीत में है। इससे पहले उन्होंने अपने निबन्ध में दिलीपकुमार राय का यह कथन उद्धृत किया है,—"हिन्दी संगीत बँगला-संगीत से बहुत ऊँचा है, बंगालियों को अभी बहुत काल तक हिन्दी भाषी गवैयों के

चरणों पर बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी होगी।" (उपर्युक्त, पृ० १०७) यहाँ हिन्दी संगीत हिन्दीभाषा का संगीत नहीं है, हिन्दी भाषी जाति का संगीत है। उसी तरह बांग्ला संगीत बांग्ला भाषा का संगीत नहीं है, वरन् बांग्ला भाषा बोलने वाली जाति का संगीत है।

निराला ने बंगालियों की प्रान्तीयता की आलोचना की पर वह बंगाल के नवजागरण की उपलब्धियों का मूल्य खूब पहचानते थे। उससे सीखकर हिन्दी जनता की सांस्कृतिक उन्नति के लिये उन्होंने निरंतर प्रयास किया। 'साहित्य का विकास' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने बंगला साहित्य के उत्कर्ष की मुख्य बात यह बताई कि "बंगालियों ने ज्ञान को ही अपने साहित्यिक उत्थान का मूल माना।" (उपर्युक्त पृ० ४९१) ज्ञान का अर्थ यहाँ केवल वेदांत नहीं है। जहाँ भी कोई अच्छी चीज मिले उसे स्वीकार करना ज्ञान हुआ। उदाहरण देते हैं—"माइकेल मधुसूदन दत्त पश्चिमी कई भाषाओं के जानकार थे। 'मेघनाद वध' में उन्होंने पश्चिमी कला का अमित्र छद में प्रदर्शन किया।" (उपर्युक्त पृ० ४९१) गिरीशचन्द्र घोष ने ऊँचे-ऊँचे वेदान्ततत्वों को अपने स्वच्छन्द छन्द वाले नाटकों में जगह दी।" (उपर्युक्त) यहाँ वेदान्त के प्राचीन तत्व हैं, उनके साथ नया मुक्त छन्द भी है। इन्हीं से निराला को मुक्त छन्द रचने की प्रेरणा मिली थी। "एक दूसरे नाटककार के बारे में उन्होंने लिखा—द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के मुसलमान पात्रों को द्वेषपूर्ण विजातीय दृष्टि से नही देखा। उन्हें जो जैसा समझ पड़ा, सत्य को दृढ़ पकड़े हुए उसका वैसा ही चित्रण किया।" (उपर्युक्त) राजा राममोहन राय ने "ब्रह्म समाज" की स्थापना की थी। रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ने उसका प्रसार किया। विदेश यात्रा के कारण जो लोग हिन्दू समाज से निकाले गए थे या ईसाई मिशनरियों के प्रचार से अपना धर्म छोड़ रहे थे वे सब ब्रह्म समाज में दाखिल हुए। ब्रह्म समाज ने स्त्रियों की शिक्षा और स्वाधीनता पर खास तौर से जोर दिया। निराला ने लिखा—"इस प्रवर्तन से बंगाल के साहित्य की सहस्रों गुणा शक्ति बढ़ गयी। जहां स्त्रियों का घर के भीतर ही स्थान था, वहाँ वे बाहर भी पुरुषों के साथ बराबर अधिकार प्राप्त करने लगीं, लिख-पढ़कर उनकी हर काम में सहायता करने लगीं।" (उपर्युक्त) बंकिमचन्द्र और शरच्चन्द्र के साहित्य में भी स्त्रियों को ऊँचा स्थान दिया गया। रवीन्द्रनाथ ने इसी चहुँमुखी विकास को आगे बढ़ाया। "भावना के भीतर से ५२ अनेकानेक चित्रणों को विराट् सत्य में पर्यवसित करने लगे। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई वाला सवाल ही न रहा।" (उपर्युक्त पृ० ४९२) इसके मुकाबले "हमारी हिन्दी में अभी छन्दों के ह्रस्व-दीर्घ की मात्राएँ गिनी जा रही हैं। भारतीयता, शालीनता और 'पन' के

विचार से साहित्यिकों को फुरसत नहीं मिल रही।" (उपर्युक्त) साहित्य-कारों को नई दिशा में बढ़ना है, इसके लिए उनका आह्वान करते हुए निराला ने लिखा—"हमारी हिन्दी को ऐसी ही भावना से युक्त साहित्यिकों की आवश्यकता है। सत्य की रक्षा के लिए साहित्यिक अपने प्राणों का बलिदान कर दें। सत्य वही है, जो मनुष्यमात्र में है। ज्ञान में हिन्दू, मुसलमान नहीं। विस्तार ही जीवन है। फैलकर अपनी प्रतिभा, कर्म, अध्ययन, उदारता से समस्त ब्रह्माण्ड को अपनाना चाहिए। साहित्यिक उत्कर्ष और मुक्ति का यही मार्ग है। हिन्दी में बहुत करना है, बहुत पड़ा है, बहुत पीछे हैं हम।" (उपर्युक्त) विस्तार ही जीवन है, इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी प्रदेश का अस्तित्व नहीं है, हिन्दी भाषा और साहित्य का अस्तित्व नहीं है। हिन्दी में बहुत करना है, बहुत पड़ा है, बहुत पीछे हैं हम, इस वाक्य से निराला हिन्दी साहित्यकारों को उनके कर्तव्य के प्रति सचेत करते हैं। अन्य टिप्पणी में उन्होंने हिन्दी लेखकों से अपने मन की संकीर्णताएँ दूर करने के लिए कहा—"हमारे अन्दर प्राय: इस तरह की संकीर्णताएँ घर किए हुए हैं कि हम अपने आचरणों से दूसरे को किंचिन्मात्र भी पृथक् देखकर चौंक उठते हैं, उसकी ओर से हमें घृणा हो जाती है। यह हमारी ही कमजोरी है।" (उपर्युक्त पृ० ४९३)

'साहित्य और जनता' टिप्पणी में उन्होंने जनता में फैले हुए अन्धविश्वासों को लक्ष्य करके लिखा—"हमें अच्छी तरह मालूम है, हमारे निन्नानबे फीसदी साहित्यिकों को और सौ फीसदी जनता को भगवान श्री रामचन्द्र पर, उनके जन्म कर्मादि पर पूरा-पूरा विश्वास है अत: आज यदि राम के विरोध में कोई प्रासंगिक बात भी कही जाए, तो जनता उसे सुनने को तैयार नहीं; साहित्यिकों में केवल सुनने का धैर्य है, मत बदलने की शक्ति नहीं। यह अवश्य ही युगों की संचित साहित्य शक्ति का ही दौर्बल्य है।" (उप० पृ० ४९६) जो साहित्यकार इस सांस्कृतिक परिवेश को बदलने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें भयानक विरोध का सामना करना पड़ता है। ऐसा विरोध अंग्रेज कवियों का हुआ और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भी हुआ। निराला कहते हैं,—"अंग्रेजी-साहित्य में क्राइस्ट-विचार वाली जो खास धारा प्रचलित थी, युगप्रवर्तन को उसके समय सबसे बड़ा धक्का लगा, इसलिए उस काल के वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, आदि कविगण अपने समय में ही जनता द्वारा समादृत नहीं हुए।' (उपर्युक्त पृ० ४९७) फिर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में कहते हैं—"अंग्रेज, मुसलमान, पारसी और जैन, हिन्दू तथा अन्यान्य जनों को अपने-अपने समूह में रहकर दूसरे के प्रति द्वेष पैदा करते हुए देखकर प्राचीन काल से बहती आती हुई विश्व-धारा में जिन रवीन्द्रनाथ ने आत्ममज्जन किया, उनका भी समादर उनकी भाषा वाली जनता ने पहले नहीं

किया, और उनके विश्वजनीन भावों का समर्थन पूर्णतः आज भी नहीं कर रही है। (उपर्युक्त)

हिन्दी प्रदेश का सांस्कृतिक परिदृश्य बदलेगा, निराला को विश्वास था। हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के प्रति उन्हें दृढ़ विश्वास था। इस टिप्पणी के अन्त में उन्होंने लिखा—"हमारे साहित्य की हीनता का मुख्य कारण यही है कि हम अपनी हीनता को प्रश्रय देकर उत्कर्ष समझ बैठे हैं, अपने अज्ञान को ज्ञानाडम्बर कर रखा है। आज जिस युग-साहित्य की दृष्टि में मनुष्यमात्र के समान अधिकार हैं, वह पुरुष हो या स्त्री, उसका जनता में प्रचार रोकना उसकी सूक्ष्मतम व्याख्या न समझकर उसके अस्तित्व को ही न स्वीकार करना हिन्दी की इस हीन दशा का एक अत्यन्त पुष्ट स्थूल प्रमाण है। पर, हमें विश्वास है कि साहित्य की महाप्राणता, जो जनता को ज्ञान के भीतर से बहा ले गयी है, एक दिन अपनी शक्ति का परिचय देगी।" (उपर्युक्त)

महाप्राण निराला विरचित "तुलसीदास"

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

कविवर निराला की काव्यकृतियों में "**तुलसीदास**" शीर्षक साहित्यिक कृति महाकवि तुलसीदास के जीवन की एक लोकविश्रुत जनश्रुति पर आधारित घटना को केन्द्र में रखकर लिखी गई है। तुलसी के युग की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का इस काव्य में निराला ने बड़े क्षोभ और अमर्ष के साथ चित्रण किया है। काव्य का प्रारंभ तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक ह्रास पर प्रकाश डालने वाला है। मुग़ल सम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी और इस्लाम के प्रभाव में भारत की परम्परागत मान्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट हो रहीं थीं। कवि ने उन समस्त परिवर्तनों को दृष्टि में रखकर तुलसी के अवतरण को एक विशिष्ट परिदृश्य में अंकित किया है। तुलसीदास के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाली दो-तीन बातों का भी इसमें वर्णन है। तुलसीदास का प्रथम अध्ययन, कुसंस्कारों का उदय, प्रकृति वर्णन और तज्जन्य जड़-चेतन की जिज्ञासा, पत्नी रत्नावली के प्रति मोहाकर्षण, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, पत्नी की भर्त्सना से ज्ञानोदय तथा मानस उद्वेलन पर विजय प्राप्ति आदि विषयों को मनोवैज्ञानिक स्तर पर इस काव्य में स्थान मिला है। इस काव्य में कुछ स्थल रहस्यवादी शैली में भी हैं किन्तु अलौकिकता के घटाघोप में भी अस्पष्ट या निगूढ़ नहीं हैं।

"तुलसीदास" की रचना में निराला की काव्य प्रतिभा का नैसर्गिक रूप लक्षित नहीं होता, यह एक सायास शब्दाडम्बर प्रधान रचना है। इसमें मुस्लिम आक्रान्ताओं के प्रति रोष व्यक्त किया गया है; तत्कालीन देश दशा पर भी प्रकाश डाला गया है। तुलसीदास का जन्म परम्परागत भारतीय संस्कृति के ह्रास के युग में हुआ था। इस सांस्कृतिक ह्रास की पृष्ठभूमि में तुलसी की कथा को रखकर निराला ने अपनी तत्कालीन मानसिकता को काव्य में स्थान दिया है। कवि का मन आहत है, हिन्दू मुगलों के आक्रमण से पराजित होकर अपमानित जीवन व्यतीत कर रहे है। उन्हें लगता है कि हिन्दू सभ्यता का सूर्य अस्त हो गया है और मुस्लिम संस्कृति का चन्द्रमा उदित होकर अपनी छटा दिखा रहा है। निराला जी ने इस मनः स्थिति को तुलसीदास के मन में रखकर उनके मन में चित्रकूट की रम्यस्थली में भ्रमण करने की आकांक्षा भर दी है।

काव्य का प्रथम छन्द हिन्दू संस्कृति के ह्रास का वर्णन प्रस्तुत करके भारतीय संस्कृति की संध्या की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करने वाला है। इसके बाद भारत के उन प्रदेशों का वर्णन है जो मुगल आक्रमण से पदाक्रान्त होकर अपना तेज, शौर्य और पराक्रम तथा वर्चस्व खो चुके थे। उन प्रदेशों में पंजाब, कौशल, बिहार, बुन्देलखण्ड, कालिंजर आदि का नामोल्लेख करके वर्णन किया गया है। इसके साथ ही राजपूत जैसी जाति का भी नामोल्लेख करके कहा गया है कि—

"भारत के उर के राजपूत,
उड़ गये आज वे देवदूत,
जो रहे शेष, नृपवेश सूत बंदी गण।"

बुन्देलों के विषय में कहा गया है कि जो बुन्देले शत्रु पर वैसे ही आक्रमण करते थे जैसे अन्धकार पर सूर्य करता है, किन्तु अब वे निस्तेज हो गये हैं। उस समय भारतीय वीर वैसे ही यंत्रणा पा रहे थे जैसे प्राण शक्ति की मदिरा पीकर असुरों ने दैहिक यातना भोगी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम ने भारत पर विजय पाई और देश का जीवन विदेशी इस्लामी संस्कृति के अनुरूप ढलने लगा। व्यक्ति और समाज सभी यवन सभ्यता के कुचक्र में फँस गये। कवि ने इसी संदर्भ में इस्लामी सभ्यता के मोह का चित्रण किया है। वर्षा के बाद जैसे शरद ऋतु आती है तथा ताप को शांत करने वाली हवा आती है वैसे ही भारतीय संस्कृति के सूर्य के अस्त होने पर मुस्लिम संस्कृति के चन्द्रमा का उदय होता है। इस परिस्थिति का वर्णन करने के बाद तुलसीदास की परिवर्तित मनोदशा का वर्णन किया गया है उसमें बताया गया है कि उनके मन मे चित्रकूट यात्रा का विचार आया—

"एक दिन सखागण संग, पास,
चल चित्रकूट गिरि, सहोच्छ्वास,
देखा पावन बन, नव प्रकाश मन आया,
वह भाषा छिपती छवि सुन्दर,
कुछ खुलती आभा में रँग कर,
वह भाव कुरल-कुहरे सा भर कर भाया।

चित्रकूट जाने की इच्छा का विचार उन्होंने अपने मित्रों के समक्ष प्रस्तुत किया और चित्रकूट की प्राकृतिक छटा के दर्शन की लालसा सबके मन में जाग्रत हो गई। प्रकृति चित्र को लक्ष्य करके उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन का चित्र भी इसी संदर्भ में प्रस्तुत किया है। प्रकृति को देखकर कवि कहता है कि देश की सांस्कृतिक चेतना लुप्त हो गयी है और हताश होकर

मन का भार वहन कर रही है। ज्ञान के अभाव में सारा देश जड़ हो गया है। ज्ञान की आवश्यकता है, भोग विलास और ऐन्द्रिय विलासिता के प्रवाह में सत्य की शाश्वत ज्योति विलुप्त हो गयी है। चारों तरफ के वातावरण को देखकर कवि का मन ऊर्ध्वगामी हो जाता है। भारत की संस्कृति का जो रूप उस समय था वह एक विकृत रूप था और इस विकृत रूप से ही तुलसी के मन में यह भावना आती है कि सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है और उसको फिर से निर्मित करना होगा—

> **"करना होगा यह तिमिर पार,**
> **देखना सत्य का मिहिर द्वार,**
> **बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय।"**

प्राकृतिक परिदृश्य से अपने मन के ऊर्ध्वगमन को कवि ने यहां पहचाना और ऊर्ध्वगामी मन की क्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। तुलसीदास का मन जो अपनी पार्थिवता में चित्रकूट में था, ध्यान में लीन होकर ऊपर की ओर उठने लगा। जैसे-जैसे वह ऊपर ही ऊपर उठता जाता है और सजे हुए संस्कारों की सतहों को पार करता जाता है वैसे-वैसे ही एक रंग भरता है। वैसे ही दूसरे संस्कारों की तरंग ऊपर उठती है जैसे कि सूर्योदय के समय में सूर्य की आभा आकाश में ऊपर उठती है वैसे ही तुलसीदास का मन इस अन्धकार को पार करके ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इसके बाद निराला भारतीय सफलता का चित्र तुलसीदास के माध्यम से वर्णित करते हैं और उस समय जिस रूप में भारतीय संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी उसका भी विस्तार से वर्णन करते हैं। पूजा जो मुक्ति के लिए होनी चाहिए; पार्थिव इच्छाओं की पूर्ति के लिए की जाने लगी, वह मनुष्य को मुक्ति की ओर न ले जाकर पतन का कारण बन गई थी। उसके आगे रहस्यवादी शैली में उन्होंने कुछ चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। भारतीय समाज का आदि संगठन क्रम नष्ट हो गया था। इसलिए इस नई शक्ति को उन पर विजय पाने में सुगमता हुई। उन्होंने यहां पर स्पष्ट किया है कि क्षत्रिय समाज की रक्षा करने में असमर्थ थे। उनमें जोश पराक्रम और धर्म विशेष नहीं था, गर्व की मात्रा ही विशेष थी। पर्णकुटी में रहने वाले साधारण लोग कुचले हुए थे; निम्न जाति के लोगों का वर्णन करते हुए उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "जिन्दगी को पार करने के बहुत थोड़े साधन शूद्रों के पास थे। प्रत्येक हृदय में पेट भरने की आशा आकांक्षा तो थी पर साधन उपलब्ध नहीं थे—

> **"चलते-फिरते, पर निःसहाय,**
> **वे दीन, क्षीण कंकालकाय,**

आशा केवल जीवनोपाय उर-उर में
रण के अश्वों से शस्य सकल,
दलमल जाते ज्यों, दल से दल
शूद्रगण क्षुद्र जीवन-संबल, पुर-पुर में ।"

भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चित्र का वर्णन करके कवि ने वर्णाश्रम के लक्षण की लालसा भी व्यक्त की है और द्विज वर्ग को भी उन्होंने क्षमा नहीं किया है—

"रक्खा उन पर गुरु-भार विषम,
जो पहला पद, अब मद विष-सम,
द्विज लोगों पर इस्लाम-क्षम वह छाया
जो देशकाल को आवृत कर,
फैली है सूक्ष्म मनोनभ पर,
देखी कवि ने, समझा अब वर क्या माया ।"

इस चिन्तन मुद्रा में डूबे हुए तुलसीदास को यह आभास हुआ कि इस पराधीनता से मुक्ति के लिए कुछ उपाय करना होगा । इस्लाम की छाया जो भारतीय संस्कृति को ढके हुए है, वास्तविक छाया नहीं है, हवा की तरह बहने वाली अदृश्य इस छाया के ऊपर किरणों का घर है अर्थात् सत्य का आलोक इस छाया से परे है । वह सत्य का घर सूर्य की किरणों के संस्पर्श से जीवित है। इस संदर्भ में कवि ने रामचरितमानस और उसके नायक रामचन्द्र की ओर भी इंगित किया है । रामचन्द्र सूर्यवंशी थे और किरणों का घर सूर्यवश के पास है। ससार में माया का घना अन्धकार छाया रहता है किन्तु सत्य का द्वार सूर्य की आभा से ही प्रकाशित होता है । कवि ने इसी सन्दर्भ में आध्यात्मिक सन्दर्भ को जोड़ दिया है । तुलसीदास के प्राणों में इस्लाम की छाया से युद्ध करने की प्रेरणा उत्पन्न हुई है । उन्हें लगा कि ज्ञान को जीवित करके माया से युद्ध करना चाहिए और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए उनका मन लालायित ही नहीं प्रयत्नशील भी हो उठा था । इतना होने पर उन्हें लगा कि शायद इस माया से मुक्ति मिलेगी किन्तु इसी बीच उनकी पत्नी रत्नावली की मूर्ति उनके मार्ग में विघ्न बनकर उपस्थित हो गई—

"उस क्षण, उस छाया के ऊपर,
नभ-तम की सी तारिका सुघर,
आ पड़ी दृष्टि में, जीवन पर, सुन्दरतम,
प्रेयसी, प्राणसंगिनी, नाम,
शुभ रत्नावली-सरोज-दाम,
बामा, इस पद पर हुई वाम सरिन्नोपम ।"

अपनी प्रिया रत्नावली की रूप छवि में ध्यानमग्न होकर तुलसीदास बैठ गये। उस रूप छवि का वर्णन निरालाजी ने बड़ी अलंकृत भाषा में किया है—

प्रेयसी के अलक नील, व्योम,
दृग पल कलंक, मुख मंजु सोम,
निःसृत प्रकाश जो, तरुण क्षौम प्रिय तन पर,
पुलकित प्रतिपल मानस-चकोर,
देखता भूल दिक् उसी ओर,
कुल इच्छाओं का वही छोर जीवन भर।"

रत्नावली ही उनके लिए समस्त सृष्टि का रहस्य बन गई उसका सौंदर्य पार्थिव नहीं रहा। यह वही सौन्दर्य है जिसके प्रकाश से सौर जगत अस्त होते हुए भी सत्य प्रतीत होता है। इस प्रकार तुलसी का सारा ज्ञान नारी मोह में ही पर्यवसित हो जाता है और तुलसी इस बन्धन को मोहवश मुक्ति का मार्ग मान बैठते हैं—

"बंध के बिना, कह, कहाँ प्रगति,
गतिहीन जीव को कहां सुरति ?
रति-रहित कहाँ सुख ?
केवल क्षति केवल क्षति।"

इस बन्धन को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिए कवि ने फूल का उदाहरण देकर बन्ध की महिमा का वर्णन किया है—

"जिस तरह गंध में बँधा फूल,
फैलता दूर तक भी समूल,
अप्रतिम प्रिया से, त्यों दुकूल-प्रतिमा में
मैं बँधा एक शुचि आलिंगन,
आकृति में निराकार चुम्बन,
युक्त भी मुक्त यों; आजीवन लघिमा में।"

जिस प्रकार मिट्टी से अनेक रंगों के फूल निकलते हैं वैसे ही रत्नावली के मन से तुलसीदास के मन में नये-नये भाव जन्म लेते हैं। सूर्य की किरणों से जैसे बादल की कांति है वैसे ही रत्नावली के नैनों की ज्योति से तुलसीदास का मन अनेक रंगीन भावनाओं से भरकर चमक उठा। इसी बीच एक दिन रत्नावली का भाई उसे लेने आया और उसने अपनी बहन को देखकर कहा कि तू किस चिन्ता में इतनी दुर्बल हो रही है। मां-बाप, भाभियाँ तथा पड़ोस की नारियां तुझे जल्दी देखने के लिए तत्पर हो रही हैं और ताने मारकर कहती हैं कि तुझे तेरे मां बाप ने वर के हाथ बेच दिया है। जिनके विवाह तेरे बाद हुए

थे वे तो कई बार नैहर जा चुकी हैं। क्या तू नैहर नहीं आ सकती ? माँ ने भी संदेश भेजा और उसके बापू ने भी कहलवाया कि मैं तो नदी किनारे का वृक्ष हूं किसी भी दिन जा सकता हूँ। भाभी ने भी रत्नावली को बुलाने का संदेश दिया और उसके बाद भी उसकी मां ने करुणार्द्र होकर बहुत विलाप किया। रत्नावली के भाई ने उसको घर चलने के लिए समझाया और कहा कि तुलसीदास के चित्रकूट से लौटने के पहले ही चल देना चाहिए। इस प्रसंग को निराला ने आठ-दस छन्दों में विस्तारपूर्वक लिखा है।

तुलसीदास के मन में रत्नावली के प्रति जो आसक्ति और प्रेम था वैसा भाव रत्नावली के मन का स्थायी भाव नहीं था। तुलसीदास रत्नावली के घर पहुँचे तो प्रियतम को देख रत्नावली के मन में मोह उमड़ रहा था। पति की तरह वह मोह में नहीं डूबी थी अतः वह स्नेह जो अब तक तुलसीदास के प्रति था वह दूसरी ओर बह रहा था। कवि ने इस स्थल पर रत्नावली का चित्र बहुत सुन्दर शब्दों में अंकित किया है—

"बिखरी छूटी शफरी-अलकें,
निष्पात नयन-नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता,
निःसम्बल केवल ध्यान-मग्न,
जागी योगिनी अरूप-लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरुपमिता।"

रत्नावली अपने शब्दों में जीवन भर कर ऐसे बोली जैसे बिजली चमकी हो किन्तु उस बिजली की चमक स्थिर हो, जैसे जल पर लक्ष्मी जागी हो अथवा सरस्वती ही चंचल हो उठी हो और पति को प्रबोधते हुए उसने कहा :—

"धिक धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ-कुल धर्म धूत
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए,
हो बिके जहां तुम बिना दाम
वह नहीं और कुछ—हाड़ चाम,
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए।"

इस कशाघात वाणी को सुनकर तुलसीदास के मन में अपना प्रबल संस्कार जाग उठा और वासना का जो ज्वार उठा था वह सहसा समाप्त हो गया। उन्हें लगा कि रत्नावली सामान्य नारी नहीं वरन् अनल प्रतिमा है और चारों तरफ ज्ञान की ज्योति से उनका मन भर गया; मन के अन्दर जो प्रथम आसक्ति का विचार आया था वह जड़िमा बनकर समाप्त हो गया, नील वसना

शारदा सामने खड़ी हो गयी थी और उन्होंने अपने को ऊपर उठता हुआ देखा। उन्हें लगा कि पूर्व का पर्वत ज्योति का झरना बह रहा है अर्थात् ज्ञान का उदय हो गया है। जड़ और चेतन का भयंकर संग्राम फिर शुरू हो गया। एक ओर ईश्वर की जय और दूसरी ओर माया करने वाले दैत्य हैं, अर्थात् दो संस्कृतियों के संघर्ष का संकेत है। उन्हें लगा कि राग-द्वेष, छल-कपट आदि की जो रागिनियाँ बहती थीं और समाज को निर्जीव किए हुए थीं वे अब सोएंगी। संसार की जो वीणा अज्ञान के अंधकार में छिपी हुई थी उससे अब नये वसंत के नए-नए स्वर निकलेंगे। इसी समय तुलसीदास के सामने खड़ी रत्नावली की आँखों में जल भरा देख उन्हें लगा कि जैसे वह विश्व संगीत की निरुपम सौन्दर्य वाली प्रतिमा हो। तब अपनी पत्नी से उन्होंने कहा-

"जगमग जीवन का अन्त्य भाष,
जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर,
देखूंगा नहीं कभी फिर कर,
लेता मैं, जो वर जीवन-भर बहने का।"

तुलसीदास ने जो स्वतःस्फूर्त वर लिया था उसे लेने के बाद रत्नावली की सुन्दर मूर्ति पत्नी रूप में नहीं वरन् विश्व को आश्रय देने वाली गौरवमयी मूर्ति के रूप में दिखाई देने लगी। उन्हें लगा कि कमलों को खोलकर सरस्वती और लक्ष्मी जल पर तिर रही हैं उसी का प्रकाश जैसे सूर्य की सुन्दर रेखा के रूप में पूर्व दिशा में फैल रहा है।

"तुलसीदास" काव्य को आद्योपान्त पढ़ लेने के बाद पाठक के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस काव्य का मूल प्रतिपाद्य क्या है? कवि इसके द्वारा क्या संदेश देना चाहता है? यहां कवि ने तुलसी के जीवन की एक घटना को केन्द्र में रखकर तत्कालीन हिन्दू जाति का जो चित्र अंकित किया है वह भी कवि का अभीष्ट रहा है। कवि ने हिन्दू जाति के असहाय होने में शौर्य और पराक्रम का गर्व करने वाली उन जातियों की नामोल्लेखपूर्वक भर्त्सना की है जो अपना पौरुष खोकर निम्नवत् आचरण कर रही थीं। हिन्दुओं का यह कैवल्य उस युग में तो था ही, निराला ने इसे ब्रिटिश शासन काल में भी प्रच्छन्न रूप में स्वीकार कर तुलसीदास के ब्याज से उद्‌बोधन के रूप में ग्रहण किया है।

संक्षेप में, छायावादी काव्य परम्परा में "तुलसीदास" लीक से हटकर एक अभिनव प्रयोग है। निराला के भाव जगत में तुलसी के लिए श्रद्धा-सम्मान

का भाव तो है किन्तु युगीन परिस्थितियों में तुलसी किसी संघर्ष के लिए तत्पर नहीं हैं। उनके जीवन में रत्नावली की प्रताड़ना से जो मायावी बंधन टूटे हैं उन्हीं का वर्णन कवि निराला ने किया है। कवि ने चित्रकूट की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए अपने आध्यात्मिक चिन्तन को भी उसमें समाहित कर लिया है। निराला के अध्यात्म पक्ष की झाँकी भी इस खंड-काव्य में स्फुलिंग के रूप में उभरती है। निराला के लिए प्रकृति प्रेरणामयी है। प्रकृति के वर्णन में तत्कालीन समाज का निरूपण भी कवि ने बड़ी सौष्ठवगुम्फित शैली में किया है। हिन्दू संस्कृति के जीर्णोद्धार के लिए तुलसी के मन में एक प्रकार का भावोद्वेलन उत्पन्न कर निराला ने अपनी मनोकामना को ही स्थान दिया है। काव्य के प्रतिपाद्य विषयों में इसे भी स्थान मिलना चाहिए। "तुलसीदास" अपने युग की एक विशिष्ट रचना है जिसमें छायावादी अभि-व्यंजना सौष्ठव के साथ युगीन परिदृश्य को तुलसीदास के युग के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है।

"तुलसीदास" एक प्रबधात्मक रचना है। काव्य विधा की दृष्टि से इसे खण्ड-काव्य कहा जा सकता है। मूल घटना तो एक ही है—अपनी पत्नी रत्नावली के प्रति आकर्षण और उसके द्वारा कठोर शब्दों में प्रताड़ित होकर तुलसी का ज्ञानोन्मुख हो जाना। इस छोटी सी घटना को हम काव्य का मेरुदंड मान सकते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है कि निराला ने इस काव्य को तुलसीदास के सममामयिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर लिखा है। इस्लाम धर्म के घातक प्रहारों से पीड़ित हिन्दू जाति अपने वर्चस्व को खो बैठती है और सांस्कृतिक ह्रास का प्रभाव उसके जीवन पर लक्षित होने लगता है। इस प्रभाव को निराला ने प्रकृति के माध्यम से पूरी तरह व्यक्त करने का प्रयास किया। प्रकृति जड़ है किन्तु उसकी जड़ता में व्याप्त जो सौन्दर्यमूलक उद्बोध है उसका रहस्यमयी भाषा में कवि ने वर्णन किया है। चित्रकूट का वर्णन प्रसंग इसी प्रकार का है जो कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु निराला के प्रकृति प्रेम तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर अच्छा प्रकाश डालता है।

"तुलसीदास" में सामाजिक संदर्भ नहीं, केवल एक संदर्भ को हम पारिवारिक स्तर पर सामाजिक कह सकते हैं। यह सदर्भ रत्नावली के भाई का उसके पास जाना और अपने घर-परिवार के लोगों की स्थिति का वर्णन है। माता-पिता का वात्सल्य भाव, बंधु-बांधवों की विरहजनक स्थिति, अश्रुप्रवाह विप्रलंभ भाव की सुन्दर सृष्टि करते हैं।

इस काव्य में सूर्य और चन्द्रमा का प्रयोग सांकेतिक रूप से भारतीय संस्कृति और मुग़ल संस्कृति के लिए बड़े कौशल के साथ किया गया है। सूर्यास्त से प्रारम्भ होने वाला काव्य सांस्कृतिक अंधकार का द्योतक है। चन्द्रमा मुग़ल संस्कृति का आभास मात्र देता है, किसी दृश्य या घटना से उसका सम्बन्ध नहीं है।

अभिव्यंजना की कसौटी पर तुलसीदास में दुरूहता तो है। कवि नये शब्द गढ़ने और परिनिष्ठित भाषा से हटकर अभिव्यक्ति को सायास क्लिष्ट बनाने की ओर उन्मुख है। यदि संश्लिष्ट एवं क्लिष्ट शब्दों का चयन किया जाए तो वे शताधिक होंगे। सौरभोत्कलित, चन्द्रोक, प्रच्छ, पार्थिवेश्वर्य धरास्तक, हताश्वास, निश्चलत्प्राण, चयनोत्कल, चेतनोर्मित, जैसे शब्द हिन्दी के शब्द भंडार को भले ही समृद्ध करें किन्तु सम्प्रेषणीयता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं। जटिलता काव्य का भूषण नहीं है। रूपकों के अतिशय प्रयोग से भी यह काव्य दुर्बोध और जटिल बन गया है। मैं इसे कवि और काव्य दोनों के लिए वांछनीय नहीं मानता। इस दोष के होने पर भी 'तुलसीदास' छायावादी युग की विशिष्ट रचना है। इस कृति से कविवर निराला की नवोन्मेषशाली प्रतिभा का परिचय मिलता है।

निराला का काव्य-वैविध्य और परवर्त्ती कविता

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

निराला का काव्य परवर्त्ती विकास-क्रम से जैसे सहज भाव से जुड़ता है वैसा किसी अन्य कवि का नहीं। इसका एक कारण यह भी है कि निराला के अपने काव्य में जैसा वैविध्य है वैसा उनके समकालीन अन्य किसी कवि में नहीं। संगीत की लक्षणा में कहें तो आधुनिक कविता में आलाप से लेकर तराना तक निराला स्वयं हैं।

१८ अप्रैल १९३६ के एक पत्र में निराला अपने वरिष्ठ कवि-मित्र जयशंकर प्रसाद को, हल्के व्यंग्य की मुद्रा में लिखते हैं—"पर मैंने सुना है, आप उपनिषदों से नीचे उतरना पसंद नहीं करते। फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा, यदि आपको नीचे उतार सकूँ।" निराला के इस सक्षिप्त पर्यवेक्षण के पीछे प्रसाद और निराला दोनों द्वारा परम्परा के प्रयोग के कुछ संकेत छिपे हुए हैं। प्रसाद अपने से पहले की समूची हिंदी काव्य परम्परा को अपने कृतित्व में समाहित किए हैं। निराला फिर परम्परा के अगले क्रम को पूर्वाशित करते हैं। आधुनिक हिन्दी के दो शीर्ष कवियों के व्यक्तित्व के यह सर्वथा योग्य बँटवारा है। प्रसाद के 'चित्राधार' में संकलित ब्रजभाषा काव्य में सूर के विनय-पद, रीतिकालीन देव-मतिराम के कवित्त-सवैये, और भारतेंदु की मनुहार की गूँज स्पष्ट सुन पड़ती है। फिर उनके 'कानन कुसुम' में खड़ी बोली कविता की द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता आती है। और उसके बाद वह नयी काव्य भंगिमा विकसित होती है, जिसे आगे चल कर छायावाद नाम दिया गया। एक आरंभिक कविता का शीर्षक है 'संध्या तारा', जो एक प्रकार से छायावाद की प्रसिद्ध सांध्य-कविताओं का प्रवर्तन-रूप कहा जा सकता है। यहाँ काव्यभाषा व्रजभाषा है, वर्णन-शैली द्विवेदीयुगीन, और विषय नयी काव्य-चेतना को द्योतित करता है। यों प्रसाद का यह काव्य आरंभिक काव्य संवेदनात्मक त्रिवेणी का अद्भुत साक्ष्य है। एलियट की उक्ति, कि परंपरा में सभी कवियों का सहवर्तित्व होता है, का विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करता है प्रसाद और निराला का काव्य, अपने-अपने ढंग स।

प्रसाद के दूसरी ओर आते हैं निराला। वे अपने से आगे आने वाली हिंदी काव्य परंपरा को पूर्वाशित कर लेते हैं। छायावाद के वे श्रेष्ठ कवि हैं कई संदर्भों में, प्रगतिवादी काव्यांदोलन का वास्तविक रूप उनके अगले प्रयोगों

में द्रष्टव्य है। फिर प्रयोगवाद और नयी कविता से लेकर शब्दों के खेल तक उनके विविध प्रयोग मिलते हैं। परम्परा और प्रयोग का अनवरत क्रम— यही जैसे कवि के लिए बसंत का वास्तविक अर्थ है, जिसके उत्सव को उन्होंने अपना जन्म-दिन माना, और अपने आरंभिक संकलन 'अनामिका' में घोषित किया, "मैं ही बसंत का अग्रदूत।"

निराला का काव्य-वैविध्य आधुनिक काल में अतुलनीय है, कुछ वैसे ही जैसे व्यापकतर स्तर पर उनके चरितनायक तुलसीदास का मध्यकाल में था। वे मुक्त छंद के प्रणेता हैं, पर 'तुलसीदास' काव्य में जैसे कठिन छंद और तुक-विधान को उन्होंने साधा है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने काव्य-विकास के अलग-अलग चरणों में उन्होंने अलग-अलग तरह के शब्द-समूह का उपयोग किया। 'अनामिका', 'परिमल' और 'गीतिका' से लेकर प्रबन्ध काव्य 'तुलसीदास' तक तत्समप्रियता का दौर है। फिर आता है तद्भव का जमाना 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला' और 'नये पत्ते' में। अंत में आते हैं 'अर्चना', 'आराधना' और 'गीत गुंज' के गीत जहाँ आग्रह किसी ओर नहीं, एक सहज देसीपन का आत्मविश्वास है। तत्सम-तद्भव-देसी जैसे उनके व्यक्तित्व की विकास-यात्रा है। 'राम की शक्तिपूजा' में आभिजात्य का वैभव है— शब्द-समूह, छंद-विधान और कथा-वस्तु के आभिजात्य का, तो दूसरे सिरे पर है 'कुकुरमुत्ता', बिना किसी की चिंता किए हुए आप उपजा। 'शक्तिपूजा' की सामान्य भाषा है—'ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय, ज्ञात छवि प्रथम स्वीय'—जब कि 'कुकुरमुत्ता' की भंगिमा है—'अबे सुन बे गुलाब'। निराला के विकास-क्रम को समझे बिना सहसा यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि दोनों कविताएँ एक ही कवि की लिखी हुई हैं। काव्य-रूप की दृष्टि से निराला के यहाँ प्रबन्ध हैं, हालाँकि महाकाव्य नहीं जो आधुनिक संदर्भो में बहुत-कुछ एक बेडौल माध्यम हो गया है। फिर लम्बी कविताएँ हैं जो आधुनिक युग में प्रबंध की प्रतिरूप है। और तरह-तरह के गीत हैं, तत्सम, तद्भव, देसी सभी ठाठ के।

निराला की एक बड़ी विशेषता यह है कि न केवल उन्होने परंपरा से विद्रोह करके उसे अपने ढंग से गतिशील किया, वरन् स्वयं अपनी उपलब्धियों से भी वे निरंतर संघर्ष करते रहे, जिनसे कालांतर में परंपरा बननी थी। उनके काव्य-विकास के तीन चरण तत्सम, तद्भव देसी—कवि की बहुत-कुछ इसी मनोवृत्ति को प्रतिफलित करते हैं। यह सतत् विद्रोह-भाव एक बड़ा कारण है निराला के यहाँ काव्य-वैविध्य का। 'जुही की कली' से लेकर 'पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है' तक एक लंबी काव्य-यात्रा है,

जिसमें कवि रास्ते के साथ-साथ बराबर अपनी भी पहिचान करता चलता है। निराला के ये सभी रूप अपने-अपने ढंग से आकर्षक हैं, यद्यपि उनमें से कई एक-दूसरे के प्रतिरोधी दिखाई देते हैं। ये कवि-स्तर परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में निराला के कवि-व्यक्तित्व को विराटतर तथा गतिशील बनाए रखते हैं। हिन्दी कविता के इतिहास में वैविध्य की यह काव्य-प्रक्रिया, जैसा कहा गया, अपने आप में अतुलनीय है।

निराला ने रचना-कर्म में किसी व्यावहारिक सुविधा के लिए मुक्त छंद नहीं रचा, वरन् उसे अपने काव्य-प्रवाह में गति लाने के लिए एक आवश्यक अवरोध के तौर पर देखा। कठिन छंद तो जैसा निराला ने 'तुलसीदास' में लिखा है वैसा शायद ही हिंदी के किसी कवि ने अपने लिए चुना हो। छः पंक्तियों का छंद, जिसमें पहली, दूसरी और तीसरी की तीन-चौथाई में तुक-विधान, और फिर इसी तरह चौथी, पाँचवीं और छठी की तीन-चौथाई में तुक। तीसरी और छठी पंक्ति का अंत्यानुप्रास अलग से। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

कुछ समय अनंतर स्थित रह कर,
स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर-झर जीवन भर कर ज्यों बोली;
अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली—

छंद के कठोर बंधन में रत्नावली का सात्त्विक क्रोध जैसे और कसमसा रहा हो। यहाँ छंद कविता का वाहक नहीं उसका अनिवार्य अंग बन गया है। हिंदी में मुक्त छंद का प्रणेता कितने गहरे संवेदनात्मक स्तर पर छंद को उठाता है यह किसी भी सहृदय श्रोता, पाठक द्वारा आसानी से लक्षित किया जा सकता है।

काव्य-वैविध्य के लंबे दौर में निराला के यहाँ क्लासिकी, रोमांटिक तथा आधुनिक तत्त्व एक साथ दिखाई देते हैं। निराला में जैसे प्रसाद-निराला अज्ञेय तीनों घुले-मिले हैं। मुक्त छंद और छन्द-बद्ध, 'राम की शक्तिपूजा' और 'कुकुरमुत्ता'; तत्सम-तद्भव-देसी; प्रबंध-गीत-मुक्तक विधान—काव्यभाषा और बंध के इन विविध स्तरों पर निराला समान क्षमता के साथ सक्रिय हैं। इस वैविध्य को साधने के कारण ही निराला बिना महाकाव्य लिखे महाकवि हैं, जिस रूप में परवर्ती दौर के एक अन्य शीर्ष कवि शमशेर बहादुर सिंह ने अपने पहले संग्रह में उनका स्तवन किया—

भूलकर जब राह—जब-जब राह····भटका मैं
तुम्हीं झलके, हे महाकवि,
सघन तम की आँख बन मेरे लिए।

परवर्त्ती पीढ़ी का निराला के प्रति यह बहुत सही कृतज्ञता ज्ञापन है, जिसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति और विवेचना अनेक कवियों और आलोचकों में देखी जा सकती है। निराला के पहले महाकवि विशेषण महज़ औपचारिक नहीं, सिर्फ़ सम्मानार्थ भी नहीं, बल्कि कवि शमशेर के शब्दों में एक कृतज्ञ रचना-पीढ़ी का आभार प्रदर्शन है।

निराला का संपूर्ण काव्य-व्यक्तित्व 'विरुद्धों का सामंजस्य' की उस अवधारणा में से जैसे विकसित हुआ है, जिसे कवि के समकालीन और प्रसिद्ध समीक्षक रामचन्द्र शुक्ल ने आनन्द की साधनावस्था की उच्चतम रचना-भूमि का कारक तत्त्व स्वीकार किया है। जैसा उल्लेख किया गया, निराला हिन्दी में मुक्त छन्द के प्रवर्तक हैं ('जुही की कली'), और फिर सब से कठिन छन्द तथा तुक-विधान का पालन करते हैं ('तुलसीदास'), एक ओर 'राम की शक्तिपूजा' तथा अनेक गीतों में तत्सम शब्दावली का आग्रह है, तो दूसरी ओर 'कुकुरमुत्ता' में 'अबे, सुन बे गुलाब' की ठेठ देसी भंगिमा है, शृंगार-गीतों में प्रणय की उद्दाम स्थितियों का उन्मुक्त अंकन है—जैसा प्रसाद के 'आँसू' और 'लहर' गीतों में भी नहीं मिलेगा—तो फिर 'तुमसे लाग लगी जो मन की / जग की हुई वासना वासी' का मार्मिक उद्घोष है। स्मरणीय है कि छायावाद के किसी कवि ने भक्ति-गीतों की ऐसी शृंखला नहीं लिखी, अभिनव विनय पत्रिका की तरह, जैसी निराला ने अपने रचना क्रम में आदि से अन्त तक लिखी है। जीवन और रचना-क्रम दोनों में मूलतः विद्रोही होने के बावजूद उनके प्रिय कवि हैं कठोर मर्यादावादी कवि तुलसीदास।

प्रवृत्तिगत वैविध्य के अतिरिक्त निराला के दीर्घ काव्य-विकास में अगले रचना-आन्दोलनों—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के बीज मिल जाते हैं। उनके संकलन 'नये पत्ते' (१९४६) से चलने वाले अंतिम दौर में इस प्रकार की अनेक कविताएँ द्रष्टव्य हैं, जिस बिन्दु से हिन्दी कविता के अब पचास वर्ष पूरे होते हैं। १९४२ में प्रकाशित 'कुकुरमुत्ता' तो प्रगतिवादी विचारधारा और रचनात्मकता का अघोषित 'मैनीफ़ेस्टो' कहा जा सकता है, जहाँ सर्वहारा की क्षमता को अनेक रूपों में प्रदर्शित किया गया है। भाषा-भगिमा-छन्द सब उस के अनुकूल है। इस काल की अनेक कविताएँ जो 'बेला' और 'नये पत्ते' में संकलित हैं, जैसे—'जल्द जल्द पैर बढ़ाओ', 'झींगुर डटकर बोला', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'चर्खा चला' अधिकतर इसी मनः स्थिति

को द्योतित करती हैं। इसी अवधि की 'दगा की' या कि 'सड़क के किनारे' में प्रयोगवाद की भंगिमा मिलेगी। और फिर नयी कविता का नवीनतम शब्द खेल है—

ताक कमसिनवारि,
ताक कम सिनवारि
ताक कम सिन वारि
सिनवारि, सिनवारि।

ये प्रयोग कभी निरर्थक लगेंगे, पर कभी इन में अर्थ भी झलकेगा, ख़ास तौर से यदि हम फ़ारसी-उर्दू 'कमसिन' को समझें, और वैदिक संस्कृत प्रयोग 'सिनीवाली' के अर्थ वैदिक देवी या कि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक साथ स्मरण रक्खें तो। यों इस पूरे विकास-क्रम को ध्यान में रखकर ही कहा गया कि आधुनिक कविता में निराला आलाप से लेकर तराना तक स्वयं हैं।

परवर्त्ती कविता से निराला की सक्रियता दुतरफ़ा चलती है। नये कवि उनसे प्रेरणा लेते हैं। शमशेर की कविता का उल्लेख पहले हुआ है। रामविलास, शिवमंगलसिंह 'सुमन', नागार्जुन, केदार अग्रवाल और अज्ञेय इन सब के प्रिय कवि निराला हैं। इन्होंने निराला को सम्बोधित कविताएँ लिखी हैं, आलोचनात्मक और वैयक्तिक मूल्यांकन किए हैं। इलाहाबाद नगर में नवलेखन की पीढ़ी अपनी गोष्ठी का नाम 'परिमल' रखती है, और पत्रिका का 'नये पत्ते'। उधर निराला की दिलचस्पी अपने से ठीक बाद के काव्य-प्रयोगों में बराबर बनी रहती है। १९४३ में प्रकाशित 'तारसप्तक' की प्रति सम्पादक अज्ञेय निराला के पास सम्मानार्थ भेजते हैं। १४-६-४४ के पत्र में निराला उसकी पहुँच संकलन के सहयोगी कवि, और अपने मित्र तथा भावी जीवनीकार रामविलास शर्मा को लिखते हैं, "कल 'तारसप्तक' संग्रह मिला। अच्छा निकला है। फिर आलोचना लिखूँगा। अभी बहुत गरमी है। विशेष लिखा नहीं। अज्ञेय का पता नहीं मालूम। हालाँकि तारसप्तक उन्हीं का भेजा हुआ है। सिर्फ़ शिलङ् लिखा है। इन रचनाओं का रूप मेरी दृष्टि में निखर रहा है। इति।" यहाँ महाकवि की बड़ी संतुलित और सावधान प्रतिक्रिया है अपने कनिष्ठ सहयोगियों के रचना-उपक्रम के प्रति। स्पष्ट ही उसका पूरा मूल्यांकन करने के लिये वे और समय चाहते हैं। पर ४६ तक का उनकी अपनी काव्य-धारा को कुछ पूर्वाशित करता, और कुछ उसके साथ चलता है।

बाद में, दुर्भाग्यवश उनका स्वास्थ्य अस्त-व्यस्त हो जाता है। वे इधर उधर की बात करते हैं, रूपकों की संधा भाषा बोलते हैं और अधिकतर बैसवाड़ी या कि अंग्रेजी का बातचीत में प्रयोग करते हैं। प्रयोगवाद और नयी

कविता की रचना अवधि में उनकी मनःस्थिति का कुछ अनुमान उनके तब के जीवनीकार और मित्र गंगाप्रसाद पाण्डेय के एक संस्मरणात्मक लेख से लगता है। 'नये पत्ते' पत्रिका के जनवरी-फरवरी '५३ के अंक में प्रकाशित इस लेख का शीर्षक है 'निरालाजी : आजकल'। लेख का समापन निरालाजी के कुछ अंग्रेजी वाक्यों के साथ होता है—

I have combined the contribution in terms of literary art to the philosophy of living.

(साहित्य के क्षेत्र में मेरा योगदान स्वयं जीने की पद्धति से एकाकार हो गया है।)

I am making an example of playing the same card in life and literature.

(जीवन और साहित्य के खेल में मेरे पत्ते एक ही हैं।)

इस अवधि में 'आराधना' के गीत लिखे जा रहे हैं, यह सूचना संस्मरणकार ने दी है। अर्थात् इस बिन्दु पर पहुंचकर जीवन और रचना कवि के निकट एक हो चुके हैं, 'लीला का सम्वरण-समय' निकट आ रहा है। इधर नई कविता की अपनी मानसिकता पक रही है, जो पत्रिका रूप में १९५४ में प्रकट होती है, 'नये पत्ते' जैसे उसका पूर्वाभास था। इस मानसिकता की कुछ पृष्ठभूमि निराला की अस्त-व्यस्त बातचीत में मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से नयी कविता-नवलेखन का दौर अधिकतर दो महाशक्तियों के बीच शीत-युद्ध के समानान्तर चला। निराला के यहाँ यह वर्णन इस प्रकार चलता है—"गंगाजी सूख गई। हमने तो गंगा भी छोड़ दी पर भूख नहीं छुटती। बाप रे बाप, जानते हो, गंगा में दो बहुत बड़े घड़ियाल हैं। जल भ्रष्ट कर रहे हैं और आदमियों को पकड़ते हैं। एक पेट पकड़ता है, एक सिर। दोनों बड़े भयानक हैं।" गंगाप्रसाद पाण्डेय की टिप्पणी इस संवाद पर है—"कहना न होगा कि इस रूपक से वे रूस की विचारात्मक भौतिकवादिता एवं अमेरिका की सम्पत्ति के बल पर संसार को जीतने की आकांक्षा को ही फटकार बताना चाहते हैं। गंगा, देश की संस्कृति अथवा राष्ट्रीयता का प्रतीक है, यह भी स्पष्ट है।"

यहाँ जोड़ना होगा कि अपनी मानसिक अस्तव्यस्तता के बीच भी निराला नये रचनाकार को उस समय की बुनियादी समस्या से ठीक-ठीक अगवत करा रहे हैं। और यह निश्चय ही संयोग से अधिक है कि 'नये पत्ते' के इसी अंक में निराला विषयक इस संस्मरण-लेख से ठीक पहले अज्ञेय की 'नयी कविता' शीर्षक यह ध्वनि-वार्ता प्रकाशित हुई है, जहाँ 'नयी कविता' पद का पारिभाषिक ढंग से पहला प्रयोग हुआ है। ●

समाजविज्ञानी विचारक उत्तर छायावादी कवि निराला को दोबारा समझने के लिए

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

निराला पर रवींद्रनाथ ठाकुर और स्वामी विवेकानंद (मिशन तथा वेदांत) का सर्वोपरि प्रभाव पड़ा, जिसने उनकी **'जीवन-कला'** को पल्लवित पुष्पित किया। स्वर्गीया पत्नी मनोहरा देवी और गोसाईं तुलसीदास (जिन्हें वे 'तुलसी काका' कहते थे) के प्रभाव ने उनकी गार्हस्थिक **'काम-कला'** को संयमित किया। भारती चेतना तथा लोक-भावना ने उनकी **'विश्व-कला'** को संचालित किया। यूँ भी; उनके मानवतावाद के शिक्षक बेहद मामूली जन-जन रहे हैं। भिक्षुक और इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती श्यामा मजूरिन से लेकर महँगू, लुकुआ, झींगुर, किसान की बहू, कानी रानी, काली कहारिन, इक्कावान पीरबख्श, रंडी अल्लारक्खी, गाँव के लठैत नौजवान, खून की होली खेलने वाले छात्र आदि। ये निराला की ग्राम की मूलशक्ति को; तथा उनकी 'कृषक-रोमांटिकता' और कृषक वर्ग-मैत्री को ही परिलक्षित करते हैं। बारंबार निराला इसी स्रोत पर पहुंचकर लोकचित्त के प्रजातीय अतीत का प्रतिष्ठान करते हैं। यह पद्धति उन्हें समूचे छायावाद-चक्र से अलग और अकेला करती रही है और ऐसी निम्न मध्यवर्गीय चेतना के कारण ही इस अर्द्धग्रामीण-अर्द्ध शहरी योग वाले कवि को बेहद आर्थिक-सामाजिक यंत्रणाएँ झेलनी पड़ी हैं। इसी भूमि ने उनकी सामाजिक चेतना का स्वच्छंद एवं विद्रोही स्वरूप ढाला। सन् १९३६ तक 'राम की शक्ति पूजा' लिखकर उन्होंने वह सुसस्कृति और संस्कार की ज़मीन लगभग छोड़ दी। 'कुल्लीभाट' के साथ वे अपने ग्रामीण-कृषक स्रोतों की ओर उग्रतापूर्वक लौटने लगे। अब 'बेला' (१९४५) और 'नये पत्ते' (१९४६), 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) और 'अणिमा' (१९४३) के द्वारा एक विलक्षण-सा, यथार्थ, जातीय साक्षात्कार होता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक साक्षात्कारों को बंद कर देते हैं। माननीया श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के प्रति, युगप्रवर्तिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति, आदरणीय प्रसादजी के प्रति, आचार्य शुक्ल के प्रति (श्रद्धांजलि), संत कवि रैदास जी के प्रति, उनकी

जीवनदृष्टि स्वच्छ होती जाती है। यह प्रणाली असल में 'मित्र के प्रति', 'हिन्दी के सुमनों के प्रति', 'यमुना के प्रति', 'सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति', 'सरोज-स्मृति के प्रति', 'भगवान बुद्ध के प्रति', 'युगावतार परमहंस श्रीरामकृष्ण के प्रति', का धारावाहिक उपक्रम लगता है जो शनैः शनैः निराला की वैचारिक प्रतिबद्धता तथा सामाजिक सांस्कृतिक विवेक के विकास-परिवर्तन को भी सूचित करता है।

सन् १९३६ के बाद दूसरा विश्वयुद्ध भी छिड़ता है जो सन् १९४५ तक चलता है। इस युद्ध में विलायती साम्राज्यवादियों ने भारत-उपनिवेश को जबरन युद्ध में झोंका था जिसका नतीजा मँहगाई-अकाल, ग़रीबी-बेरोज़गारी, शोषण-उत्पीड़न, अत्याचार और सत्ता का आतंक भी रहा। पीड़ा, क्रूरता और खौफ़ देखने पर जब हम विपन्नता और विवशता के कारण असमर्थ होते हैं तब एक विचित्र प्रकार का आत्महंता विक्षोभ, असंगठनात्मक अराजकता तथा आतंक का सौंदर्यबोध उपजता है। जब हम पलायन भी नहीं कर सकते तब तो इनका सामना और साक्षात्कार हास्य-व्यंग्य (सेटायर) विडंबना (आयरनी)—विरोधाभास (पैराडाक्स), फूहड़ता (एब्सर्डिटी)—विद्रूपता (डिस्टार्शन) आदि के द्वारा होता है। क्लासिकल तथा रोमांटिक, दोनों ही संसारों की परंपरा से विच्छेदित होकर हमारी अस्मिता और अस्तित्व के सवाल दहक उठते हैं। तर्क के हद से गुज़र जाने पर आक्रामक विवेक का उदय होता है—आक्रोश और संत्रास से संयुक्त। इन सबने निराला को रोमांटिक कल्पना और स्वच्छंदतावादी जागरण के लोक से धकियाते हुए विराट् मोहभंगों वाले आधुनिक संसार में लाकर पटक दिया। अगड़धत्त और बगड़बम निराला के मनो-व्यक्तित्व का विघटन हो गया। वे मानसिक 'पैरानोइआ' तथा 'शिज़ोफ्रेनिया' की गिरफ्त में आ गये। वे अभी पागल और अभी समझदार, अभी अभद्र और अभी शीलवान, अभी क्रुद्ध और अभी कंपित, अभी सुसभ्य और अभी जंगली की दशाओं में ऊभ-चूभ होने लगे। उनकी रचना-प्रक्रिया में मनोरोगात्मक (साइकियाट्रिक) दशाएँ भी व्याप्त होने लगीं तथा उनके अवचेतन में ऐबनार्मल हाशियों के रहस्यगूढ़ धुँधलके झिलमिलाने लगे। अब गद्य और पद्य, सौंदर्य और कुरूपता, कथा और निबंध की विधाएँ भी घुलमिल-सी गईं। 'कुल्लीभाट', 'कुकुरमुत्ता', 'स्फटिक शिला', 'मास्को-डायलाग्स', 'बापू तुम मुर्गी खाते यदि', 'कैलाश में शरत्' आदि जो रचनाएँ आईं, वे ऐसी अवस्था का उदाहरण हैं। कुछ लंबी कविताएँ गद्यात्मक कथाप्राय:—निबंध-प्राय: रचनाएँ बन गईं। इसके साथ-साथ ही प्रगीतों और व्यंग्यों का उद्गम भी एक हो गया।

(बाद में) **संत निराला** के 'अर्चना' (१९५०), 'आराधना' (१९५३) 'गीतगुंज' (१९५४) जैसे संग्रह भी आए। ये उनके **भक्त निराला** के अद्भुत सहवर्ती रूपांतरण का परिणाम हैं। इस चरण में वे संन्यासी से होकर स्वामी विवेकानन्द और तुलसीदास से तादात्म्यीकरण करते थे। अब उनमें परस्पर विरुद्धों का सामंजस्य एवं सह-अस्तित्व भरपूर मौजूद है। इसे द्वंद्व-न्याय के चक्र में अंतर्विरोधों (कांट्रेडिक्शंस) के बीच कांटे की टक्कर कहेंगे।

छायावाद की राष्ट्रीयता गांधीवाद से पृथक ही रही है। सन् १९३९ के दौर में निराला ने गांधी जी तथा नेहरू को भी अस्वीकार कर दिया। 'वनबेला' (१९३७) में तो उन्होंने राष्ट्रीय नेतृत्व में शामिल राजपुत्रों, लखपती पुत्रों, साम्यवादी भद्रलोकों की तुलना में सच्चे विकल्प के तौर पर भी वन में खिली बेला के संदेश को ज्यादा सही माना था, लेकिन अब वे 'बापू तुम मुर्गी खाते यदि' (१९४०) तथा 'मास्को डायलाग्स' में उस नेतृत्व के जातिवादी, पुनरुत्थानवादी तथा भद्रलोक-उच्चवर्ग वाले चरित्र का उद्घाटन व्यंग्यसूत्रों में करते हैं। नेतृत्व के अहं तथा कपट को उभारने वाली, सभ्य तथा शिक्षित कहे जाने वाले आदमियों की घोर हिंसात्मक वृत्तियों पर कुठाराघात करने वाली, सामंतवाद-पूँजीवाद की मैत्री से फूटी जमींदार-नेता-अफसर (पुलिस, डिप्टी, राजे) की तिकड़ी की अमानुषी घटनाओं को वे अपना कथ्य बनाते हैं। कवि ने निजी ससार की करुणा और मैत्री में भय-रहस्य, भेद-पेंच, जासूसी-तिलिस्म आदि भी शामिल हो जाते हैं। सतुलन बिगड़ जाता है; दृष्टिपथ (पर्सपेक्टिव) भी शीर्षासनीय हो जाता है अर्थात् उपमेय-उपमान आपस में अदल-बदल, उलट-पुलट जाते है और वे सौंदर्य-प्रेम के मनोलोकों के बजाय यथार्थ ग्रामीण आंचलिकता की गुलेल या बाँसफाँस के द्वारा गुरिल्लाओं की तरह धावा बोलते हैं। हमारा समूचा आभिजात्य सौंदर्यबोध ही बदल जाता है। अब पहेलियाँ और रहस्यात्मक कटाक्ष, विरोधाभास और अर्थभ्रांतियाँ गढ़ने-धँसने लगती हैं। इन सबको व्यापकर निराला में 'स्वदेशी' तथा 'स्वराज' की समझदारी ज्यादा सही होने लगती है। वे भारतीय समाज के ढाँचे तथा राजनीति के सवालों को ज्यादा निर्भीक ढंग से विश्लेषित करने लगते हैं।

सन् १९३८ में कांग्रेस-राज क़ायम होने पर उन्होंने राष्ट्रीय सरकार के ऐसे जनवादी चरित्र की अपेक्षा की थी—"सहज-सहज पग धर आओ उतर, / देखें वे सभी तुम्हें पथ पर ?// वह जो सिर बोझ लिए आ रहा, वह जो बछड़े को नहला रहा, / वह जो इस-उससे बतला रहा / देखूँ, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर ? // उनके दिल की धड़कन से मिली / होगी तस्वीर जो कहीं खिली / देखूँ, मैं भी वह कुछ भी हिली / तुम्हें देखने पर भीतर-भीतर।'

केंद्रीय राष्ट्रीय सवाल के अंतर्गत वे धनसंपत्ति वाले बड़े वर्गों की प्रभुसत्ता को उपेक्षित जन जन में हस्तांतरित करना घोषित करते हैं—'प्रति जन को करो सफल / जीर्ण हुए जो यौवन, जीवन से भरो सकल। // रंगे-गगन, अन्तराल, / मनुजोचित उठे भाल, / छल का छुट जाय जाल / देश मनाये मंगल।

वे ग्राम्य क्रांति का एक कार्यक्रम भी प्रस्तावित करते हैं :—

'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ आओ ! आज अमीरों की हवेली / किसानों की होगी पाठशाला, / धोबी, पासी, चमार, तेली / खोलेंगे अंधेरों का ताला, / एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ !! यहाँ जहाँ सेठ जी बैठे थे / बनिये की आँख दिखाते हुए, / उनके ऐंठाये ऐंठे थे / धोखे पर धोखा खाते हुए, / बैंक किसानों का खुलवाओ ।। सारी संपत्ति देश की हो, / सारी आपत्ति देश की बने / जनता जातीय वेश की हो / वाद से विवाद यह ठने, काँटा काँटे से कढ़ालो।' आर्थिक पुर्ननिर्माण के लिए पूँजी-अधिसंग्रह का स्रोत वे बताते हैं— 'भेद कुल खुल जाय वह / सूरत हमारे दिल में है / देश को मिल जाय जो / पूँजी तुम्हारी मिल में है।'

इसके लिए एक नई सामाजिक चेतना को वे रेखांकित कर रहे हैं—'हमारे अपने हैं यहाँ बहुत छिपे हुए लोग, / मगर चूँकि अभी ढीला-पोली है देश में, / अख़बार व्यापारियों ही की संपत्ति हैं, / राजनीति कड़ी से भी कड़ी चल रही है, / वे सब जन मौन हैं इन्हें देखते हुए, / जब ये कुछ उठेंगे, / और बड़े त्याग के निमित्त कमर बाँधेंगे। / आयेंगे वे जन भी देश के धरातल पर···· / बड़े-बड़े आदमी धन, मान छोड़ेंगे, / तभी देश मुक्त है।'

'मँहगे मँहगू' के मुख से खुद निराला यह सब कह रहे हैं। आगे वे सामाजिक यथार्थ का भी निर्वचन करते हैं—'···भिन्न-भिन्न रूप के / कृषि-शिल्प-व्यापार / रक्षण के स्तम्भ-से / खड़े, समारंभ के / नगर-समाज-शास्त्र,/ आज दिव्यास्त्र ज्यों/विश्वमानवता के, / राजनीति-धर्मनीति / वर्जित पाशवता से, / सभी बदले हुए···· / सभी भिन्न रूप के, /···· साम्य रखते हुए विश्व के जीवन से; / बदले हुए कुम्हार / नाई-धोबी-कहार, / ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य / पासी-भंगी-चमार, / परिया और कोल भील ; / नहीं आज का यह हिन्दू / आज का यह मुसलमान, / आज का ईसाई, सिक्ख / आज का यह मनोभाव, / आज की यह रूपरेखा ।।' आज की भौतिकवादी-पूँजीवादी विश्व व्यवस्था का भी विश्लेषण उन्होंने किया—'आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर / गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर / स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौने जैसे / बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे / आज लक्ष्य में है मानव

के;···· / दर्प कर रहे हैं मानव ; वर्ग से वर्गगण, / भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण /'

निराला की विचारधारा, उनका विश्वदृष्टिकोण, उनकी जनवादी-समाजवादी प्रतिबद्धता—ये सभी स्फटिक-स्पष्ट हो जाती हैं। उनके ज्ञान तथा विवेक का घेरा विश्व में अंतर्विरोधों और विश्वयुद्ध के साम्राज्यवादी चरित्र की पहचान से लेकर आधुनिक भारत की सामाजिक संरचना, आर्थिक व्यवस्था तथा वर्गीय अंतर्विरोधों तक को समेट लेता है। निर्विवाद रूप से वे छायावादी प्रगतिशीलता को सामाजिक क्रांति के मुहाने तक पहुँचा देते हैं यह बेहद तार्किक तथा वैज्ञानिक विश्लेषण है।

तथापि सामूहिक संगठनों तथा सामाजिक संघर्षों का निर्णायक दौर आने में देर थी क्योंकि अंतर्विरोध इतने प्रचंड तथा नुकीले नहीं हुए थे तथापि कवि की संकल्पचेतना पूरी तरह से चौकस और जागृत हो चुकी थी (अकेली और अंतर्मुखी दशाओं में वे भक्तिधारा वाले गीत भी लिखते थे) उस राजनीतिक नेतृत्व को वे जनस्वाधीनता-आंदोलन तथा समाजवादी रूपांतरण के योग्य नहीं समझते रहे क्योंकि किसानों-मज़दूरों की बहुसंख्या के विरुद्ध उसके वर्गीय हित हैं—

'एक-एक पर्त बड़े-बड़े विलायती लोग। देश भी बड़ी-बड़ी थातियाँ लिये हुए।···देशी जनों के बीच; / लेंड़ी ज़मींदारों को आँखों तले रखे हुए; / मिलों के मुनाफ़े खाने वालों के अभिन्न मित्र; / देश के किसानों-मजदूरो के भी अपने सगे / विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए। गले का चढ़ाव बोझुआज़ी का नहीं गया।····गाँव के अधिक जन कुली या किसान हैं।'' दलाल और समझौतावादी बूर्ज्वा वर्गों का यह मूल्यांकन मार्क्सवाद के सर्वाधिक नज़दीक है। वे गाँधी और नेहरू को संघर्ष के बजाय समझौते का प्रतिनिधि मानते हैं। इस नज़र से वे पंत और महादेवी से बिल्कुल अलग हो जाते हैं। सन् १९४२ के आसपास उन्होंने एक कजली में नेहरू का पुनर्मूल्यांकन भी किया है—

'काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहर लाल।
कैसे कैसे नाग मंडलाये, न आये वीर जवाहर लाल॥
मँहगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छुटी गाढ़ी कमाई।
भूखे-नंगे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहर लाल॥'

उन तूफानी वर्षों में कांग्रेसी नेता जेल चले गये थे।

तथापि समाजविज्ञानी निराला यह भी पहचानते हैं कि 'गाँधीवादी आये, / कांग्रेसमैन टेढ़े के; / देर तक, गाँधीवाद क्या है, समझाते रहे। / देश की भक्ति से, / निर्विरोध शक्ति से, / राज अपना होगा, / जमींदार, साहूकार

अपने कहलाएँगे /' —किसान सभा का कार्यकर्ता झींगुर डटकर बोल उठा कि जमींदार ने पुलिस से मिलकर गोली चलवा दी क्योंकि किसान भाई जी के समर्थक थे। ज़मींदार के सिपाही की लाठी का लोहा-बँधा गूला किसानों के सर पर गड़ जाता है। आतंक में किसान कमान की तरह झुक जाते हैं और वह विशालकाय राक्षस आध्यात्मिक नसों तक का खून चूस लेता है। आतंक में किसान वैसे मेंढ़क जैसे हो जाते हैं जो मूत-मूत कर छलांग मारता भग जाता है ('छलांग मारता चला गया')। सामंत वर्ग का ऐसा ज़ोर जुलुम है। इनके साथ उपनिवेशवादी शासक भी दोहरी लूट-खसोट करते हैं। एक ओर सूखे से तबाह खेतिहर हैं तो दूसरी ओर डेरे पर थानेदार आकर हुक्म देता है कि डिप्टी साहब को एक हफ्ते के अंदर चंदा देना है ('कुत्ता भोंकने लगा')। कोई बंदा साथ नहीं है। बस खेतिहर का कुत्ता ही सिपाही को देखकर भौंकने लगता है। एक अन्य प्रसंग में बदलू अहीर के दरवाज़े पर भीड़ है क्योंकि ज़मींदार का कारिन्दा या गोड़इत कह रहा है—डिप्टी साहब बहादुर तथा अन्य अफ़सरान के लिए जल्दी ही बीस सेर दूध (मुफ्त बेगार में) दे दें। ('डिप्टी साहब आये')।

समाजविज्ञानी निराला कांग्रेस के दावों की जाँच करके जमींदारों, साहूकारों और शासकों के स्वार्थी शोषक चरित्र का भंडाफोड़ करते हैं। 'फिर भी आज़ादी की हाँक का नशा बड़ा; / लोगों पर चढ़ता है। / विपत्तियाँ कई हैं घूँसे और डंडे की, / उनसे बचने के लिए / रास्ता निकाला है, सभाओं में आते हैं / गाँवों के लोग, कुल।'—('मँहगू मँहगा रहा')। भारतीय उपनिवेशीय समाज के वर्गीय तथा वर्णीय ढाँचे में शोषण-भ्रष्टाचार अन्याय-अत्याचार, जात-पांत, सांप्रदायिकता-कट्टरता के स्तरों की भूमिका सिद्ध करने के बाद ही वे आगे अपने मानवतावादी—समाजवादी स्वतन्त्र भारतीय समाज का घोषणापत्र प्रस्तुत करते हैं। इस तरह वे भविष्य का स्वप्न नहीं बल्कि भविष्य की ऐतिहासिक निश्चयता उद्‌घाटित करते हैं : जनगण का ऐसा लोकतन्त्र जिसमें पहले कृषक-क्राति के लिये किसान-मजदूरों का 'ऐका' होगा। यही मोर्चा पूँजीवाद-सामंतवाद को खत्म करके 'गण लोकतंत्र' (पीपुल्स डिमोक्रेसी) की स्थापना करेगा। हम एक रुपये में पचहत्तर पैसे कह सकते हैं कि समाजविज्ञानी निराला का यह सांगोपांग समाजार्थिक विश्लेषण वैज्ञानिक और जनवादी रहा है। यह कोरा छायावादी कल्पलोक (यूतोपिया) नहीं है। यह एक सुविदित बात है कि लोकवादी कवि निराला ने जनता की मुक्ति तथा समाजवादी प्रजातन्त्र का मार्ग अपनी ही जीवनगाथा द्वारा वेदांत की भूमि से खोजा है। 'सेवा-प्रारम्भ' (१९३७) तथा 'स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज' (१९४३) शीर्षक कविताओं के मंथन

से यह सत्य सहसा उछल निकलता है। स्वामी विवेकानंद, स्वामी सहजानंद जैसे योद्धा-संन्यासी इसी मार्ग से चलकर गंतव्य तक पहुंचे थे। आज़ाद हिन्दुस्तान में निराला भी सरकार द्वारा कम्युनिस्ट करार दे दिये गए थे (दे० बेचन शर्मा उग्र का लेख 'हंस' के दमन विरोधी अंक में, १९४८)। निराला ने कांग्रेस की अन्तरिम शासन व्यवस्था को समझकर गंगा प्रसाद पांडेय से कहा था—"आज जनता की चिंता-धारा और कांग्रेस की कार्य-प्रणाली में कोई तारतम्य ही नहीं रहा। भारतीय राजनीति में आज एक ही रास्ता साफ़ है, क्रांतिपथ, संघर्ष का पथ और अन्त में समाजवाद का पथ, इसके अलावा कोई दूसरा पथ नहीं।"[1]

तथापि कल्पना (स्वप्न) और यथार्थता (ज्ञान) के सहकार के बीच निराला एक औढ़र-अघोर-अवधूत भूमि पर ही पारगमन करते हैं। हम बता आए हैं कि पहले भी उन्होंने 'जूही की कली' (१९१६) और 'देवी सरस्वती' (१९४३) के बीच 'खजोहरा' (१९४०) का प्रणयन किया। इस दूसरे चरण में भी 'दान' (१९३५) और 'वनबेला' (१९३७) तथा 'कैलास में शरत्' और 'महगू मँहगा रहा' के बीच 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) रच डाला था।

'कुकुरमुत्ता' अपने अनगढ़पन और अजूबेपन में 'राम की शक्ति पूजा' (१९३६) के बाद एक दूसरे महत्वपूर्ण समाज-दुर्ग की जटिल व्यूहरचना के भेद खोजता है। स्वयं निराला इसे 'भाव-भाषा-विचार सभी दृष्टियों से··· आज की सबसे सुन्दर कविता घोषित करते हैं।[2] इसमे परंपरागत संस्कारों और स्वच्छदतावादी सौंदर्यबोध का परित्याग है। सम्पूर्ण भाषिक संरचना में, व्यंग्य और विडंबना में, बिंब और प्रतीक में अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) तथा कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) हो गया है। सौंदर्य तथा लोक-जीवन की अतिसाधारणता ही इसमें विद्रोही कला बोध और आक्रोश के सौंदर्यानुभव को नवीन गौरव तथा गंभीर प्रज्ञा प्रदान करती है "क्या व्यंग्य, क्या कटाक्ष, क्या जबान की सफाई, क्या मुहावरेदानी कि जिससे उर्दू भी कुछ सीखे—वास्तव में इसके प्रवाह में उर्दू बह्रों का काफी सहारा लिया गया था—और क्या सर्वहारा का सटीक समर्थन। सर्वहारा का प्रतीक निराला थे, कुकुरमुत्ते की आवाज में निराला बोले थे। निराला का प्रतीक कुकुरमुत्ता था, निराला ही कुकुरमुत्ते थे।"[3] इसके बाबत रामविलास शर्मा ने कहा है—"निराला

१. महाप्राण निराला, गंगाप्रसाद पांडेय, पृ० १०१
(साहित्यकार संसद प्रयाग १९४९)
२. 'महाप्राण निराला', गंगाप्रसाद पांडेय, पृ० २५१
३. 'नये पुराने झरोखे' 'बच्चन, पृ० ५१ (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९६७)

हँस रहे थे वेदान्त, पर, समाजवाद पर, कांग्रेसी नेताओं पर, छायावाद पर, अपनी समस्त पुरानी मान्यताओं पर। नाम से ही हास्यास्पद 'कुकुरमुत्ता' को अपना अस्त्र बनाकर उन्होंने उसे ब्रह्म के समान विश्वव्यापी बना दिया, उसके सहारे उन्होंने सबसे बदला लिया। वे जो अपने को सभ्य, शालीन और सुसंस्कृत समझते थे, कुकुरमुत्ता से ओछे साबित हुए।....लेकिन कुकुरमुत्ता सिर्फ़ एक ढेला था जो उन्होंने हल्ला मचाती हुई भीड़ पर फेंक दिया था। कुकुरमुत्ता सब पर हँसता है पर वह स्वयं हास्यास्पद है। निराला उस पर हँसते हैं। लेखकों में लंठ जैसे खुशनसीब—कहकर उसे चिढ़ाते हैं। कविता के अंत में उसका कलिया-कबाब बनाकर उन्होंने उसकी अंत्येष्टि भी कर दी।....हीरोइक उदात्त, सब्लाइम—क्या ये सब प्रवंचना नहीं है? दुःख से सताये हुए को इस प्रवंचना से मतलब? मोह से मुक्त ही ज्ञान है; भ्रमों का विनाश रहस्यवादी के प्रकाश से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कोई आश्चर्य नहीं, निराला की दृष्टि में 'कुकुरमुत्ता' उतनी ही महत्वपूर्ण रचना थी, जितनी 'तुलसीदास।''[१] यदि इसे 'ढेला' कहना अवमूल्यन लगे तो यह निवेदित करना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस कविता द्वारा निराला ने अपने छायावादी तथा जनवादी फूहड़ (एब्सर्ड) और हास्यास्पद (ल्युडिक्रस), व्यक्तिवादी तथा विश्ववादी दार्शनिक प्रस्थानों की चीरफाड़ की है। ऐसे विश्वकोशीय ज्ञान (भूगोल, इतिहास, संस्कृति, समाज, सौंदर्य, नृवंशशास्त्र, प्राणीशास्त्र आदि से संयुक्त) तथा ऐसे सर्वहारा—सौंदर्यबोध की नवीन दृष्टि इस रचना में ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। (नरेश मेहता की 'समयदेवता' (१९५१) जैसी लंबी कविता भी इसी की अनुवर्तिनी प्रतीत होती है।)

इसमें दो वार्ताएँ हैं। पहली गुलाब और कुकुरमुत्ता की; दूसरी नौकरानी गोली तथा नवाबज़ादी बहार की। मालिन की बेटी गोली अपने आप उग आए कुकुरमुत्ते का उपभोग जानती है, जबकि नवाबज़ादी को फ़ारस से मँगाए गए गुलाब के फूलों का कोई महत्व नहीं समझ आता। गोली कहती है, 'देखो जी भरकर गुलाब; हम खायेंगे, कुकुरमुत्ते का कबाब'। उधर बहार के पीछे आधुनिक पोएट की भाँति दुम हिलाता टेरियर कुत्ता जाता है। कुकुरमुत्ते के कलिया कबाब की तारीफ़ सुनकर नवाब माली को फारसी गुलाबों के बाग़ को उजाड़कर कुकुरमुत्ते उगाने का हुक्म देते हैं। माली ने नवाब से कहा—'फर्माएँ मआफ़ ख़ता, कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।'

---

१. 'निराला की साहित्य साधना', प्रथम खड, रामविलास शर्मा, पृ. ३८२-८३ (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६९)

हास्य, हास्यास्पद; बिडंबना; भड़ौआ, स्वांग आदि लोक कौशलों से पुटों से सयुक्त यह कविता नया काव्यशास्त्र और आधुनिक लोक सौंदर्यबोधशास्त्र का संकेत करती है। इसी के साथ-साथ सामान्य जनता की अंतर्लीन महाशक्ति का विराट रूप कुकुरमुत्ता के बहुविध बिंब-पुंजों में है। पूँजीपतियों-सामंती नव्वाबों की स्थितियों पर प्रचंड हमले भी हुए हैं। कुकुरमुत्ता का स्वतंत्र अलंकार शास्त्र और कलाशास्त्र ही क्लासिकी तथा रोमांटिक दोनों परंपराओं से प्रयाण करता है तथा पूर्ववर्ती सारा मनोविश्लेषण भी खारिज कर देता है। गुलाब के बाग में मुगल बागबानी का इल्म है। किन्तु कुकुरमुत्ते अर्थात् सर्वहारा का विश्व और विश्वेतिहास की महान् शिक्षा है—(१) सर्वहारा-कुकुरमुत्ता—। चीन का छाता, भारत का छत्र, आज का पैराशूट, विष्णु का सुदर्शन चक्र, जसोदा की मथानी, राम का धनुष, बलराम का हल, सुबह का सूरज, शाम का चाँद, नाव का पाल और डाँडी का पल्ला है; (२) दोहराने पर डमरू, वीणा, मृदंग, तबला; वायलिन, बेंजों, घन्टा-घन्टी, ढोल, डफ़, शंख-तुरही, मजीरे-करताल है; (३) धर्म में कास्मोपॉलिटन, मेट्रोपॉलिटन तथा कैपिटल में जैसे लेनिनग्राड है; (४) नाच में कत्थक, कथकलि, बालडांस, मनिपुरी-गरबा, अफ्रीकन नाच है (५) वास्तु रूपों में पीरामिड, यूक्लिड, रामेश्वर मीनाक्षी, जगन्नाथ भुवनेश्वर, कुतुब मीनार—ताज, ऐरियन—परशियन-गाथिक आर्च है; (६) कविकुल में आदि कवि व्यास-भास-कालिदास; हाफिज़-टैगोर, टी० एस० इलियेट (कहीं का रोड़ा कहीं का पत्थर लेकर जैसे टी० एस० इलियेट ने दे मारा) प्रोग्रेसिव की लेखनी आदि है।

यद्यपि कुकुरमुत्ते से जुड़ी जो गंदी बस्ती है उसमें गंदगी फैली है और गुलाम खादिम लोग रहते हैं तदपि 'पहाड़ी से उठा सर ऐंठकर बोला कुकुरमुत्ता / "अबे, सुन बे, गुलाब, / भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब, / खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट, / डाल पर इतराता कैपिटलिस्ट; / बहुतों को तूने बनाया है गुलाम / .... शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा / इसलिए साधारणों से रहा न्यारा, /....घड़ों पड़ता रहा पानी, / तू हरामी खानदानी; / ....कलम मेरा नहीं लगता / मेरा जीवन आप जगता।' सारी रचना में ज्यादातर एककालिकता (सिन्क्रॉनी) है।

कुकुरमुत्ता के पीछे के विचारों के इतिहास की अन्य पर्त्तों को उघाड़ने पर यह अंदाज लगाया जा सकता है कि द्वितीय महायुद्ध की प्रचंडता के दिनों में निराला चित्रकूट, उन्नाव, गढ़ाकोला, आदि रहे। 'उनकी बातें साहित्यिक न होकर प्रायः राजनीतिक होने लगीं थीं। वे चाहते थे कि युद्ध के इस समय में भारत को अपनी स्वतंत्रता घोषित करके किसी भी विरोधी से लड़ने को

तैयार हो जाना चाहिए। उन्हें कम्युनिस्टों से कुछ आशा थी पर वे तो इसे जनयुद्ध बताकर अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों की उल्टी सहायता कर रहे थे। चित्रकूट और उन्नाव के स्नेह सौहार्द्रमय व्यवहार के बीच उनकी मानसिक विक्षिप्तता का कलात्मक गुंठन भी हुआ। वे सीधे बात नहीं करते थे। उनके सामने जो आता था उसे भय और शक का पात्र समझकर उलझ पड़ते थे। उन्हें हिंस्र पशुओं (विशेषतः शेरों के) संन्यासियों और राजनीतिज्ञों के मायावरणी बिंब (हैलुसिनेशंस) उत्तेजित करते थे। उन्हें महसूस होता था कि कहीं से कोई भी 'सुराग़' (क्लू) नहीं मिलता और सभी अपना-अपना 'राज़' (सीक्रेट) छिपाए हुए हैं। इसके समानांतर देश भूखों मर रहा है।[1] 'स्फटिक शिला' तथा 'कैलाश में शरत्' में जो यात्रा-वृत्तांत हैं वे इसी अपसामान्य दशा की उपज हैं। 'कैलाश में शरत्' (१९४६) एक फान्तासी है, एक अतियथार्थवादी रचना है जिसमें कवि संन्यासी श्रेष्ठ श्री विवेकानन्द को साथ लेकर घोड़े पर चढ़कर अफगानिस्तान पार करता है; बाद में बड़े बकरों पर सवारी करके पथ प्रदर्शक शासकों के साथ बढ़ता है। मंगोलिया पहुंचकर अतीला, चंगेज़, तैमूर जैसे बर्बर शूरमाओं को याद करता हुआ कैलाश-शृंग पहुँचता है। यहाँ 'राम की शक्ति पूजा' वाली दुर्गा का अतिप्राकृतिक बिंब झिलमिलाता हुआ प्रत्याख्यान करता है। काश्मीर होकर यात्रादल मानसरोवर पहुंचता है जो करोड़ो इन्दीवरों से सुगन्धित है। यहां नौकाविहार होता है। कैलाश में शरद का चंद्रमा आकाश पर निकल कर स्निग्ध चंद्रिका फैलाता है मानों सरोवर पर स्वर्ग की अप्सरा विजयिनी, उतरी हो।....'स्फटिक शिला' (१९४२) उनकी पूर्ववर्ती कविता है जिसमें चित्रकूट (करवी, बाँदा, राजापुर) का यथार्थ वृत्तांत है, रामलाल गर्ग के साथ। इसमें उमर खय्याम की रुबाई जैसी बैलगाड़ी से करवी होते हुए चित्रकूट की स्फटिक शिला तक की यात्रा है। गाड़ी गरियार धौले तथा साँवले बैलों से जुती थी जिसे रामलाल का भाई हाँक रहा था। यात्रा में भरतकूप, गुप्त गोदावरी, श्री कामदगिरि पर उमड़े बादलों पर मोरों की नीली रेखा दिखी; अररराती पयस्विनी हनुमद्द्वारा, अत्रि अनुसूया का आश्रम, स्वच्छ मंदाकिनी पार करते हुए यात्रीगण सीतापुर के निकट आये। रामजी के राज (चित्रकूट) में भी चोट खाई हुई झोपड़पट्टी की एक काली नारी मिली। आगे एक सुरवधू जैसी किसान तरुणी मिली जो गाय के खुरों का स्पर्श करती है। आगे जानकी-कुंड मिला जिसमें मछलियों के झुंड के झुंड तैर रहे थे। अंततः वह स्फटिक शिला मिली जहाँ मिथक के मुताबिक श्री

---

१. दे० गंगाप्रसाद पांडेय (पृ० २०३) रामविलास शर्मा, (पृ० ५०७)

जानकी के पुष्ट स्तनों पर चोंच से प्रहार करने वाला जयंत (छद्म कौव्वा) दबा हुआ बैठा है। कवि मनोरम मंदाकिनी की जीवंत भीषण और भयानक प्रकृति देखता है—"साँप बड़े जहरीले टीलो पर रहते हैं / बिच्छू, लकडबग्घे, रीछ, चीते घूमते हैं वनों में, / पेड़ों पर विषखोपड़; / चिरौंजी बहेडा, हड़ / पेड़ बड़े-बड़े, / जंगल-के-जंगल खड़े। / बड़े बाघ और दूर रहते हैं, / पानी पीने रात को आते हैं, लोग कहते हैं।' अंततः स्फटिकशिला को कवि अवाक् देखता ही रह गया। वहाँ उसकी जयंत दृष्टि एक सद्यः स्नाता युवती पर पड़ी जिसके 'पुष्ट स्तन उठे' हुए थे। कवि को झटका लगा। जानकी याद आई। उसकी दृष्टि में अब 'कैसे भरे दिव्य स्तन हैं ये कितने कठोर'। वह बोल उठा—'तुम राम की—कैसे दिये हैं दर्शन ?' इस कालखण्ड में 'खजोहरा' में भी सद्यः स्नाता विजयिनी उर्वशी और हथिनी जैसी दीर्घस्नाता बुआ का प्रतीप विलोम मिलता है। मनोविक्षेप (साइकोटिक) न्याय से 'कुकुरमुत्ता के रचना-संसार में भी उपमानों का सघनीकरण-वर्गीकरण करके विश्वेतिहास की परिक्रमा हुई है तथा कुकुरमुत्ता और गुलाब के कंट्रास्टों की मुठभेड़ हुई है। संपूर्ण कविता कूटभाषा वाली है। अतः 'राम की शक्ति पूजा' और 'कुकुरमुत्ता' की ध्रुवांतिक स्थितियाँ हैं, निराला के विभक्त व्यक्तित्व जैसी।

निरालाकृत कथा-साहित्य का नवजागरण के आलोक में आकलन

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

कजिन की धारणा है कि भारत कभी सोया ही नहीं, पर श्री अरविन्द की दृष्टि में यह अर्ध-सत्य है। यह सही है कि भारतीय मध्यकाल 'अन्धकार युग' नहीं है—यहाँ आध्यात्मिक आलोक स्तम्भों से मध्यकाल की गैलरी निरन्तर जगमगाती रही है। इतना अवश्य रहा है कि ये स्तम्भ अन्तर्मुख हो गए। औसतन यह काल-खण्ड प्राचीन काल-खण्ड की भाँति प्रखर चिन्तन की अपेक्षा श्रद्धा, विश्वास और भक्ति का था। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इस काल की मनोवृत्ति जबदी हुई थी—चैन्तनिक श्वास-प्रश्वास का मार्ग मंद पड़ गया था। उन्मत्त वैदेशिक आक्रान्ताओं से त्रस्त आचार्य तक कहने लगे थे—

····म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु कृष्ण एव गतिर्मम····

वे कही कुण्ठित थे—खुलकर अपनी पद्धति से जीने में कहीं अवरोध था। निराला ने 'तुलसीदास' में इसका स्पष्ट संकेत दिया है—

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित, आज रे तमस्तूर्य
दिङ्मण्डल

पुराख्यानों के पीछे निहित चिन्तन उपेक्षित हो गया। इस मनोवृत्ति और दबाव का परिणाम समाज पर पड़ रहा था। बुद्धिगत 'विवेक' से अनुशासित कर्तृत्वगत 'स्वातन्त्र्य' औसतन समग्रता में चरितार्थ नहीं हो रहा था। विवेक की प्रत्यंचा के शिथिल हो जाने से रूढ़ियों का जाल समाज

को जकड़ता जा रहा था। सन्त-भक्त आलोचना कर सकते थे—पर जब लोकमंगल के लिए मरण पर्यवसायी संघर्ष करने वाले तुलसी को 'काहू की बेटी से बेटा न ब्याहिबो' तक कहना पड़ा और उदासीनता ओढ़नी पड़ी तो और किससे आशा की जा सकती थी जो समाज का नेतृत्व करता। लोग (१) 'समष्टिमुक्ति कामी' की जगह 'व्यष्टिमुक्ति कामी' ही बनते गए—(२) 'नारी की निन्दा' में पृष्ठों रंग गए, समाज में (३) स्पृश्यता-अस्पृश्यता बढ़ती गई—दीवारें बढ़ती गईं—(४) 'यथास्थितिवादिता' जड़ पकड़ती गई—(५) संसार को निस्सार बताने वाला मायावादी स्वर मुखर होता गया—(६) लोक-सेवा का भाव सिद्धान्त में स्वीकार होकर भी व्यवहार से दूर होता गया—'प्रवृत्ति' की नहीं, 'निवृत्ति' की आवाज जोर पकड़ती गई।

नवजागरण पीठ पर आँख रखकर आता है—और अतीत की स्वस्थ मान्यताओं की युगोचित व्याख्या कर समाज का पथ आलोकित करता है। यथास्थिति के विरुद्ध प्रस्थान करता है, अवरोध दूर करता है और समाज को गति देता है। मध्यकाल का भक्तिवाद भी 'शक्तिवाद' ही था—भक्तों ने संसार को सत्य कहा था—पर स्वरूप के विषय में 'ग़लतफ़हमी' या 'अज्ञान' को कहीं न कहीं सर्वत्र मान्यता थी। फलतः इस कुण्ठा-काल में 'शक्ति' या 'ऊर्जा' का मुक्त-कण्ठ कार्यान्वियन समाज में सम्भव नहीं हो पा रहा था। नव-जागरण में राष्ट्र के व्यक्तित्व को—सम्पूर्ण व्यक्तित्व को दासता से निजात दिलाने की आग भभक उठी—स्वदेशी आन्दोलन और स्वातन्त्र्य संग्राम छिड़ गया। वैचारिक क्रान्ति के स्वर को मुखर करने वाले सारे स्वर आत्मवाद में आस्था रखते थे। एक हाथ में गीता और दूसरे में पिस्तौल। सबका ध्यान समाज को मुक्ति दिलाने की ओर था—लोकसेवा का समर्थक था—व्यक्तिमुक्तिकामिता उसमें निमग्न थी—इसलिए उस समय के समस्त आन्दोलन 'समाज-गर्भ' संज्ञा से अभिहित थे—चाहे ब्रह्म समाज हो, प्रार्थना-समाज हो, आर्यसमाज हो, थियासाफिकल सोसाइटी ही हो या रामकृष्ण मिशन हो। इन सभी आन्दोलनों के प्रवर्तक आत्मवादी थे और भारत की अपनी पहचान के पक्षधर थे—साथ ही विश्व-मंगल के भी जबर्दस्त पक्षधर।

रामकृष्ण चेतना के मुखर प्रवक्ता विवेकानन्द ने 'नव्य-वेदान्त' परक (राष्ट्र को झाड़-पोंछकर) नई दृष्टि दी। वेदान्त के शांकर-दर्शन में 'शक्ति' अनुन्मीलित थी—विवेकानन्द को शांकर-दर्शन के खण्डन की आवश्यकता नहीं थी—अनुन्मीलित 'शक्ति' का उन्मीलन अपेक्षित था। 'त्याग-मार्ग के कारण शंकर को 'मायावाद' ग्रहण करना पड़ा—पर 'प्रवृत्तिमार्गी' विवेकानन्द

को 'शक्तिवाद' की स्थापना करनी पड़ी—इसने जगत् की सत्यता की पक्षधरता की ओर लोकसेवा में आत्म-मंगल की दिशा निर्दिष्ट की। निरालाजी इसी काल की सांस्कृतिक चेतना की काव्यात्मक परिणति थे और बंगाल के ही इस आश्रम के दीक्षित स्नातक थे। स्वामी सारदानन्दजी का उन पर विस्मयावह प्रभाव था। 'चोटी की पकड़'—श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी की पुण्य-स्मृति में १९४६ ई० में लिखा गया है। उन्होंने विवेकानन्द को पढ़ा भी खूब है।

'निराला रचनावली' के दो खण्डों में निरालाजी का कथा-साहित्य संकलित है। खण्ड तीन में उनके प्रथम चरण के चार उपन्यास—अलका, अप्सरा, प्रभावती और निरुपमा—संकलित हैं और खण्ड चार में अनेक पूरे-अधूरे उपन्यास और कहानियाँ। डा० रामविलास शर्मा के इस कथन से कि जो यथार्थवादी धारा 'अप्सरा' 'अलका' के छायालोक में धुँधली थी वह यहाँ ('देवी' 'चतुरी चमार' तथा 'श्यामा' में) पूरी शक्ति से यथार्थ की धरती पर प्रवाहित हुई—सभी सहमत हैं। 'देवी' और 'चतुरी चमार' की कला ही 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' में निखरती है। आश्रम के निराला किसानों के बीच आ चुके थे। सरोज की मृत्यु हो चुकी थी। फलत: व्यक्तिगत गंगोत्री से फूटी हुई वेदना-गंगा समष्टि के मैदान में फैल चली। ऊपर हास्य-व्यंग्य का कलकल और तह में करुणा और आक्रोश की सघन और स्थायी भाव राशि।

यहाँ सबसे पहला प्रश्न उठता है—दृष्टि का—विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि का। कारण, सृष्टि 'दृष्टि' की ही परिणति है। निराला के पद्यबद्ध साहित्य की अपेक्षा इन कहानियों और उपन्यासों का स्वर बिना मेक-अप के यथार्थ का स्वर है जिसकी समझ और व्याख्या के लिए किसी विशेष 'दर्शन' की अपेक्षा नहीं हो सकती—उसे इन्सानियत के ही आलोक में समझा जा सकता है। इन्सानियत और 'मानवता' की भी व्याख्या दर्शन-विशेष के आलोक में तरह-तरह की, की जा सकती है—पर देवी, श्यामा, चतुरी चमार, कुल्लीभाट और बिल्लेसुर बकरिहा में अनुभव-गोचर होने वाली मानवीय भावना इतनी सामान्य है कि उसको किसी विशेष आलोक में ऐसी-वैसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं है। इस साहित्य में निहित मानवता जिस स्वर में फूटती है, जिनके बीच फूटती है—जिन दलितों के परिवेश में फूटती है—उसके लिए सहज मानवीय हृदय का होना ही पर्याप्त है। 'परदु:खकातर चेतना' को ही 'मानवता' का पर्याय मान लें—तो भी इस साहित्य की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है। हां, यह सवाल अवश्य उठता है कि ऐसा 'जनोन्मुखी' और

'लोकोन्मुखी' करुणा और आक्रोश से आपूरित रचनाकार का चेतना प्रवाह नव-जागरण पूर्व के मध्यकालीन साहित्य में क्यों नहीं मिलता ? बात यह है कि मध्यकाल का साहित्य या तो राजराजाश्रित है या राजाश्रित—जनसामान्य सर्वथा उपेक्षित है—कवि के कंठ से फूटने वाली आवाज में उसका दुःख-दर्द नहीं सुन पड़ता। यह सही है कि दबे-पिसे वर्ग से सन्तों और भक्तों का एक वर्ग अवश्य उभरता है—पर उसके कंठ में या तो अध्यात्म का स्वर है या आध्यात्मिक उपलब्धि के साधक-बाधक मूल्यों और अपमूल्यों का मण्डन-खण्डन है। नव-जागरण के आलोक में 'अंधेरे' का क्षितिज न केवल विस्तृत होता है अपितु खुरदरी धरती पर कहीं ज्यादा उतर आता है। यद्यपि नव-जागरण की चेतना मे भी अध्यात्म की गंध है—पर एक तो वह मध्यकाल की तरह एकान्त अन्तर्मुख नहीं है—दूसरे वह समाज की छाती पर उमड़ी और उभरी हुई रूढ़ियों से विमुख नहीं है। वहां मध्यकालीन 'मायावाद' की तरह संसार हेय और त्याज्य नहीं है—अपितु विवेकानन्द के नव्य-वेदान्त के 'शक्तिवादी' दृष्टि परिवर्तन से समाज और ससार सत्य और उपादेय बन गया है—ईश्वर की जगह मानवीय सम्भावनाओं ने ले ली और उसे चरितार्थ करने वाले तथाकथित धर्म की जगह समाज सेवा ने—मानव-सेवा ने। इन्सानियत के वक्षस् पर प्ररूढ़ उन तमाम विभाजक दीवारों को तोड़ने की आग भभक उठी जो न केवल उसे निर्ममतापूर्वक दबाए हुई थी—अपितु टुकड़ों-टुकड़ों में बांटे भी हुई थी। निराला मुख्यतः महाकवि है और अपनी काव्ययात्रा में वे आत्मवादी हैं—शक्तिवादी हैं। प्रगतिवादी समीक्षकों ने उनकी शक्ति को भले ही जड़ माना हो, जो राम की शक्तिपूजा के सन्दर्भ में असंगत है—पर उनके समग्र काव्य में चिन्मयी शक्ति ही मेरुदण्ड के रूप में स्थित है। अतः नव-जागरण के आलोक में उनके कथा-साहित्य में जहां यथार्थ अपनी प्रखरता में उभरकर आया है वहां भी 'मानवता' की व्याख्या आत्मवादी दृष्टि से ही होगी। यह चिदानन्दमय शक्तिवाद जो रचनाकारों को समाजोन्मुख करता है—नव-जागरण के अग्रदूत विवेकानन्द का ही प्रभाव है। यहां निवृत्ति नहीं, निवृत्ति-गर्भ प्रवृत्तिवाद है। यही प्रेमचन्द के मेहता और निराला का निष्काम कर्मयोग है।

मध्यकाल में औसतन नारी की धारणा एक बाधक रूप में है और साधक है भी तो शृंगार के आलम्बन रूप में। निराला की 'देवी' और 'श्यामा' ऐसी नहीं है। 'देवी' मे पहले तो निराला को सारस्वत साधना की, मौलिक लेखन की क्या कीमत चुकानी पड़ी—फटेहाल उपेक्षा का जीवन जीना पड़ा—इसका विवरण दिया गया है। उन्हें इस बात का दुःख है कि असत् प्रस्थान वाला कहाँ

पहुंचा और वे कहाँ रह गए ? वे उस अतीत को कोसते हैं जिसने ब्रह्मर्षि और राजर्षि तो घोषित किए पर वैश्यर्षि और शूद्रर्षि नहीं। बड़े होने के ख्याल से ही उनकी नसें तन जातीं। इन्हीं विचारों में लीन निराला ने सड़क पर असहाय पड़ी गूंगी-बहरी पगली को देखा और भावमग्न हो उठे। कई भावनाएं उमड़ आईं—यही वह रूप है जिसे कल्पना में लाकर कवि रचना करता है। दूसरी भावना यह कि इसे हिन्दू कहें या मुसलमान ? तीसरी यह कि उस स्त्री-भाव में उनकी बड़प्पन वाली भावना परास्त हो गई। चौथी यह कि जो लोग इसे देखकर हँसते हैं वे ही इस परिवर्तन में कारण हैं। पांचवें यह कि उसके ध्यान ने ही उन्हें ज्ञान-सम्पन्न कर दिया। उन्हें महाशक्ति की याद उसे देखकर आने लगी। इससे अधिक इस संसार का ज्ञान देनेवाला कौन होगा ? यह बिना कुछ कहे हुए धर्म, राजनीति, समाज और विज्ञान की शिक्षा संसार को दे रही है।

जो नारी मध्यकाल में औसतन पुरुष के उन्नयन में बाधक मानी जाती थी—वही भारतीय नव-जागरण की सांस्कृतिक चेतना के प्रखर प्रवक्ता 'प्रसाद' और 'निराला' की रचनाओं में उसकी मुक्ति का एकमात्र साधक घोषित हुई। इन रचनाकारों ने जीवन का स्वस्थ आधार 'राग' को माना—एकनिष्ठता उसका मेरुदण्ड घोषित हुई। उसके चरितार्थ होने की सारी मध्यकालीन रूढ़ियां निरस्त कर दी गईं—'श्यामा' लोध जाति की विधवा है—पर पं० रामप्रसाद का लड़का बंकिम मानवता की वेदी पर बैठकर तथाकथित रूढ़ियों का जाल हटाता हुआ निःसहाय श्यामा का हाथ पकड़ लेता है। 'कमला' कहानी में भी अबलाओं के उद्धार का स्वर गूंज रहा है। 'देवी' भी तो निराला की सहानुभूति का भाजन बन गई थी—संसार चाहे जिस आँख से देखे—निराला को, मानवता को जीने से कोई वंचित नहीं कर सकता।

नारी की भाँति वे अस्पृश्यों को भी अपनी खुली दृष्टि का भाजन बनाते हैं। उनकी रचनाकार चेतना को चतुरी चमार खींचता है। चतुरी के मनोविकारों को पढ़ते हुए निराला सोचते हैं—"वह एक ऐसे जाल में फँसा है जिसे वह काटना चाहता है—भीतर से उसका पूरा जोर उमड़ रहा है, पर एक कमजोरी है—जिसमें बार-बार उलझकर रह जाता है।" यानी उसमें बेगारी वाले अन्याय से लड़ने का संकल्प तो है—पर साधन कहाँ है—अपने भीतर की आवाज को बधिर आफिसर को कैसे सुनाए ? वह तो सुनाने से रहा—पर वह यह अवश्य चाहता है कि उसकी संतति में उसकी और साथ ही निराला की सारस्वत चेतना आ जाय। उत्तम और आकर्षक ढंग से पकाए गये मांस के

आकर्षण से लोध, पासी, धोबी और चमारों का भोज निराला के यहाँ बराबर चलता था। इस तरह उनका मकान साधारण जनों का अड्डा बन गया। निरालाजी के सुपुत्र ने अर्जुनवा (चतुरी का बेटा) को पढ़ाना शुरू किया—पर एक तो वह निरालाजी की तरह स्वयं चमटोल न जाकर अपने ही बुलाते और साधारण-सी अक्षमता पर उस पर वैसे ही टूट पड़ते जैसे मत्त गजराज पर सिंह-शावक। यह सब ब्राह्मण संस्कार का प्रभाव था। निरालाजी की प्रतिक्रिया है—"चमार दबेंगे और ब्राह्मण दबाएँगे। दवा है—दोनों की जड़ें मार दी जाँय—पर यह सहज साध्य नहीं।" निराला अर्जुन को अपनी ही तरह आदमी समझकर पढ़ाते थे—उनके चिरंजीव में अर्जुन की त्रुटियों को बर्दाश्त करने का धैर्य नहीं था—अतः निराला ने यह काम फिर अपने हाथ में यथासम्भव ले लिया। इससे कहीं ज्यादा चिन्ता थी इन चतुरी चमारों की स्थायी समस्या से जूझना—जिसके लिये उन्हें घोर देहात में इनके बीच जाकर अन्याय के खिलाफ लड़ने की हवा भरनी थी—पर प्रमाण और गवाही के अभाव में सब व्यर्थ जाता।

निराला की दृष्टि बड़ी पैनी थी—जिस कुल्लीभाट में लोग न जाने क्या-क्या देखते थे—वहीं निराला की क्रान्तदर्शी दृष्टि उनमें निहित सम्भावना, मानवीय सम्भावना—को भी आंक लेती थी। मानवता को बाँटने वाली तमाम दीवारों को ढहाकर निर्भीक जीवन जीने वाले समाजसेवी कुल्लीभाट के प्रति उनकी निष्ठा विस्मयावह थी। कुल्लीभाट में जीने के स्तर पर उभरी और प्रतिष्ठित हुई जिस मानवता की अपरोक्षानुभूति निराला को हुई—उस मनोदशा में सहसा कह पड़े—"जो कुछ पढ़ा है—कुछ नहीं, जो कुछ किया है, व्यर्थ है, जो कुछ सोचा है—स्वप्न है। कुल्ली धन्य है! वह मनुष्य है—इतने जम्बुकों में वह सिंह है। वह अधिक पढ़ा-लिखा नहीं, लेकिन अधिक पढ़ा-लिखा कोई उससे बड़ा नहीं। उसने जो कुछ किया है—सत्य समझ कर।" अछूतोद्धार के लिए कुल्ली की आत्मा तड़प उठती थी। निरालाजी लिखते हैं—"कुल्ली की आग जल उठी। सच्चा मनुष्य निकल आया, जिससे बड़ा मनुष्य नहीं होता। प्रसिद्धि मनुष्य नहीं। यह मनुष्य बड़े-बड़े प्रसिद्ध मनुष्य को भी नहीं मानता, सर्वशक्तिमान ईश्वर की भी मुखालिफत के लिए सिर उठाता है, उठाया है। इसी ने अपने हिसाब से सबकी अच्छाई और बुराई को तौला है और संसार में उसका प्रचार किया है। संसार में कब उतरा?" निराला महाप्राण थे—उन्हें 'नारि मुई गृह सम्पत्ति नासी' वाले को निवृत्तिमार्गी होना कतई पसन्द नहीं है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला की इसी चेतना के संघर्षशील मूर्तिमान रूप हैं।

उनके कथा-साहित्य के साक्ष्य पर यह स्थापना ठीक उतरी है कि वे महामानव थे। इसकी राह में लोगों को उनका मांस-भक्षण, मदिरापान तथा इनकी उनकी नाद में मुँह मार देना बड़ा बाधक लगता है। उन्होंने यों तो रामचन्द्र के त्रेतायुग के एक ऋषि का उल्लेख किया है जो कबाब खाता था और ऋषि-चर्चा करता था। कमजोरियों का शिकार होकर भी यदि व्यक्ति इन्सानियत के प्रति अटूट निष्ठावान है—तो वह परमोच्च मानव है।

गीताकार श्रीकृष्ण तक इस सत्य की दाद देते हुए कहते हैं—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता—९/३०)

यदि कोई व्यक्ति दुराचारी ही नहीं, भयंकर दुराचारी ही क्यों न हो—पर यदि मानवता को निष्ठापूर्वक जीता है तो वह न केवल साधु है—बल्कि 'साधु ही' है। निरालाजी साधु ही थे।

निराला और परवर्ती हिन्दी कविता

डॉ० रमेशचन्द्र शाह

१. □ भूलकर जब राह—जब जब राह'' भटका मैं
तुम्हीं झलके हे महाकवि
सघन तम की आँख बन मेरे लिए…" —शमशेर बहादुर सिंह

सुविधा की तहज़ीब से बाहर
जहाँ चौधरी अपना चमरौंधा
उतार गए हैं कविता में
वहीं कहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिन्दु है

लेकिन एक जरूरतमंद चेहरे के अलावा
वह धूमिल नहीं
एक डरा हुआ हिन्दू है…. —धूमिल

२. चिंतन प्रसाद ने अधिक किया। काव्य निराला का श्रेष्ठ है। शब्द का ज्ञान पन्त का सबसे सूक्ष्म है। प्रसाद पढ़ाये जाएंगे। पन्त से सीखा जायगा। निराला पढ़े जाएँगे। (अज्ञेय—भवन्ती, पृ० ७८)

★

वात्स्यायन जी के घर पर मैंने कभी निराला का एक कविता-संग्रह देखा था जिसे खुद निराला ने उन्हें भेंट किया था। लिखा था "टु अज्ञेय, दि फोरमोस्ट पोएट" और दस्तखत करते हुए अपने नाम का केवल प्रथम अक्षर लिखकर (Ni…) छोड़ दिया था। वह मेरे लिए उस तरह अप्रत्याशित तो नहीं, पर थोड़े सुखद अचरज की बात थी। क्यों थी, इसका खुलासा यूँ करूँ कि प्रेमचन्द का एक अंग्रेजी में लिखा और 'लीडर' में छपा लेख मैंने कवि श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के घर पर देखा था उन्हीं दिनों, जिसमें प्रेमचंद ने नए संभावनाशील लेखकों में जैनेन्द्र को 'दि मोस्ट आउटस्टैंडिंग एमंग फिक्शन राइटर्स' बताते हुए उसके बाद "मोस्ट टेलेंटेड' तीन लेखकों के नाम और गिनाये थे, जिनमें पहला नाम अज्ञेय का था। यहाँ ये दोनों प्रसंग महज कुतूहल

उपजाने के लिए नहीं, बल्कि इस सवाल के सिलसिले में ही याद आए कि एक बड़े लेखक—युगप्रवर्तक कहला सकने योग्य लेखक का अपनी परवर्ती पीढ़ी से कैसा क्या रिश्ता होता है। वह उसकी रचनात्मक क्षमता को किस तरह आँकता है। कौन से गुण, सृजनात्मक गुणवत्ता की कौन सी कसौटी उसके भीतर काम कर रही होती है, जब वह अपनी जगह लेने वाली पीढ़ी के रचनात्मक प्रयत्नों को परखता है ? क्या वह—जो वह कर चुका है और जिस तरह कर चुका है—उसी के अनुकारी दुहराव से संतुष्ट होता है ? क्या वह, उसके अपने जो तत्कालीन आग्रह या विचार हैं, उन्हीं के हिसाब से आगामी पीढ़ी से अपनी प्रत्याशाएँ निर्धारित होने देता है ? वह अनुयायी पसन्द करता है या, स्वाधीन अर्थान्वेषी ?

उत्तर असन्दिग्ध है। माना कि लेखक, बड़ा लेखक भी कई बार सामान्य राग-द्वेष, पसन्द-नापसन्द से परिचालित हो सकता है; यह भी हो सकता है कि वह नई प्रतिभा की परख और पहचान करने के प्रति उदासीन हो, उसे अपना दायित्व ही न माने। उस तरह यह भी हो सकता है कि वह अपने निकटस्थ अपेक्षाकृत न्यूनतर क्षमता के लेखकों को उदारतापूर्वक आगे बढ़ाता, प्रोत्साहित-संवर्धित करता हुआ दीखे और अधिक प्रतिभाशाली सर्जक के प्रति अवहेला का रुख अपनाए। किन्तु यह सब सतही बातें हैं जिनका कला-साहित्य के वास्तविक इतिहास में कोई अर्थ नहीं होता। साहित्य में परम्परा या उत्तराधिकार का प्रश्न इतना सीधा सपाट कभी नहीं हुआ करता जितना उसे हम बनाना चाहते हैं। और महाप्राण प्रतिभा स्वयं अपने अनुभव के अन्तः साक्ष्य से अच्छी तरह जानती है कि वास्तविक रचना-शक्ति महाप्राण और दुर्दम्य ही हुआ करती है; वह अपना रास्ता खुद बनाती है और उसे प्रोत्साहन-संरक्षण की ज़रूरत उस तर्क से नहीं हुआ करती जिस तर्क से अपेक्षाकृत अल्पप्राण क्षमता वालों को।

समकालीन कविता के लिए 'छायावाद की प्रासंगिकता' का मनन करते हुए मैंने जहाँ एक ओर इसी नाम की अपनी पुस्तक (१९७३ ई०) में निराला को "पहला प्रयोगवादी" कहा था, वहीं दूसरी ओर उनकी लम्बी कविता "तुलसीदास" को उनके जीवनव्यापी कविकर्म की शिखर उपलब्धि के रूप में देखा था। देखा था इसलिए कहना पड़ रहा है कि अपने समकालीन समानधर्माओं के बीच निराला की जैसी जो भी चर्चा होती थी, उसमें इस कविता का उल्लेख नदारद होता था। पता नहीं क्यों ? स्टीफेन स्पेण्डर ने कहीं अपने संस्मरणों में एलियट के "दि वेस्ट लैण्ड" के अपने पहले-पहले पाठ के अनुभव को दर्ज करते हुए लिखा है कि ऐसी अद्भुत लयात्मक उत्तेजना

उन्होंने कभी किसी कविता को पढ़ते हुए महसूस नहीं की थी। मेरा अपना अनुभव भी निराला के "तुलसीदास' को पहली बार पढ़ने का लगभग वैसा ही था। पहली बार मेरी समझ में आया कि वह जो कहा जाता है कविता के बारे में कि उससे मिलने वाले आनन्द और मूल्य का रहस्य ही इस बात में निहित है कि वह अधिकतम बन्धनों और अवरोधों के भीतर से अधिकतम स्वतंत्रता और अधिकतम प्रवाह अर्जित करके दिखाती है और इस प्रकार प्रतिरोधों पर विजय प्राप्त करने का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करती है जो दरअसल हमारे अन्तरतम की सबसे बड़ी मांग है। कविता से मिलने वाली विशिष्ट आत्मानुभूति और आत्मविश्वास का यही रहस्य है। स्वभावतः इसमें कविता की वह दूसरी शक्ति भी अन्तर्भुक्त है जिसे कॉलरिज ने 'रिकॉन्सिलिएशन ऑव अपोजिट्स'—'दूर और असमान लगती चीजों को आपस में जोड़ने की शक्ति' कहा था और हमारे आचार्य शुक्ल ने 'विरुद्धों का सामंजस्य'। कहना न होगा कि यह सामर्थ्य छायावादी कवियों में सबसे ज्यादा निराला में दीखता है और 'तुलसीदास' में विशेष रूप से।

इस पर से मेरे मन में आता है सहज ही, कि कविता का यह गुण, यह वैशिष्ट्य तो उसकी बुनियादी अर्हता और पहचान है : ऐसा तो है नहीं, कि यह बात किसी एक विशेष युग की या विशेष प्रकार की कविता पर ही लागू होती हो। हर युग में कविता इसी शक्ति के बूते अपना काम करती आई है। तो क्या कारण है कि निराला का जो काव्य सर्वाधिक इस शक्ति का अनुभव हमें कराता है, उसी से मानो जानते-बूझते कतराने की प्रवृत्ति हमारे यहाँ परवर्ती दौर में बलवती होती है? इतना ही नहीं, निराला-काव्य के पीछे कार्यरत जो सबसे गहरी प्रेरणा है—भक्ति की, आध्यात्मिक संवेदना की—जो एकदम आरंभ की गीतियों से लेकर ठेठ अन्त तक बराबर देखी जा सकती है, उसे भी न केवल नज़रअंदाज करने की, बल्कि एक तरह की अपव्याख्या में घटाकर झुठलाने की भी कोशिश साहित्यिकों के ही एक समुदाय द्वारा बराबर की जाती रही है। 'आराधना' और 'अर्चना' के गीतों को अस्वस्थता के कारण उत्पन्न "रिग्रेशन" (पलायन) निरूपित किया जाता है। जैसे यह निराला का सहज-स्वाभाविक स्वर न होकर एक मनोवैज्ञानिक रुग्णता हो, कवि के भीतर दबा-पिछड़ा हुआ एक प्रगतिद्रोही संस्कार, जो बीमारी में मौक़ा पाकर उभर आता है और इसलिए, जिसे अनदेखा करना ही उचित और न्यायसंगत है। सवाल यह है कि कविता की ऐसी प्रगतिशील व्याख्या क्या सचमुच स्वयं निराला के अपने मानदण्डों के अनुसार और सभी युगों के काव्य-मर्मज्ञों के कवित-विवेक के अनुसार भी जायज़ है? निश्चय ही नहीं।

तब फिर ऐसी अनर्गल और अनर्थकारी दृष्टि के रूप में एक समूचे दौर को प्रभावित कर पाती है, तो उसका परिणाम और क्या हो सकता है सिवा इसके, कि न केवल हम निराला के 'विरुद्धों का सामंजस्य' करने वाले कवि-कर्म से उसकी सम्पूर्णता में प्रतिकृत और लाभान्वित होने से खुद को वंचित कर लेते हैं, बल्कि उस ज्ञान-परम्परा और सृजन-परम्परा से भी हमारा सम्बन्ध एक तरह के बाँझपन का शिकार हो जाने को अभिशप्त हो जाता है, जिस ज्ञान-परम्परा और सृजन-परम्परा के स्रोत से सीधा सर्जनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने और उस रास्ते में रुकावट पैदा करने वाले स्वयं उसी परम्परा के भीतर समाविष्ट अवरोधों की सही पहचान और सही प्रतिकार की क्षमता के कारण ही निराला निराला हैं। चित्रकूट में तुलसीदास को जो 'विजन' दिखाई देता है, वह क्या हमारे अपने ही भीतर के मरुप्रदेश का 'विजन' नहीं है एक तरह से ?

कहता प्रति जड़, जंगम जीवन !
भूले थे अब तक बन्धु प्रमन
यह हताश्वास मन भार श्वास भर बहता
तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि
देखो यह धूलि-धूसरित छवि
छाया इस पर केवल जड़ रवि खर दहता

यह धूलि-धूसरित छवि और क्या है ? उसी 'भारत के नभ के प्रभापूर्य और शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य' की ही विडम्बना न, जिस पर अब केवल जड़ रवि खर दहता है, जहाँ "उदरम्भरि जन" केवल दुख देकर जाते हैं और जहाँ "स्मृति की पृथ्वी" क्षण-क्षण असुरों से पददलित होती रहने को अभिशप्त है। तुलसीदास जैसे इसी मरुप्रदेश को, सम्यक् स्मृति से पुनर्जीवित करने को आए हों, इस तरह वह धूलि-धूसरित छवि उनका आवाहन करती है :

लो चढ़ा तार—लो चढ़ा तार
पाषाण-खण्ड ये करो हार
दे स्पर्श अहल्योद्धार-सार उस जग का

किन्तु जिस स्रोत से यह कवि यह 'अहल्योद्धार-सार' खींच सकता है, वहाँ भी कवि को रवि की आभा "राहु-ग्रस्त" दीखती है। कैसी छाया है यह, जो भारत के "सम्यक् देश-काल" को "तम-शेष जाल" की तरह खींच रही है; 'वृहद्' और उसके बीच एक फाँक—कवि के शब्दों में, 'अन्तराल' पैदा करती हुई। ('बिटवीन दि आइडिया ऐण्ड दि ऐक्ट फॉल्स दि शैडो"—एलियट के 'हॉलो मैन' की पंक्ति मन में अनायास ही प्रतिध्वनित होने लगती है)। कैसी फाँक है यह, कैसा अन्तराल—जिसमें, परवर्ती कवि

मुक्तिबोध के शब्दों में 'उदरम्भरि' (इस शब्द का प्रथम प्रयोग हमें, निराला के तुलसीदास में ही मिलता है) बनने की परिणति अपनी आत्मा खोकर अनात्म बन जाने में होती है। निराला इसे किस तरह देखते हैं अपने 'तुलसीदास' में ?

बँध भिन्न भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर हुए विकल
पूजा में भी प्रतिरोध अनल है जलता
हो रहा भस्म अपना जीवन
चेतना-हीन फिर भी चेतन
अपने ही मन को यों प्रतिमन है छलता।

और, यह भी, कि यह प्रतिमन, यह अनात्म ही 'अनात्मस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्' के तर्क से अपना निमित्त खोज लेता है :

इसने ही जैसे बार-बार
दूसरी शक्ति की की पुकार
साकार हुआ ज्यों निराकार जीवन में

यही अनात्म हमारी चेतना पर कुण्डली मारकर बैठ गया है: "यह उसी शक्ति से है वलयित"। इसी ने भारत को, उसके सम्यक् देश-काल की चेतना को मर्माहत किया है; इसी के प्रवाह में देश मूल खोकर बह रहा है : चाहे उसका व्यक्त रूप मुगल राज हो, चाहे अंग्रेजी राज।

निराला इस "दर्शन" को यहीं तक नहीं रखते; वे उसे स्पष्ट मूर्त भी कर देते हैं : मुक्तिबोध को जो "उदासी से पुती गायें" दिखी थीं—क्या उनका सीधा सम्बन्ध निराला के "मूक-भाष पशु" सदृश दीन क्षीण कंकालों से ही नहीं है ? देश तो पहले ही हत-बल हो चुका था—वर्णाश्रम व्यवस्था की उस घोर ग्लानि और विडम्बना के चलते—जहाँ नाममात्र के क्षत्रिय और चाटुकार द्विज कबके स्वधर्म से च्युत हो चुके हैं....और

वे शेष श्वास, पशु मूक-भाष
पाते प्रहार अब हताश्वास;
सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विजगण के
होता ही उनका धर्म परम
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम
वे चरण—चरण बस, वर्णाश्रम-रक्षण के

इसी अन्धेपन का परिणाम, निराला के 'तुलसीदास' के शब्दों में :—

रक्खा उन पर गुरु-भार विषम
जो पहला पद, अब मद-विष सम

द्विज लोगों पर इस्लाम-क्षम वह छाया,
जो देश-काल को आवृत कर
फैली है सूक्ष्म मनोनभ पर
देखी कवि ने समझा अब—वर, क्या माया।

इसी 'तम का आसन' पी-पी कर सब आत्म-विस्मृत हो चुके हैं। तब क्या उपाय है इस आत्मविस्मृति के अंधकूप से उबरने का, अपने सांस्कृतिक आत्मविश्वास को पुनः प्राप्त करने का ? उत्तर है : "जीवन के प्रखर ज्वार' में बहते हुए सत्य-मार्ग पर स्थिर रहकर 'विरोध से द्वन्द्व-समर' की चुनौती स्वीकार करना। तुलसीदास-यानी निराला का आदर्श कवि—वह चुनौती स्वीकार करता है :

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छायातम हरने को
करने को ज्ञानोद्धत प्रहार
तोड़ने को विषम वज्र-द्वार;
उमड़े, भारत का भ्रम अपार हरने को।

जड़ और चैतन्य के इसी दुर्धर्ष समर से वह अकल-कला प्रकट हो सकती है जो सकल छिन्न को गहकर जोड़ेगी। क्या ही विचित्र विरोधाभास है कि परम विद्रोही कवि निराला अपनी रचना के केन्द्र में जिस पूर्वसूरि का आवाहन करने को प्रेरित हुए हैं, वह विद्रोही कबीर नहीं मर्यादावादी तुलसीदास हैं। किन्तु यही तो निराला का निरालापन है; जिसने उनसे एक ओर 'तुलसीदास' और दूसरी ओर 'कुकुरमुत्ता" की रचना करवाई। निश्चय ही उनके लिए तुलसी की मर्यादा और भक्ति पूरा महत्व रखती है : अपने आराध्य आदर्श कवि और कल्चर-हीरो की तरह वे हमारे आज के मुहावरे के 'सेकुलर' अभिधान में अँटने वाले कवि नहीं हैं; किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि वे कवि और उसके विशिष्ट कर्म को किस तरह देखते और दिखाते हैं—उनके लिए अपने किसी अग्रज कवि की महत्ता का ही नहीं, प्रासंगिकता का भी निकष क्या है ?

देश-काल के शर से बिंधकर
वह जागा कवि अशेष, छविधर
इनका स्वर भर भारती मुखर होयेंगी

किसी ने कहा है कि 'सच्चा कवि भाषा का स्वामी नहीं, सेवक होता है'। इस सिलसिले में निराला की विनम्रता देखने लायक है। कई जगह वे हिन्दी

प्रयत्नपूर्वक सीखे होने की बात करते हैं और उसी विनत शिष्य भाव की सुदीर्घ साधना की परिणति पर पहुंचकर वे अपने पाठक को हिन्दी सिखाने की बात करते हैं। 'बेला' की भूमिका ही देख लीजिए। निराला अपनी मातृभाषा से, उसकी व्यंजना-शक्ति से इस कदर अभिभूत दिखाई पड़ते हैं मानो कह रहे हों— "देखो, यह है हिन्दी की महिमा। मैं कौन होता हूँ कविता करने वाला? कवि तो असली यह भाषा खुद है।" लगता है, वे जहाँ एक ओर बंगला की कोमलकान्त पदावली से—खासकर रवीन्द्रनाथ द्वारा अर्जित काव्यभाषा से अभिभूत थे, वहीं उन्हें भीतर ही भीतर कहीं यह भी लगता था कि खड़ी बोली हिन्दी का कलेजा उससे ज्यादा बड़ा है. उसमें प्रदेश की अपेक्षा देश बोलता है और बड़ी गूँज के साथ बोलता है। निश्चय ही रवीन्द्र से स्पर्धा अनुभव करते हुए उन्हें अपनी काव्यभाषा अपर्याप्त भी लगी होगी और इस अपर्याप्तता से जूझते हुए—उसके साथ—एक बच्चा जिस तरह अपनी माँ से जिद करके अपनी बात मनवा लेता है—ठीक उसी तरह अपनी मातृभाषा से मचलते-जूझते हुए निराला ने वह लाघव कमाया जो उनसे पहले कोई नहीं कमा सका था। कितना मार्मिक लगता है गाँधी-रवीन्द्र विवाद में उनका गाँधी का पक्ष लेकर रवीन्द्रनाथ से भिड़ जाना और हिन्दी भाषा और साहित्य का पक्ष लेकर स्वयं गाँधी जी को खरी-खोटी सुनाना। परवर्ती कवियों के लिए निराला से जो सबसे अधिक सीखने की चीज़ थी, वह यही थी—अपनी भाषा और अतएव अपनी संस्कृति से फलप्रद सम्बन्ध बनाने के लिए कितनी लम्बी, कितनी गहरी साधना चाहिए, कितना अधीर और कितना सहज आस्थावान् संघर्ष उसके साथ अपेक्षित होता है—ठीक-ठीक अपने मन की बात उससे कहलवाने के लिए—इसका प्रत्यक्ष वस्तुपाठ। ध्यान देने की बात है कि यह रूढ़ि-पालक और सुरक्षाप्रिय आस्था नहीं है, जोखम उठाने वाली और जोखम से ही निखरने वाली विद्रोही आस्था है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस विद्रोही कवि की कविता में ही हिन्दी साहित्य के भक्तियुग और रीतियुग की सबसे स्पष्ट अनुगूँजें सुनाई देती हैं। खड़ी बोली हिन्दी उनके लिए समूचा हिन्दी साहित्य है, बल्कि कहना चाहिए, संस्कृत का भी सबसे सीधा और सबसे प्रत्यक्ष उत्तराधिकार है। ऐसे ही कवि को यह कहने का ('गीतिका' की भूमिका में) सच्चा-पूरा अधिकार है कि "खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की ऊँची से ऊँची सौन्दर्य भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी। उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है।"

निराला की संवेदना जितनी विस्तृत और समावेशी है, उनकी भाषिक चेतना भी उतनी ही समावेशी है। वे अपने कवित्व को हिन्दी के पूरे शरीर

में—कहें, समूचे ऐतिहासिक प्रसार में स्पन्दित देखना चाहते हैं। वे संस्कृत से अभिभूत होंगे—अंधाधुंध भरती करेंगे संस्कृत शब्दों को; मगर सिखायेंगे उन्हें चलना हिन्दी के ही मुहल्ले में और हिन्दी की ही चाल से। उर्दू भी उनके लिए एक चुनौती की शक्ल में पेश हुई। शायद एक ही छूट थी जो अभी तक जमकर नहीं ली गई थी हिन्दी कविता में : ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करने की। निराला ने वह भी ले डाली और हिन्दी पद्य में कुछ-कुछ उस किस्म की चीज़ पैदा कर डाली जिसे अंग्रेजी में 'स्प्रंग रिद्म' कहा जाता है :

नाई, धोबी, तेली, तम्बोली, कुम्हार
फीलवान, ऊँटवान, गाड़ीवान

पहली पंक्ति में नाई और तेली को ह्रस्व करके पढ़ना पड़ता है, तो दूसरी में दो जगह विराम लेते हुए। इसके तुरन्त बाद इस अटकाव को राहत देती हुई पंक्ति आ जाती है जो मुस्लिम के साथ हिन्दू को भी ह्रस्व कर देती है :

एक खासा हिन्दू - मुसलिम खानदान
एक ही रस्सी से किस्मत की बंधा
काटता था जिन्दगी गिरता सधा

प्रारंभ में जहाँ झोपड़ों की ज़िन्दगी अपनी समूची स्थानिक विवरणात्मकता में मूर्त की गई, वहीं यहाँ आते-आते वह बिम्ब, वह दृश्य पूरे हिन्दुस्तान का दृश्य और आईना बन जाता है। झोपड़ों की ज़िन्दगी समूचे देश की ज़िन्दगी से एकाकार हो जाती है।

यह स्वतंत्रता, यह सोच निराला ने यों ही नहीं कमा ली थी। इसके पीछे सुदीर्घ अनुभव से उपलब्ध आत्मविश्वास सक्रिय था। मुक्त छन्द की स्वतन्त्रता के उस प्रथम अनुभव का भी, जहाँ पंक्तियाँ और शब्द आवश्यकतानुसार लयाधार को क़ायम रखते हुए घटाए-बढ़ाए जा सकते हैं, स्वराघात बदलते रह सकते हैं और तुकों को भी पास या दूर विन्यस्त किया जा सकता है। या उनकी जगह स्वरों की सूक्ष्मतर प्रतिध्वनियों से काम लिया जा सकता है। अकारण नहीं, कि छंद का यह सर्वाधिक समर्थ प्रयोक्ता मुक्तछन्द का प्रणेता बना। निराला मुक्तछन्द से बँधे छन्द में और नियमित छन्द से मुक्त छन्द में बराबर आते-जाते रहे। अपनी खोज-उपलब्धि से चिपककर उसकी संभावनाओं को उन्होंने एकबारगी चुका नहीं दिया। यह अध्ययन दिलचस्प होगा कि नयी कविता में अज्ञेय, शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा आदि कवियों के यहाँ इस दृष्टि से—लयात्मक विन्यासों की दृष्टि से निराला के प्रयोग कहाँ तक आगे बढ़े। यहाँ उसका अवकाश नहीं है। पर देखना चाहिए कि

जिस तरह की उत्सुकता-जिज्ञासा निराला अपने अग्रज कवि प्रसाद के प्रति जाहिर करते हैं, क्या निराला के परवर्ती कवियों में अपने कवि-कर्म को लेकर उस प्रकार की जिज्ञासा और सजगता अपने अग्रजों के प्रति दिखाई देती है? स्पष्ट ही निराला के लिए प्रसाद का योगदान दुहरे स्तर पर मूल्यवान ठहरता है: एक तो काव्य-शिल्प के स्तर पर (जिसका संकेत रामस्वरूप जी ने प्रसाद को लिखे गए निराला के एक पत्र को उद्धृत करते हुए उभारा है) और दूसरे भारतीय समाज में एक ऐतिहासिक अस्मिता-बोध या कि नियति-बोध जगाने का कार्य, जिसने स्वाधीनता-संग्राम के उस चरण पर आस्था का पुष्ट आधार जुटाया। निराला के लिए वह भी निश्चय ही युगधर्म का निर्वाह और प्रगतिशीलता का मानदण्ड रहा होगा—जिसमें उनका स्वयं का योगदान भी सहज ही शामिल था। उनके लिए प्रसाद प्रेमचन्द से कम प्रगतिशील नहीं रहे होंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता दोनों के प्रेरक बीज निराला काव्य में हैं, किन्तु विडम्बना यह है कि प्रगतिशीलता की जो व्यापक अवधारणा और चरितार्थता हमें निराला में मिलती है, परवर्ती काल में उसे कुछ इस तरह संकुचित और इकहरा बना दिया गया कि हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास-क्रम में उससे गड़बड़ियां पैदा हुईं और रचनात्मक ऊर्जा का अपव्यय भी हुआ। निराला जन्म शताब्दी वर्ष में हमें इस दृष्टि से इस सारे परवर्ती काल का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए। स्वयं निराला के किए धरे से कविकर्म के स्तर पर फलदायी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और उस तरह सामान्यतः समूचे साहित्यिक रचना-क्रम को उसकी वास्तविक धुरी पर प्रतिष्ठित करने के लिए भी यह अनिवार्य है।

★

मैथिलीशरण गुप्त न खड़ी बोली को सर्वप्रथम स्वाभाविक रूप से उसके अपने सहज उपयुक्त छन्दों में चलना फिरना सिखाया था। प्रसाद ने अतुकान्त ब्लैंक वर्स का उपयोग करके और पंक्ति के बीच में कहीं भी विराम दे सकने की स्वतंत्रता अर्जित करके छान्दस अभिव्यक्ति में एक नई लोच पैदा की, उसे एक क़दम और आगे बढ़ाया। आलोचक एफ०आर० लीविस ने कहीं लिखा है और ठीक लिखा है कि·····"द ओन्ली टेक्नीक दैट मैटर्स इज़ दैट व्हिच कम्पैल्स वर्ड्स टु एक्सप्रेस एन इन्टेन्सली पर्सनल वे ऑफ़ फीलिंग सो दैट द रीडर रैस्पौण्ड्स नॉट इन ए जनरल वे दैट ही नोज़ बिफोरहैण्ट टु बी पोएटिकल, बट इन ए प्रिसाइज, पर्टीकुलर वे दैट नो फ्रीक्वेन्टिंग ऑव पॉपुलर एन्थॉलॉजीज़ कुड हैव मेड फेमिलियर टु हिम।" प्रसाद की 'प्रेम पथिक' या 'कचाई' अथवा निराला की 'शेष' काफी शुरुआत के दिनों की रचनाएँ हैं; पर

उन्हें पढ़ते हुए हम एक ताज़गी अनुभव करते हैं क्योंकि वे महज़ 'शिल्प' नहीं, बल्कि आविष्कृत शिल्पविधियाँ हैं। हम एक नए और प्रत्याशित स्वर से संवेदित होते हैं और नये ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं। कहना न होगा कि यह हर दौर के कवि की समस्या है : कविता लिखने के लिए महज़ कवि की उत्तेजित मनःस्थिति ही काफी नहीं होती, इस तथ्य पर बल देना आज जितना जरूरी लगता है, उतना शायद ही कभी लगता होगा।

प्रत्येक कवि में विलक्षणता का तत्त्व पहले अनगढ़ होता है। धीरे-धीरे ही उसमें मँजाव-पकाव आता है। पहले व्यक्तिगत प्रतिभा अपना अलग वैशिष्ट्य स्थापित करती है। धीरे-धीरे ही वह उस चीज़ को जज्ब करती है जिसे हम जातीय प्रतिभा या जातीय स्मृति कह सकते हैं। सार्थक कवि-कर्म की यह अनिवार्य दिशा है। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य कम नहीं होता : पर अब उसमें अधिकाधिक भाषा का इतिहास बोलने लगता है। बक़ौल एलियट, कवि के पुरखे भी बोलने लगते हैं और कवि का समूचा युग-परिवेश उसकी संवेदना की नोक में बिंध आता है।

जिस सहज आत्मविश्वास के साथ छायावादी कवि जातीय स्मृति के साथ अपना सृजनात्मक सम्बन्ध जोड़ सके थे, वह आज अधिकाधिक दुर्लभ होता जा रहा है। निस्सन्देह अपनी परिस्थिति की प्रतिच्छाया कवि को आसानी से अपनी काव्य-परम्परा में नहीं दीखती होगी। परन्तु इससे वह जरूरत तो समाप्त नहीं हो जाती। उसके लिए जिस आत्म-सजग अध्यवसाय की—अज्ञेय के शब्दों में—पूरी संस्कृति से आत्म-दर्शन की—जरूरत होती है—उसका फ़िलहाल अकाल ही पड़ा दीखता है।

छायावादी काव्यान्दोलन ने जहाँ एक ओर कवि की निजी वैयक्तिक स्मृति को उत्तेजित किया, वहीं दूसरी ओर उसमें इस वैयक्तिक स्मृति की नवजात सक्रियता के साथ-साथ जातीय स्मृति का भी सहज उद्रेक हो सका था और उस युग की कविता को नये रूपाकार दे सका था। समकालीन कविता तक आते-आते वह प्रवाह एक बार फिर सूख चला है। सवाल यह नहीं है कि उस परम्परा से अपनी रचना का ताल-मेल कैसे निभाएँ? न यही, कि पुराने मिथकों को कैसे अपनी कविता में ज्यादा से ज्यादा भुना डालें। वह तो नयी कविता ने भी खूब किया। सवाल यह नहीं है। सवाल है, अपनी अस्मिता की खोज का, परम्परा के साथ वास्तविक संघर्ष और वास्तविक आत्मीयता के रिश्ते में ढलने का। यह ठीक है कि जितना जो कुछ वे मानकर चल सकते थे, वैसा मानकर चलने की सुविधा हमें नहीं है। हो सकता है हमारी परिस्थिति अधिक जटिल हो। पर इसी का क्या भरोसा है कि जो कुछ हम मानकर चल रहे हैं, वही प्रामाणिक है? हमीं ने अपनी मान्यताओं को कहाँ तक खुद अर्जित किया है? ●

समावेशी आधुनिकता के कवि : निराला

प्रो० (डॉ०) धनंजय वर्मा

सम्पूर्ण छायावादी काव्य में ही नहीं, आधुनिक काव्य के पूरे विस्तार में अपने अनुभव संसार की विविधता, रचनात्मक समृद्धि और प्रौढ़तर काव्य-व्यक्तित्व के लिहाज़ से जितना आधुनिक और प्रासंगिक काव्य निराला का है, उतना किसी आधुनिक कवि का नहीं। उनका काव्य और व्यक्तित्व दोनों आधुनिकता की समग्र चेतना से सम्पन्न और समकालीन अन्तर्विरोधों से समृद्ध और बोध के स्तर पर समकालीन संकटों के तीखे रचनाशील तनाव की परिणतियों से स्पंदित है। उनका व्यक्तित्व, उनके काव्य के केन्द्र में है लेकिन उनका व्यक्तित्व काव्य अभिव्यक्ति में जितना निस्संग है उतना किसी आधुनिक कवि का नहीं। काव्य में व्यक्तित्व से निस्संगता तभी सार्थक होती है, जब व्यक्तित्व में एक उद्दाम जिजीविषा और जीवन के सारे अन्तर्विरोधों में जीने का दमख़म हो। निराला का काव्य-संसार प्रसाद की तरह क्रमशः और उत्तरोत्तर विकास नहीं करता, वह एकबारगी ही गहराई और व्यापकता, रचनात्मक ऊँचाई और प्रगाढ़ता में प्रस्फोट करता है, 'एक्सप्लोड' होता है। यह रचनात्मक 'एक्सप्लोजन', प्रस्फोटन, कई प्रतिभाओं में होता है लेकिन फिर उनमें उस रचनात्मक ऊर्जा का संवरण नहीं होता, वह क्षीण होती-होती खुद को दुहराने लगती है या फिर प्रचलित समसामयिकता में क़ैद और ख़त्म हो जाती है। निराला में काव्य प्रतिभा की उद्दाम ऊर्जा का निरंतर संवरण ही नहीं, संगति भी मिलती है। वे अपनी सम्पूर्ण काव्ययात्रा में महज़ लिखते ही नहीं रहे है, बराबर रचनारत रहे हैं; रचना की नयी-नयी चुनौतियों और तनावों से गुजरते हुए, रचना में ही जीवित और स्पंदित रहे हैं। स्वच्छन्दता और मुक्ति का जो उद्घोष, विद्रोह और विविधता के जो तेवर निराला में मिलते हैं और भारतीय संदर्भों में आधुनिकता के रचना प्रतिमानों पर जितना प्रासंगिक उनका काव्य है उतना किस छायावादी और आधुनिक कवि का है ?

हिन्दी काव्य के प्रसंग में उनकी प्रबल बौद्धिक चेतना उनकी आधुनिकता का सबसे तेजस्वी बिन्दु है। उनके काव्य विकास के मूल में, बक़ौल नददुलारे वाजपेयी, "भावना की अपेक्षा बुद्धितत्व की प्रमुखता है"। ...यह बुद्धितत्व आधुनिक भावना विर्जाड़त कविता में निस्संगता लाने में और कोरी भावुकता या कल्पनाप्रवणता को संग्रथित कलासृष्टि का स्वरूप देने में समर्थ हुआ है।

उनका वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काव्य में बुद्धि-तत्त्व का प्रवेश है। वे एक सचेत कलाकार हैं, इसीलिए उनके काव्य में असंयम और अति कहीं नहीं है। उनमें एक अनोखी तटस्थता है जो उन्हें काव्य की भाव धारा के ऊपर अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने की क्षमता प्रदान करती है····
निराला अपनी सारी काव्ययात्रा में अपनी इसी निस्संगता और संकल्पिका वृत्ति से परिस्थितियों और समसामयिक की चेतना को लगातार समृद्ध और प्रखर करते हुए अपनी अपराजेय सृजनात्मकता सिद्ध करते हैं। उनकी संक्रमणशील काव्यवृत्ति ही उन्हें आधुनिक बनाती है। उन्होंने अपनी ही (भी) किसी काव्य-पद्धति या रचनाविन्यास को कभी दुहराया नहीं है। स्वच्छन्दता उनकी रचना यात्रा में जितनी समृद्धि और सार्थकता से चरितार्थ हुई है, उतनी किसी कवि में नहीं। उनके काव्य में इतनी विविधता है कि कई बार वे एक-दूसरे का विरोध करती लग सकती है। ऐसा कोई एक ही वृत्त या केन्द्र नहीं है जिसे लेकर कहा जाय कि यह निराला है या यही निराला है।

निराला के अनुभव संसार में आधुनिक व्यक्ति के अन्तर्संघर्षों और अन्त-र्विरोधों की सघन बुनावट है : परिवेश और व्यक्तिचेतना का तनाव और उनकी अन्तर्क्रिया उनके अनुभव जगत में तीखे रूप में मौजूद है, लेकिन उनके अनुभव संसार और रचना में अन्तर्विरोध नहीं हैं। उनकी वैयक्तिक प्रतिक्रियायें कभी भी, कहीं भी ज्यों-की-त्यों अभिव्यक्त नहीं होतीं। वे उस अर्थ में आत्माभिव्यक्ति-वादी या आत्मपरक कवि नहीं हैं, जिस अर्थ में प्रगीतकाव्य समझा जाता है। उनकी आत्माभिव्यक्ति में भी एक विलक्षण संयम और क्लासिक प्रशान्ति है। इसीलिए उसमें उस बौद्धिक उन्मुक्ति (इंटेलेक्चुअल डेलीवरेन्स) के रचनात्मक पर्याय मिलते हैं जिसे मैथ्यू अर्नाल्ड ने साहित्य का आधुनिक तत्त्व कहा है। काव्य मे उनका 'आत्म' और 'स्व' एक बृहत्तर जीवनबोध और आशय की अभिव्यक्ति का माध्यम है। व्यक्तिगत अनुभूति और सामाजिक सार में वहाँ कोई खाई नहीं है। एक अपराजेय रचनामानस, दुर्दमनीय जीवनेच्छा और भौतिक या सामाजिक अंतर्विरोधों या संघर्षों का अविचल साक्षात्कार उनकी काव्ययात्रा को समृद्ध करता है और सामाजिक व्यक्ति और रचनाकार विलक्षण समरसता या एकरसता पाते हैं। यद्यपि निराला मूलत: स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व के रचनाकार हैं, पर इस रोमानी आन्दोलन के जितने पक्ष उनकी रचनाओं में उजागर हुए हैं, उतने अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। उन्होंने स्वच्छन्दता-वादी काव्य को विस्तृत आयाम दिए।

इसीलिए हिन्दी प्रगतिवादी काव्य उन्हें अपना प्रस्थानबिन्दु स्वीकार करता है और नया हिन्दी काव्य उनमें अपना पूर्वाभास देखता है। काव्यविकास

के आरम्भिक चरण 'परिमल' में ही जहाँ 'जुही की कली' का उन्मुक्त-उन्मद प्रेमव्यापार है, वहीं 'तुम और मैं' का प्रखर दर्शन-काव्य, 'बादलराग' और 'जागो फिर एक बार' का क्रान्तिघोष है तो 'यमुना के प्रति' की गहरी सांस्कृतिक चेतना ; 'शिवाजी के पत्र' की राष्ट्रीयता, और 'विधवा' तथा 'भिक्षुक' की व्यापक मानवतावादी प्रगतिशील चेतना। जैसा कि मैंने अपनी पहली पुस्तक निराला : काव्य और व्यक्तित्व (१९६०) में कहा है यह व्यापकता, विषयों के वैविध्य वाली नहीं है, वह शैली की विभिन्नता भी नहीं है, वह काव्य चेतना और काव्यात्मा की व्यापकता है जो नित नयी राहों का अन्वेषण करती है। मुक्त छन्द के साथ गीत, उसके साथ ही 'कुकरमुत्ता', बेला' और फिर 'नये पत्ते' इनके मुकाबले वृहत्तर रचनायें—'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' और फिर 'अर्चना', 'आराधना की प्रशान्त भूमि। ......आचार्य वाजपेयी ने सही कहा है कि "निराला अनेक क्षितिजों और दिगन्त भूमिकाओं के कवि हैं।"

काव्य की सामाजिक प्रतीति और मूल्य-दृष्टि, नागरिक जिम्मेदारी के एहसास और सांस्कृतिक भूमिका के प्रति जागरूकता का पहला ही सबूत निराला की इस बात में मिलता है कि—"साहित्य की मुक्ति, उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्तिप्रयास का पता चलता है।" सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की मुमकिन भूमिका की जो आवाज़ और ज़रूरत आठवें और नौवें दशक के रचना-दृश्य पर तीखी होकर उठी थी, उसका यह सार्थक और रचनात्मक पूर्वरंग है। परिमल का रचनासंसार प्रकाश और जागरण की रंगारंग विविधता से भास्वर है। प्रगाढ़ व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रकाश अपनी रूमानी वर्णच्छटायें लिए उसमें कौंधता है लेकिन वह कोरी भावोच्छ्वासी अभिव्यंजना होकर नहीं रह जाता, शब्द के पीछे छिपे मौन को शब्द देने की रचनात्मक कोशिश के लिए जिस भाव-संयम और अनुशासित भावनाशीलता की जरूरत होती है, वह यहां मौजूद है। प्रकृति की उन्मुक्त रूपोपासना हो या उद्दाम भावनाओं का सहज प्लावन, ये कविताएँ विराट मानवसंसार से परस्पर संवाद करती हुई नजर आती हैं।

यहाँ संवाद की भाषा में मंत्रकवियों की अन्तःसाक्षात्कारवादी (मिस्टिक) अन्तर्ध्वनियाँ हैं (तुम और मैं) तो साथ ही एक समन्वित निरंतरता में देश-काल का समग्र साक्षात्कार करने वाली सांस्कृतिक दृष्टि भी (यमुना के प्रति)। एक ही भाव और अनुभव-संघटना और 'मूड' के जितने भी रूपान्तर (वैरिएशन्स) हो सकते हैं, आभायें (शेड्स) और सुर (टोन्स) हो सकते हैं, उन्हें बिना किसी दुहराव के व्यक्त करने की कला का प्रमाण 'बादल राग' और बादल सम्बन्धी

कवितायें हैं। एक ही स्वर (नोट) से वादी और संवादी तथा अनेक वर्णगंधी राग उभारने की कला का यह नमूना है। विराट प्रकृति में चलने वाली स्वच्छन्द क्रियाओं को मानुषी अनुभव और संवेदन की मांसल भूमि देकर मानवीय संवेगों और चेतना पर पड़ी परतों को मुक्ति की उत्तेजना और काव्य-ध्वनियों को एक विराट जीवनराग में प्रस्तुत करने की कला (जुही की कली) में निराला अद्वितीय लगते हैं। वड्‌सवर्थ के संदर्भ में कहे गये ए० सी० ब्रैडले के शब्दों में कहा जा सकता है कि उन्होंने नयी चीजों पर दृष्टि डाली और चीज़ों को नये तरीके से देखा। इसीलिए, ब्रैडले कहता है, वर्डसवर्थ से महान कवि हुए हैं लेकिन इतना मौलिक कोई नहीं। ....निराला भी अपनी मौलिकता की काव्य गणना 'अनामिका' को पूरी तरह सार्थक करते हैं।

'गीतिका' का रचनासंसार, 'परिमल' के मुक्त काव्य-संसार से अलग, सघन रूप से संयोजित और विन्यस्त है। गीत-प्रगीत की आत्मपरकता और स्वच्छन्दता को एक क्लासिक अनुशासन और शास्त्रीय राग-बंदिश की रचनात्मक तटस्थता या 'गोएटियन रेजिस्टेंस क्वालिटी ऑव मीडियम' देने के लिहाज़ से अपनी भाषिक संरचना ही नहीं, अनुभव संरचना में आज भी 'गीतिका' अद्वितीय है। व्यक्तिगत अनुभव संवेदनों का अपने 'कसकते-दुखते-मूलों' से अलगाव, स्व के परात्मीकरण और पर के स्वात्मीयीकरण की रचनाप्रक्रिया के जरिए वैयक्तिक और सामाजिक संसार के अलगाव का निषेध और मूर्त से लेकर अमूर्त तक का संतरण 'गीतिका' को संगीत की परिव्याप्ति (पर्वेडिंग क्वालिटी) ही नहीं, स्मृतिगूंज (हॉटिंग-ट्यून) भी देता है। सामाजिक यथार्थ और ज़िन्दगी की वास्तविकता के नीरस, कड़ुए और अन्तर्विरोधी अनुभव संवेदनों की गद्यात्मकता, गीत और संगीत के सरगम के लिए संवादी नहीं होते, लेकिन निराला ने उनके अन्तर्राग को भी स्वर दिया है और इस भ्रम से मुक्ति दिलायी है कि आधुनिक भावबोध किसी खास, पैटर्न और विन्यास का मोहताज है। रचनात्मकता, विधा और रूप की गुलाम नहीं होती, समर्थ रचनात्मकता किसी भी रूप और विधा में खुद को अभिव्यक्त कर लेती है।

'अनामिका' इसी की प्रामाणिक और रचनात्मक दृष्टि से अधिक प्रासंगिक मिसाल है। वह कई मायनों में अपने नाम को चरितार्थ करती है। उसके काव्यसंसार में भाषा और रूप के स्तर पर ही नहीं, रचनानुभूति और सामाजिक सार के स्तर पर भी एक दूसरे से अलग, लगभग विरोधी भूमिकाओं, क्षितिजों और धरातलों पर अबाध संतरण है। 'अनामिका' की एक काव्य दिशा व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं से शुरू होकर व्यापक सामाजिक भूमि पर ध्वनित होने वाला व्यंग्य है। अपने सामाजिक आशयों और तीखी वर्गचेतना के कारण वह

समकालीन और सामाजिक यथार्थ की रचनात्मक अभिव्यक्ति है। दूसरी काव्यदिशा उस शोक-काव्य की है जो आत्मकथात्मक होते हुए भी सामाजिक सार की पौरुषमयी अभिव्यक्ति है : शोषण केन्द्रित, जर्जर सामाजिक व्यवस्था, मान्यता और मूल्यों पर प्रहार के जो तेवर हैं, वे उसे शोक-गीत की पराजित और विषादमयी मनोदशा और रुदनमयी अभिव्यक्ति से उठाकर यथार्थ की ज़मीन पर सामाजिक और सांस्कृतिक आशयों से संयुक्त करते हैं।

"अनामिका" की तीसरी काव्य दिशा एक महाकाव्यात्मक औदात्य लिए वृहत्तर रचनाओं की है, जिनमें समकालीन मनुष्य के अन्तर्संघर्ष और संशय, द्वन्द्व और आत्मसाक्षात्कार की क्लासिकी स्तर पर अभिव्यक्ति हुई है। अपने विराट बिम्बों, उदात्त मनोदशा, वैश्विक (कॉस्मिक) कल्पना और प्रतीक विधान के साथ ही निस्संग और बौद्धिक तटस्थता का प्रौढ़ रचनात्मक स्तर इसे महाकाव्यात्मक और महत् काव्य की गरिमा प्रदान करता है और रचनात्मक आधुनिकता से समृद्ध करता है। यह उसी स्तर पर है, जिस पर 'तुलसीदास' सरीखे सांस्कृतिक और आधुनिक बोध का काव्य रचा गया है। इतिहास और स्वच्छन्दतावादी कल्पना, यथार्थ और सामाजिक आशयों के साथ रचनाकार के सांस्कृतिक दायित्वों की गहरी चेतना और आधुनिक सन्दर्भों का सरोकार यहाँ एक साथ है। 'तुलसीदास' के सांस्कृतिक बिम्ब एक मिथकीय संसार के धरातल पर भी समकालीन सांस्कृतिक संकट और आधुनिकता के तीखे बोध को अपनी रचनात्मक संगति में व्यक्त करते हैं। जातीय सघर्ष को मूलतः जीवनदृष्टियों के संघर्ष का प्रतीक बनाकर मूल्य-अभिमुख सत्य की खोज के सांस्कृतिक दायित्व का निर्वाह करने वाली यह रचना, अतिक्रामक चेतना के जरिए उच्चतर मूल्यों की तलाश का प्रासंगिक माध्यम हो जाती है। स्वच्छन्दतावादी काव्यचेतना को समकालीन यथार्थ के साक्षात्कार और सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक बोधदृष्टि से संयुक्त करने वाली यह रचना, आधुनिकता का एक प्रासंगिक और प्रौढ़ प्रक्षेप है। उसका धरातल अपने सम्पूर्ण अर्थसंदर्भों में सामाजिक यथार्थ की तीखी चेतना से सम्पन्न है। वह आत्मसाक्षात्कार और अन्तर्द्वन्द्वो के अतिक्रमण का रचनात्मक माध्यम हो गयी है। 'राम की शक्तिपूजा' यदि निराला की आत्मोपलब्धि का रचना माध्यम है तो 'तुलसीदास' आत्म-विकास की प्रक्रिया का। रचना और व्यक्तित्व के रचनात्मक अन्तर्लयन की प्रक्रिया, यहाँ अनुभव का संवेदनात्मक आघात, ज्ञानात्मक संवेदना से परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ, देश और काल, समाज और संस्कृति के समकालीन प्रसंगों को व्यक्तिगत और मानवीय रिश्तों की शक्ल देता है। समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक संकटों को अपनी सर्जनात्मक टकराहट

और तनाव को रचनाविन्यास में चरितार्थ करना इलियट और येट्स, ऑडेन और पाउण्ड की तरह यदि आधुनिकता का एक प्रसङ्ग है तो निराला की काव्यचेष्टा 'तुलसीदास' व 'राम की शक्तिपूजा' में अपने समृद्धतम रूप में उसे चरितार्थ करती है। समकालीन भावबोध के दो अनुभव संघात—अकेलापन और अलगाव—अपनी गहरी ऐकान्तिकता में यहाँ खुद को अभिव्यक्त करते हैं मगर साथ ही आत्मनिर्णय और वरण की स्वतंत्रता के प्रत्ययों को जीवित और रचनात्मक विन्यास देकर उसे आधुनिकवादी फैशन से मुक्त कर एक सांस्कृतिक चरित्र भी देते हैं। निराला आधुनिक बोध को उनकी उद्भ्रान्ति (मार्बिडिटी) से मुक्त करते हैं, और मैथ्यू अर्नाल्ड के शब्दों में जो उद्भ्रांत है वह अपने युग का सचमुच व्याख्याकार नहीं है, कि इसीलिए लुक्रेटियस और वर्जिल की तुलना में सोफोक्लीज आधुनिक है। और हम कहना चाहते हैं कि आधुनिकवादी अज्ञेय या धर्मवीर भारती की तुलना में निराला अधिक आधुनिक है।

'कुकुरमुत्ता', 'बेला' और 'नये पत्ते' में निराला के तेवर बिल्कुल बदले हुए हैं। वे भाषिक संरचना और अनुभववाद के स्तर पर भी पूरे स्वच्छन्दतावादी विन्यास और वृहत्तर रचनाओं के आभिजात्य या रागात्मक ऐश्वर्य के विरोध में भी स्थित लगते हैं, लेकिन समकालीन इतिहास और सामाजिक संकटबोध की तीखी पहचान के प्रासङ्गिक नतीजे भी हैं। मोहभंग की जो प्रक्रिया 'अणिमा' से शुरू होती है, उसीकी ये तार्किक निष्पत्तियाँ हैं। यह मोहभंग व्यक्तिगत जितना है, उतना ही सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक और मूल्यकेन्द्रिक भी। 'अणिमा' का काव्य, प्रकृति और विराट बिम्बात्मकता से हटकर, आदमी को बौना करने वाली वास्तविकता के तीखे और मारक एहसास से उपजा है: विषाद और तटस्थता, विनय और अनासक्ति की भावनाओं के साथ ही एक प्रशान्त और निःसंग (डिस्पैशेनेट) पहचान से इनका भावसंसार बना है। आत्मबोध और आत्मसाक्षात्कार के साथ ही समकालीन बोध और यथार्थ से साक्षात्कार की यह उद्दाम कोशिश है। इसका काव्य मुहावरा भी बदला हुआ है। इसी मुहावरे को निराला ने व्यंग्य का प्रखर और सार्थक हथियार बनाया है।

व्यंग्य अपनी बुनावट और बनावट में ही आधुनिक और व्यवस्था विरोध का सबसे रचनात्मक माध्यम है। वर्गचेतना व सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ बौद्धिक और सयाने (अडल्ट) नजरियों से मूल्यों की खोज के स्तर पर सार्थक विकल्प और रचनात्मक परिप्रेक्ष्य की पहचान का समकालीन और प्रगतिशील माध्यम भी व्यंग्य हो गया है। 'कुकुरमुत्ता' में यह अपनी पूरी सर्जनात्मक समृद्धि के साथ सक्रिय है। न केवल उसके तेवर गैररोमानी (एण्टीरोमांटिक)

हैं बल्कि उसकी ज़मीन, दुनिया और नज़रिये भी सामन्तवाद-पूँजीवाद और व्यक्तिवाद के विरोधी हैं। इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति और वर्गसंघर्ष की जनवादी चेतना से लैस कुकुरमुत्ता, पेटी बुर्जुआजी, लफ्फाजी क्रान्तिकारी की भी बखिया उधेड़ता है। सीधी-सादी भाषा को अवमूल्यन समझने वाले कलावादियों के लिए 'कुकुरमुत्ता' और निराला के पूरे व्यंग्यकाव्य की रूपविन्यासात्मक बारीकियों और झंकृतियों को समझ पाना मुमकिन नहीं है। निराला यहाँ खुद अपनी ही छायावादी शब्दसाधना के मानो खिलाफ़ खड़े हैं। यहाँ उनकी आधुनिकता के तेवर इलियट, येट्स और पाउण्ड की तरह सौन्दर्यशास्त्रवादी या कलावादी नहीं हैं, उनमें प्रगतिशीलता का प्रासङ्गिक और प्रतिबद्ध सरोकार मौजूद है।

निराला की प्रखर सामाजिक चेतना ने ही उनके काव्य को यथार्थवादी मूल्यों से सम्पन्न किया। औरों की अपेक्षा निराला का दृष्टिकोण भी अधिक प्रगतिशील रहा है क्योंकि उनमें वास्तविकता का बोध सबसे अधिक था और यह बोध इसलिए भी अधिक था कि जीवन्त वास्तविकताओं के साथ उनका सम्बन्ध सबसे अधिक रहा है।............'बेला' और 'नये पत्ते' में प्रयोगशीलता को प्रगतिशील आधुनिकता का रचना-संस्कार देने की उनकी यह कोशिश आज भी एक चुनौती के मानिन्द मौजूद है। रागात्मक ऐश्वर्य का रश्मिवलय यहाँ छिन्न-भिन्न है, भाषा की पच्चीकारी यहाँ उखड़ी-बिखरी है, सौंदर्य बिम्बों की ललक यहाँ ग़ायब है, ऊर्ध्वमुखी अध्यात्म यहाँ पिटा हुआ पड़ा है, है तो सामाजिक संघर्ष का उद्वेलित समन्दर ठाटें मारता हुआ; उसकी द्वन्द्वात्मक लहरों का घात-प्रतिघात सारी यथार्थभूमि पर छहराता-छितराता हुआ और निराला उसके आघातें को सामयिक, प्रामाणिक और सहज सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। रचना का प्रतिबद्ध और राजनीतिक चरित्र अपनी समृद्ध सर्जना में यहाँ प्रासङ्गिक और प्रामाणिक शक्ल लेता दिखाई देता है। यही नहीं लोकभूमि और ग्रामीण परिवेश पर जिसे जनवादी ही नहीं, जनकाव्य की संज्ञा दी जा सके (जिसकी सबसे बड़ी ताकत रूपतंत्रात्मक स्तर पर वाचिकता, उद्धरणीयता (क़ोटेबिलिटी) और स्मरणीयता होती है) ऐसी कविता की शुरुआत भी यहीं से होती है। स्वच्छन्दतावाद से यथार्थवाद की ओर यह काव्यसंतरण कई मायनों में उत्तर युग की आधुनिक क़ाव्यदिशा की अधिसूचना है।

"अर्चना", "आराधना", "गीतगुंज" और "सांध्यकाकली" की काव्य-चेष्टा को कई लोग निराला के पूरे काव्यविकास से सम-रस करके नहीं देख पाते। उन्हें तो मुक्त छन्द की ऊर्जस्वी स्वतंत्रता की संगति भी "गीतिका" के

ताल-लय-छंद-स्वर में बँधे गीतों से नहीं मिलती। "राम की शक्तिपूजा" और "तुलसीदास" के साथ "कुकुरमुत्ता" और "मास्को डायलाग्स" में भी उन्हें एक अन्तर्विरोध दिखाई देता है। निराला के काव्यसंसार में इन परस्पर भिन्न और विरोधी तत्त्वों की संगति, आनुक्रमिक भूमिका पर उसके समाहित रूप को समझकर ही पायी जा सकती है। मैंने उसे निराला के सतत गतिशील काव्य-चरण का ही आयाम कहा है। अपने काव्य जीवन की संध्या में निराला की रचनात्मकता निर्वेद और प्रशान्ति के जिस धरातल पर सक्रिय है, उसे महज़ शान्तरस की भूमिका कहकर भी उसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता कि इस काव्यसंध्या में भी निराला के अनुभव संसार में विनय, प्रार्थना, प्रकृति, आत्मालाप, विषाद और यदा-कदा विशेष की अन्तर्ध्वनियों के साथ ही जीवन और जीवित यथार्थ की स्पष्ट स्वरलिपियां हैं। पीड़ा और अवसाद, पराजय और आत्मदैन्य, समर्पण और अनासक्ति से निर्मित इस अनुभव संसार की समझ फ्रायडियन मनोविश्लेषण के धरातल पर भी नहीं हो सकती। यह तो भक्ति-भाव और वैराग्य की वह मनोभूमि है जिसमें स्थितप्रज्ञता के साथ ही गहरे मानवीय सरोकारों की मौजूदगी है। इस अनुभव जगत में काल, अतीत, वर्तमान-भविष्य में विभाजित नहीं है, वह एक निरन्तरता और सम-कालिकता ('सैमल्टेनियटी') की चेतना से स्पन्दित है, जीवन और अस्तित्व बोध से सक्रिय है, वर्ना आत्मस्थ और आध्यात्मिक स्तर पर भी जीवन यथार्थ के चित्र और तीखी अभिव्यक्तियाँ ही कैसे संभव होतीं? कृषक जीवन और ग्रामीण यथार्थ की मार्मिक संवेदनायें कैसे मुमकिन होतीं? यों उसके अटपटे प्रयोगों और स्वैर-कल्पना-जीवी उक्तियों को भी अतियथार्थवादी कविता कहने-मानने-वालों की कमी नहीं है फिर भी ऐसे कुछ अपवादों को छोड़कर इस काव्यसंध्या के रचना संसार में जो प्रशान्त दीप्ति और सादगी है, सहजता और निश्छलता है, सातवें दशक का सार्थक सहजकाव्य उसी का उत्तराधिकारी है।

निराला के काव्यसंसार में देशकाल नैरन्तर्य का एक बड़ा हिस्सा नुमायां है। उसका अनुभव जगत विस्तृत, व्यापक और विविध भी है। उसमें ऐसे काव्य संवेगों का सन्निवेश हुआ है, जो परस्पर भिन्न और विरोधी भी प्रतीत होते हैं; लेकिन वे सब मिलकर स्वच्छन्दतावाद की सबसे सार्थक और प्रासंगिक रचनात्मकता को चरितार्थ करते हैं। उनके काव्य में 'रोमैण्टिकता' की जो स्वच्छन्दता है, वह काव्य को आधुनिक और प्राचीन की रैखिक विभाजकता में न बांधकर उसे एक सम्पूर्ण और समग्र कालबोध का लक्षण देता है। जिसे मैथ्यू अर्नाल्ड आधुनिकता का लक्षण कहता है वह बौद्धिक प्रौढ़ता अपनी सर्जनात्मकता में उनके काव्य में मौजूद है। प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा और

काव्यरूढ़ियों से विद्रोह उन्हें स्वच्छन्दतावादी और आधुनिक बनाता है तो दूसरी ओर उनका क्लासिकी गाम्भीर्य और औदात्य, प्रौढ़ता और निस्संगता, अपने युग की मानसिकता को प्रामाणिक और प्रासंगिक ही नहीं किसी हद तक कालजयी अभिव्यक्ति से भी समृद्ध करता है। अतीत के प्रति एक अधिक *काव्यात्मक प्रस्थान और अतीत-वर्तमान की रचनात्मक मुठभेड़ के लिहाज से भी वह काव्य की आधुनिकता का प्रामाणिक दस्तावेज है। उनकी क्लासिक* रूपगंधी रचनाओं में अतीत, वर्तमान में स्पन्दित और जीवन्त हो उठता है। जिस बौद्धिक प्रौढ़ता और निस्सगता ने उन्हें सचेत कलाकार की विशेषता दी है, उसी ने उन्हें कलात्मक पूर्णता और परिपाक की दृष्टि से भी "भोगनेवाली व्यक्तिचेतना" और "रचना करने वाली मनीषा" का पार्थक्य दिया है।

काव्य में व्यक्तित्व से मोक्ष, यदि आधुनिकता का प्रतिमान है तो वह सबसे अधिक उनके काव्य में सार्थक होता है। वह अनुभवों की अभिव्यक्ति ही नहीं रह जाता, अनुभव से मुक्ति (डेलीवरेन्स) की रचनात्मकता तक पहुँचता है। समसामयिकता के प्रति चेतना और समकालीन भावबोध से प्रबुद्ध व्यक्ति की ऐतिहासिक अनुभूति, जो बदलते हुए जीवन और जगत के विकासक्रम और उसकी दिशा की अनुभूति है, निराला को विविधता भरे अनुभव संसार की ओर ले गयी है। व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष और परिस्थितियों के अन्तर्विरोधों में भोगे हुए यथार्थ से पायी गयी प्रामाणिक अनुभूति को उन्होंने युग के व्यापक सन्दर्भों मे फैलाकर जिस ऐतिहासिक और रचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है, वही उनके काव्यसंसार को प्रामाणिकता और प्रासंगिकता के साथ परिप्रेक्ष्य की रचनात्मक पहचान की आधुनिकता देती है। पंतजी ने सही कहा है · "निराला युग मानव की जय-पराजय, आनन्द-अवसाद, औदात्य-दारिद्र्य, राग-द्वेष, स्पर्धा-विषमता आदि जनित व्यापक दुर्दम संघर्ष के अपराजेय प्रतीक थे। उन्होंने अपनी अनुभूति से बोध के उच्च से उच्च और निम्न से निम्न स्तर छुए, वह आज के युग की अनिवार्य परिस्थिति, उनकी महानताओं और क्षुद्रताओं के प्रतीक थे। बल्कि कहा जाय कि वे पूरे युग के प्रतीक ही नहीं, स्वयं एक काव्य युग थे।"

मैथ्यू अर्नाल्ड ने सोफोक्लीज के बारे में कहा है—"ही सॉ लाइफ़ स्टेडिली एण्ड सॉ इट होल",····और यदि यूनान की पांचवीं शताब्दी एक सार्थक और "आधुनिक" युग है तो उस युग की (पिन्डार, एस्काइलस और सोफोक्लीज की) कविता अपने युग की समुचित और प्रतिनिधि व्याख्या है।····निराला के प्रसंग में हम निस्संकोच कह सकते हैं कि उन्होंने जीवन को अस्खलित भाव से देखा और संपूर्णता में देखा इसीलिए उनका काव्य अपने युग का

सार्थक प्रतिनिधि और व्याख्या हो सका। निजी व्यक्तित्व और सामाजिक व्यक्तित्व का रचनात्मक संश्लेष, काव्य में आधुनिकता का प्रतिफलन है और निराला का काव्य निरन्तर विकासशील, सामाजिक और समकालीन भावबोध की सारभूत निजी और अद्वितीय अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्ति और मनुष्य की मुक्ति का सरोकार अन्तर्भूत है। उन्हें हम आधुनिक हिन्दी काव्य का पहला आधुनिक शलाका पुरुष कहते हैं। कविता के नये या शाश्वत किस प्रतिमान पर उनकी रचनात्मकता में दरार देखी जा सकती है? हम उनके काव्य में एक ऐसी सर्जनात्मकता का साक्षात्कार करते हैं जो किसी एक प्रतिमान में ही क़ैद नहीं की जा सकती। दरअसल ऐसी रचनायें प्रतिमानों को चुनौती ही नहीं देतीं, खुद नये प्रतिमानों का स्रोत होती हैं। येट्स ने कहा था,—"अ पोएट इज़ जस्टीफाईड नाट बाइ द एक्सप्रेशन आव हिमसेल्फ, बट बाइ द पब्लिक ही फाइन्ड्स ऑर क्रिएट्स, अ पब्लिक मेड बाइ अदर्स रेडी टू हिज़ हैण्ड इफ़ ही इज़ नाट अ मियर पापुलर पोएट बट अ न्यू पब्लिक, अ न्यू फार्म आव लाइफ़ इफ़ ही इज़ मैन आव जीनियस।"········ निराला ने काव्य का एक नया पाठकवर्ग ही नहीं बनाया, नये काव्य का पाठक वर्ग भी निर्मित किया, इससे भी आगे तक नयी काव्य संस्कृति का भी निर्माण किया।

उनके काव्य से काव्य-व्यक्तित्व का एक नया संस्कार-बिम्ब भी उभर सका। यह महज़ संयोग नहीं है कि नयी कविता के सबसे समर्थ और प्रासंगिक रचनाकारों और युवतर काव्य की समृद्ध रचनात्मकता तक हिन्दी कविता की तेजस्विता का जो आन्तरिक चरित्र है उसकी पहली आधुनिक अभिव्यक्ति निराला के काव्य में देखी गयी और देखी जा रही है।

पत्रकारिता और निराला

डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र

रवीन्द्रनाथ, निराला और नजरुल इस्लाम—जैसे महाकवियों का पत्रकारिता से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, किन्तु इस कोटि के कवियों के लिए पत्रकारिता धर्म नहीं लाचारी होती है। निराला की लाचारी दुहरी थी। एक ओर बेकारी की पीड़ा थी दूसरी ओर अपने नये साहित्य-स्वर के लिए सशक्त माध्यम की तलाश थी। बेकारी का प्रीतिकर विकल्प था 'समन्वय', 'सुधा' और 'रंगीला' की नौकरी, और 'मतवाला' का कार्य एक महत् उपलब्धि थी कि उसके माध्यम से निराला का हिन्दी में सही प्रवेश हुआ, प्रतिष्ठा जमी।

कलकत्ते से रामकृष्ण आश्रम के तत्त्वावधान में प्रकाशित मासिक पत्र 'समन्वय' के सम्पादन-विभाग में निराला जी का प्रवेश हिन्दी की एक कृती सम्भावना का हिन्दी पत्रकारिता में प्रवेश था। स्वामी माधवानन्दजी के सम्पादकत्व में १९२२ में इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था। इसमें धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक निबन्धों के साथ ही साहित्यिक सामग्री भी रहती थी। स्वामी माधवानन्दजी एक ऐसे सम्पादक की खोज में थे जिसका हिन्दी भाषा के साथ वेदान्त दर्शन पर भी अधिकार हो। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में उस समय हिन्दी-क्षेत्र में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी ही 'समन्वय' के लिए उपयुक्त व्यक्ति थे। उन्हें द्विवेदीजी ने बड़े विश्वास के साथ 'समन्वय' में भेजा। स्वामी माधवानन्द की चर्चा करते हुए निराला जी ने लिखा है, "रामकृष्ण मिशन के विद्वान संन्यासी स्वामी माधवानन्दजी ने 'समन्वय' नाम का सुन्दर मासिक 'अद्वैत आश्रम' कलकत्ता से निकाला था। मुझे ढाई साल तक स्वामी जी के सहयोग में पत्र का काम करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। मैं स्वामीजी की हिन्दी का—उनके सहृदय महत्तम व्यक्तित्व का—उनकी विद्वत्ता और चरित्र का भक्त हूँ। ऐसी प्रतिभा मैंने नहीं देखी। लेकिन बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इतने सुसम्पादित विवेचनापूर्ण पत्र का हिन्दी में प्रचार नहीं हुआ। कुछ साल तक घाटा बर्दाश्त करते हुए आश्रम ने पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया।" इस पत्र में सम्पादकीय कार्य करते निरालाजी ने अपनी सूक्ष्म-समझ,

कार्य-कुशलता और पांडित्य से स्वामी माधवानन्दजी तथा आश्रम के अन्य संन्यासियों को अत्यधिक प्रभावित किया था। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि—"मैंने देखा था कि वहाँ विवेकानन्द सोसाइटी के बड़े-बड़े विद्वान् संन्यासियों पर निरालाजी की दार्शनिक ज्ञान-गरिमा का सिक्का जम गया था और वे लोग निरालाजी को बड़े आदर-मान से रखते थे। निरालाजी के भोजन, वस्त्र और उनकी आवश्यकताओं पर स्वामी माधवानन्दजी और स्वामी वीरेश्वरानन्दजी का विशेष ध्यान रहता था। स्वामी माधवानन्दजी 'समन्वय' से अधिक सम्पृक्त थे। सम्पादक के स्थान पर उन्हीं का नाम छपता था। पत्रकारिता, हिन्दी भाषा तथा वेदान्त दर्शन पर उनका असाधारण अधिकार था। 'समन्वय' के सम्पादन में यद्यपि उनकी रुचि को शीर्ष महत्व दिया जाता था, किन्तु उक्त पत्रिका के सम्पादन का दायित्व पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी का भी कम नहीं था और त्रिपाठीजी अपने दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत थे। 'समन्वय' के लिए वे स्वयं दुनिया-भर की सामग्री तैयार करते थे। मुद्रण आदि पर भी उन्हें दृष्टि रखनी पड़ती थी। प्रकृत्या पत्रकार न होते हुए भी पं० सूर्यकान्तजी पेशेवर पत्रकार बन गये थे, और अपने पेशे के प्रति उन्होंने पूरी निष्ठा का प्रमाण दिया था। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी शास्त्र और वेदान्त दर्शन का बोझ ढोने वाले कोरे पण्डित नहीं थे, बल्कि अपनी प्रत्येक आस्था को जीवन में—व्यवहार में उतारने की निरन्तर चेष्टा करते थे। कदाचित् इसीलिए उनमें प्रबल अपरिग्रह था, अर्थ-शुचिता के प्रति वे सचेत थे। शास्त्र कहता है, जहाँ अर्थ-शुचिता है वहीं सच्ची शुचिता है। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी में उच्चकोटि की अर्थ-शुचिता थी। यह उनकी अपनी सम्पत्ति थी, उधार ली हुई या कि संन्यासियों का अनुग्रह पुरस्कार नहीं थी। बड़ी बात यह है कि अपने चारित्र्य, पाण्डित्य और कविताई के गुमान में उन्होंने कभी अपने दायित्व की उपेक्षा नहीं की। यद्यपि उनमें अपने पाण्डित्य और प्रतिभा का गुमान था और साधार था। 'समन्वय' के लिए उन्होंने बांग्ला से बहुत-सा साहित्य हिन्दी में अनूदित किया, स्वयं लिखा। इस प्रकार अपनी श्रमसाधना द्वारा अपने पेशे के प्रति त्रिपाठीजी ने पूरी ईमानदारी बरती। अपने सजग दायित्व-बोध से आश्रम के अधिकारियों को परितोष दिया, जिससे प्रेरित होकर स्वामी माधवानन्दजी ने कहा था कि "द्विवेदीजी की कृपा से यह अमूल्य रत्न हमारे हाथ लग गया, सर्वश्रेष्ठ आचार्य का परखा हुआ हीरा है।"

इस 'हीरा' पर बहुतों की नज़र थी। बालकृष्ण प्रेस के मालिक बाबू महादेव प्रसाद सेठ की नज़र थी। उनके आत्मीय मुन्शी नवजादिकलाल

श्रीवास्तव की नज़र थी और आत्यन्तिक शालीनता में नज़र झुकाकर चलने वाले परम वेदान्ती पं० सूर्यकान्तजी को इन बातों की ख़बर तक नहीं थी।

बालकृष्ण प्रेस भारतेन्दु युगीन प्रसिद्ध गद्यकार पं० बालकृष्ण भट्ट के नाम पर खोला गया था। यहीं से 'समन्वय' छपता था। 'मारवाड़ी सुधार', जिसके सम्पादक आचार्य शिवपूजन सहाय थे, इसी प्रेस से छपने लगा था। इस प्रकार 'मतवाला-मण्डल' की भूमिका बनने लगी थी। प्रेस के मकान में ही आश्रम के संन्यासियों के साथ पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी रहते थे। समान साहित्यिक संस्कार और सजातीय सूझ-समझ वाले हिन्दी-भाषियों की निकटता धीरे-धीरे मैत्री में बदलने लगी। सेठजी रामकृष्ण मिशन के, हिन्दी-हीरा, को हथियाने के लिए व्याकुल थे। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी की व्याकुलता दूसरे प्रकार की थी। उन्हें अपनी कविता के प्रकाशन के लिए एक उपयुक्त माध्यम की आतुर प्रतीक्षा थी।

सारी बात तय हुई और बांग्ला हास्य-व्यंग्य-प्रधान साप्ताहिक पत्र 'अवतार' के प्रेरणा प्रभाव से १९२३ की श्रावणी पूर्णिमा को 'मतवाला' का पहला अंक निकला। मुख्य पृष्ठ पर निराला की कविता छपी। 'आत्म-परिचय' शीर्षक अग्रलेख आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा। सम्पादक के रूप में महादेव प्रसाद सेठ का नाम छपा और सबके दायित्व अलग-अलग बाँट दिये गये।

आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है :—'मतवाला'-कार्यालय की तीसरी मंजिल पर एक छोटा सा एकान्त कमरा था। रात में सेठजी उसमें सोया करते थे और दिन-भर मैं उसमें 'मतवाला' का मैटर तैयार किया करता था। शाम को रोज बनारसी बूटी बनती थी। भाँग छानने के बाद कुछ घण्टे हम लोगों की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें अखबार की ख़बरों पर विचार-विनिमय होता था। देश-समाज, धर्म और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण समाचारों और ज्वलन्त राजनीतिक समस्याओ पर सूझ-बूझ भरी टिप्पणियाँ लिखने के लिए निश्चय किया जाता था। भंग की तरंग में सेठजी की सूझ-बूझ बड़ी निराली होती थी। मुंशीजी भी स्वाभाविक हास्य-विनोद लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। निराला की कविताओं ने भी 'मतवाला' की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ायी। उन्होंने 'सरस्वती' के अंकों की जो समालोचना लगातार लिखी—'गरगजसिंह वर्मा' के नाम से, उसे पढ़कर आचार्य द्विवेदीज़ी इतने क्षुब्ध हुए कि 'मतवाला' के अंक को आदि से अन्त तक अच्छी तरह संशोधित करके भेज दिया।"

'मतवाला' के कई स्थायी स्तम्भ थे। 'मतवाला' का 'चाबुक' स्तम्भ 'गरगजसिंह वर्मा' के नाम से निरालाजी लिखते थे। प्रत्येक अंक के मुखपृष्ठ के लिए वे कविता भी लिखते थे। आलोचना भी वे ही लिखते थे। इतना ही नहीं निरालाजी शिवपूजनजी की सम्पादकीय टिप्पणियों को देखते थे और अपेक्षित संशोधन भी करते थे। 'मतवाला मण्डल' में वे ही भाषा के आचार्य थे। सेठजी और मुंशीजी की अनुपस्थिति में मुद्रण सम्बन्धी सारा काम निरालाजी को ही करना पड़ता था। 'मतवाला' में कविता और समालोचना निरालाजी के स्वीकृत करने पर ही छपती थी। निरालाजी के प्रति सबके मन में विशेष आदर का भाव था। 'मतवाला मण्डल' के सभी सदस्य अपने दायित्व का पालन स्वेच्छया और अत्यन्त उन्मुक्त ढंग से करते थे। किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं था। 'मतवाला' (वर्ष २, अंक १) में सेठजी ने अपने सक्रिय सहयोगी मित्रों के प्रति आभार प्रकट किया था। उसमें निरालाजी की चर्चा इस प्रकार है : "हम अपने मित्र पण्डित श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (गरगज सिंह वर्मा) के भी बड़े उपकृत हैं जिन्होंने जाँच रिपोर्ट तैयार करने में बड़ी निपुणता से अपनी 'कसौटी' पर कसकर खरे-खोटे की पहचान बताते हुए हमारी सहायता की है और जो "चाबुक" चलाने में चौकसी दिखाते हुए हमारे रथ को विकट मार्ग से निकालकर मुख्य लक्ष्य पर्यन्त निर्विघ्न खींच लाये है। 'निराला' नाम से तो त्रिपाठीजी ने हमारी जो कुछ सहायता की है वह हमारी इस श्रांतिपूर्ण यात्रा को शान्तिपूर्ण बनाने में यथेष्ट समर्थ हुए हैं और उसे हम बड़े सन्तोष के साथ अपने इष्टदेव के आगे रखते हैं, वे ही उन्हें इस सच्चे सौहार्द का पुरस्कार दें। प्रिय बन्धु 'निराला' की भावमयी कविताओं ने हमें विशेष रूप से तृप्त किया है। उनकी निराली स्वरलहरी में गोते लगाकर हम अनेक बार गद्‌गद् हो चुके हैं।...उनकी सुधा-मुखी लेखनी का सुमिष्ट प्रसाद ही हमारी इस साल-भर की यात्रा का मधुर सम्बल रहा है। उनके सौजन्य का सहारा पाकर हमें हिन्दी संसार को साल-भर तक एक नवीन सन्देश सुनाने का सौभाग्य प्राप्त रहा है, जिसका हमें गर्व है। आशा है, ईश-कृपा से, यह गर्व सदैव ही हमें गौरवान्वित करेगा।'

निराला ने 'मतवाला' को गौरव दिया और 'मतवाला' ने निराला नाम प्रस्तुत किया। मतवाला का यह ऐतिहासिक महत्व है कि उसने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी कवि को शीर्ष महत्व के साथ प्रस्तुत किया।

'मतवाला' का (अर्थात् गरगज सिंह वर्मा का) चाबुक बड़ा कड़ा था। उसकी चोट से बड़ी-बड़ी हस्तियों के पैर उखड़ जाते थे। गरगज सिंह वर्मा (अर्थात् पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला) चाबुक चलाते समय व्यक्ति-भेद नहीं

करते थे और न तो मुरव्वत-संकोच में ही पड़ते थे। पत्रकार निराला की तटस्थता और सचेत दृष्टि का ही यह सबूत था कि अपने परम श्रद्धेय आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की आत्मजा-सदृश प्रिय 'सरस्वती' पर कड़ी टिप्पणी करते भी उन्हें तनिक संकोच नहीं होता था। चाबुक की चोटें द्रष्टव्य हैं—

"बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० कोषकार हैं। फिर क्या कहना। जो कुछ कहें जो कुछ पास कर दें, वहीं कोष में सुरक्षित हो जायेगा। खाता न बही, जो आप कहें सो सही। नागरी प्रचारिणी सभा की वार्षिक रिपोर्ट में आप का 'माधुरी और सरस्वती की होड़ाहोड़ी' का उल्लेख देख, 'पियक्कड़' घोड़ा-घोड़ी भी हिनहिना पड़े।"

"काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित वृहत कोष में, उसके सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास 'उल्लू सीधा करना' मुहावरे का उल्लेख करना बिलकुल भूल गये हैं। इससे हिन्दी वालों को अपना उल्लू सीधा करने में बड़ी अड़चन पड़ रही है। (वर्ष-१, अंक-२)।" अंक ५ में मतवाला का चाबुक सरस्वती की भाषा पर पड़ा है—

"आपके दूसरे नोट में है—हिन्दी के कुछ प्रकाण्ड पण्डितों के लिए पाश्चात्य साहित्य की चर्चा हिन्दी के लिए अशुभ सूचना है। पाश्चात्य साहित्य खूब लिये-लिये फिरे! कभी प्रकाण्ड पण्डितों के पास ले गये और कभी हिन्दी के पास! क्या पण्डितों के लिए यहाँ पिण्ड दान चतुर्थी की व्यवस्था की है? जो कुछ कहना था, 'पण्डितों के मत से' कह देते। कुछ और चलकर उसी नोट में आप लिखते हैं—'वे सभी लोगों के लिए पूज्य हैं। "लिए" के पीछे आप हाथ धोकर पड़ गये हैं। 'वे सभी लोगों के पूज्य हैं, लिखते तो क्या सरस्वती सम्पादक का गौरव घट जाता?'

इस चोट का अर्थ यह कतई नहीं समझना चाहिए कि आचार्य श्यामसुन्दर दास और नागरी प्रचारिणी सभा के प्रति अथवा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनकी 'सरस्वती' के प्रति 'मतवाला' और 'निराला' की अन्यथा धारणा थी। स्मरणीय है कि इन दोनों आचार्यों के सम्बन्ध में 'मतवाला' में श्रद्धा-मूलक लेख प्रकाशित हुए थे। विशेषतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति निरालाजी के मन में बड़ी ऊँची प्रणति भावना थी। द्विवेदीजी के सम्बन्ध में उन्होंने एक महत्वपूर्ण लम्बा संस्मरण भी लिखा था जिसका उल्लेख डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक में किया है। 'चाबुक' के अन्तर्गत छपी टिप्पणियाँ केवल इस बात की सबूत हैं कि निराला सचेत और निर्भीक संपादक थे। उनकी निर्भीकता में उनके पाण्डित्य और पौरुष की गहरी छाप

और औचित्य का आग्रह है। उनमें पत्रकार की वह घटिया चालबाज़ी एकदम नहीं थी जिसके शिकार आज नामी लेखक और दम्भी पत्रकार हो गये हैं। कहना न होगा कि डूबकर पानी पीने वाले लोगों की नैतिकता कमज़ोर होती है और वे सत्य के समर्थन से हमेशा कतरा कर चलते हैं। संपादक निराला की बड़ी विशेषता थी कि सत्य का पल्ला उन्होंने भारी से भारी विपत्ति में भी नहीं छोड़ा, जो अक्सर हमसे छूट जाता है, क्योंकि हम समृद्धि के भूखे और आभिजात्य के पीछे पागल हैं यानी कि निरुपाय हैं अपने दुर्बल मानस के सामने और शायद इसीलिए चतुर हैं तथ्यों को सन्दर्भ से काटकर अपने मानसिक कलुष का लेप लगाकर उसे बांकपन के साथ उछालने में। 'मतवाला' में टिप्पणियों और कविताओं के अतिरिक्त निराला के लेख भी छपते थे। २४ मई, १९२४ के अंक में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी का लेख प्रकाशित हुआ है। शीर्षक है—कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र। इसी प्रकार वर्ष १, अंक २६ (यानि ३ मई, १९२४ के अंक) में 'कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक हैं—सूर्यकान्त त्रिपाठी। उक्त लेख की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "खड़ी बोली की जिस कविता का प्रचार किया गया था, उसका स्वाभाविक कवि अब इतने दिनों बाद आया है, और हिन्दी का वह गौरव-कुसुम श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं।" अन्तिम स्थल इस प्रकार है, "खड़ी बोली में प्रथम सफल कविता आप ही कर सके। आपसे हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। प्रार्थना है, हमारे इस अधखिले फूल पर परमात्मा की शुभ दृष्टि रहे। इसका परागमय जीवन उनके विराट रूप की ही सेवा के लिए है।" निरालाजी ने अपनी बात पन्तजी की कविताओं से अनेक स्थल उद्धृत कर कही है।

२८ जून, १९२४ के अंक में "नाचे उस पर श्यामा" शीर्षक विवेकानन्द की कविता छपी है जिसके अनुवादक पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निरालाजी मतवाला मण्डल में जब तक रहे 'मतवाला' के प्रति पूरी निष्ठा-रुचि लेकर रहे।

'मतवाला' के बाद निराला एक अरसे के बाद 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग में गये थे। परिवार के भरण-पोषण के लिए अर्थ की आवश्यकता थी। गाँव पर इसके लिए कोई आधार-व्यवस्था नहीं थी। मैंने शुरू में चर्चा की है कि पत्रकारिता निराला का आदर्श या धर्म नहीं, लाचारी थी—जीविका का एक कामचलाऊ माध्यम। विविध पत्रों की नौकरियाँ 'स्वार्थ समर' के ही विविध मैदान थे जिनमें पूरी श्रम-साधना के बाद भी निराला विजयी न हो सके। उन्हें कहीं आर्थिक स्थिरता नहीं मिली, इसलिए आर्थिक स्वावलम्बन

से सदा वंचित रहे। 'सुधा' में सम्पादकीय कार्यों के साथ ही निराला साहित्य-सामग्री भी देते थे। विवशता को सौंदर्य का स्पर्श देकर निराला जीना चाहते थे। कदाचित् इसीलिए अपने सम्मान के प्रति बहुत सजग रहते थे। सम्मान छोड़कर बड़ा बनने की कला में वे कोरे और कच्चे थे ; थोड़ी असुविधा होते ही उन्होंने 'सुधा' का सम्पादकीय कार्य छोड़ दिया।

सन् १९३२ में फिर पत्रकार के रूप में निराला कलकत्ता आये और उनके सम्पादन में ४ जून, १९३२ को 'रँगीला' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ। पहली बार सम्पादक के रूप में निराला जी का नाम (सम्पादक पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला') इसी पत्र पर प्रकाशित हुआ। पहले अंक के मुख पृष्ठ पर प्रसाद जी का प्रसिद्ध गीत 'बीती विभावरी जाग री !' छपा। इस पत्र के 'दहाड़-स्तम्भ' में निरालाजी की ऊँची दहाड़ कँपा देने वाली होती थी। पहले ही अंक में उन्होंने रवीन्द्रनाथ की खूब खबर ली है। 'प्रवासी' में छपे रवीन्द्रनाथ के कुछ पत्रों पर निराला ने कड़ी टिप्पणी की है; "रवीन्द्रनाथ की दलील यह असर जरूर रखती है कि समझ के बच्चे उनके साथ हो जाते हैं, क्योंकि वे भावों के खिलौना-पसन्द आदमी हैं, और भटकते हुए भटकना ही सबसे बड़ी बात समझते हैं।"····"जिस तरह कविवर से मिलने के लिए जब लोग आते हैं, तब अपनी-अपनी राह से होकर ही आते हैं, एक आदमी एक ही वक्त सब राहों से होकर नहीं आ सकता, उसी तरह यदि किसी का एक ही राह से विकास हो और वह उसकी चरम सीमा हासिल कर सके तो वह वहाँ अनेक राहों से पहुँचे हुए सभी महापुरुषों के बराबर है, और सबके ज्ञान तथा पथ-कार्य का समर्थक समझदार। यही शतदल विकास की सार्थकता है। सीधा खिला हुआ कमल भी पूर्ण विकसित है और झुककर खिला हुआ भी पूर्ण विकसित, उतना ही बड़ा, वैसा ही विकसित। रवीन्द्रनाथ सीधे खिले पद्म को टेढ़ा खिलने का न उपदेश कर सकते हैं, न समर्थन। अगर करेंगे तो उनकी अल्पज्ञता और कठहुज्जती होगी।'

एक ओर कण्ठ की यह उन्मुक्तता और सत्य का यह ताप और दूसरी ओर 'रंगीला' के मालिक की सड़ी व्यवसाय-बुद्धि। निराला के लिए समझौता कठिन था। रंगीला-संचालक निराला की सहृदयता और नाम-यश का अति-रिक्त अर्थ-लाभ के लिए दुरुपयोग करना चाहता था—ब्लैकमेलिंग का माध्यम बनाना चाहता था। निराला को इससे गहरा आघात पहुंचा और वे 'रंगीला' से नाता तोड़कर अपने मित्र पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के यहाँ प्रयाग, जहाँ वे 'भारत' का सम्पादन कर रहे थे, लौट आये। आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "निरालाजी उस यात्रा में कलकत्ता जाते समय भी मेरे पास

ठहरे थे और कलकत्ता से कुछ ही सप्ताह बाद लौटकर भी मेरे यहाँ आये थे। दोनों ही अवसरों पर मैंने उन्हें काफी उद्विग्न और अवसन्न पाया। २५ का अदम्य उत्साह, ३२ के कठोर अनुभव और अवसाद में परिणत हो चुका था। निरालाजी का यह परिवर्तन देखकर मुझे कष्ट हुआ था। मैंने यही समझा कि परिस्थितियाँ मनुष्य और मानव-प्रतिभा को दबाने की कितनी बड़ी साधन हैं।" विशेषकर हमारे देश में जहाँ अर्थ-शुचिता का आग्रही बनकर आदमी भूखों मर जाता है। शुरू में संकेत किया गया है कि परिस्थितियाँ थीं जो विवश करती थीं निराला को अखबारों में नौकरी करने के लिए, अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर वे पत्रकार नहीं बने थे। 'रंगीला' का सम्पादन करने कलकत्ता जाते समय उनके चेहरे पर जो खिन्नता थी वह इसी मजबूरी का संकेत था और 'रंगीला' से लौटने के बाद उनके चेहरे पर वाजपेयी जी को जो अवसाद दिखाई पड़ा था वह 'स्वार्थ-समर' में पराजित योद्धा का स्वाभाविक अवसाद था।

लाचारी जब आदमी की नियति बन जाती है तो उसके लिए अपनी रचनात्मक शक्ति की रक्षा बड़ी कठिन हो जाती है। निराला के संस्कार का आग्रह था कि अर्थशुचिता के प्रति वे सचेत रहें, मेहनत की कमाई को कमाई समझें। इस संस्कार के सामने निराला निरुपाय थे। इतना ही नहीं और भी अनेक मजबूरियों से उन्हें जूझना पड़ा था। 'पन्त और पल्लव' शीर्षक लम्बा निबन्ध लिखना, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के अगरेजी ज्ञान की आलोचना करना, रवीन्द्रनाथ से अपने को बड़ा सिद्ध करने की कोशिश करते रहना, अंगरेजी भाषा-साहित्य की अपनी गहरी अभिज्ञता की अक्सर चर्चा करते रहना हिन्दी के धौरन्धरिक वैयाकरणों के व्याकरण-दोष देखते-दिखाते रहना, हिन्दी के सम्मान के प्रश्न पर गाँधी जी से लड़ना तथा नाना प्रकार के पारिवारिक अभाव की पीड़ा सहते-झेलते अन्ततः मानसिक सन्तुलन खो बैठना—निराला की साध नहीं मजबूरी थी। मजबूरी इसलिए कि उचित-अनुचित का उनमें पूर्ण विवेक था, स्वाभिमान पुष्ट और जागृत था, चरित्र रेहन रखकर चलने की कला उन्हें नहीं आती थी और न तो ईमान हेठकर "महन्त" बनने और 'भोग-साधन' जुटाने की चालाकी उनमें थी। शायद तभी अपने पेशे पत्रकारिता के प्रति निराला कमज़ोर नहीं हो पाये।

निराला की समकालीनता और सरोज स्मृति

डॉ० प्रेमशंकर

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' अपने समय में ही गाथा बन गए। उत्तर-प्रदेश के पिछड़े इलाके बैसवाड़ा में निर्धन किसान-परिवार में जन्मे निराला की संघर्ष-कथा विचलित कर देने वाली है। डा० रामविलास शर्मा ने निराला की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत करते हुए, इसके विवरण दिए हैं। डा० शर्मा स्वयं उस क्षेत्र के हैं और निरालाजी के समीपी रहे हैं, उसी क्षेत्र के आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के समान। रोजी-रोटी की तलाश में निराला के पिता महिषादल बंगाल चले गए जहाँ निराला के शैशवकालीन संस्कार बने। उनकी कविताओं में वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अनेक रूपों में आता है। वर्षा-वसन्त उनकी प्रिय ऋतुएँ हैं। आगे चलकर जब निराला 'मतवाला' के सम्पादक और रामकृष्ण मिशन से सम्बद्ध होकर कलकत्ता में रहे, तब आधुनिक भारतीय नवजागरण के सर्वोत्तम से उनका घनिष्ठ परिचय हुआ, जिसकी छाया उनकी रचनाशीलता में विद्यमान है। नव्यवेदान्त के प्रगतिशील व्याख्याता विवेकानन्द से उन्हें अद्वैत दर्शन की नयी दृष्टि मिली। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के सौन्दर्य बोध ने उन्हे प्रभावित किया। पर निराला अपनी बैसवाड़ी जमीन से भी जुड़े हुए हैं, जहाँ किसान-संघर्ष में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। 'नये पत्ते' की कविताएँ—'मँहगू मँहगा रहा,' 'डिप्टी साहब आए हैं,' 'झींगुर डटकर बोला' आदि में इसका वर्णन है। गद्य कृतियों (चतुरी चमार, बिल्लेसुर बकरिहा आदि) में ग्राम-दैन्य के यथार्थ चित्र हैं, जहाँ संघर्षशील जनता साम्राज्यवाद से जूझती है। इस प्रकार उनकी रचना की, कई प्रेरणा-भूमियाँ हैं।

निराला को 'वैविध्य का कवि' कहा जाता है और वे स्वयं को कई दिशाओं में संचरित करते हैं। अपने प्रथम कविता संकलन 'परिमल' में ही उन्होंने इसका परिचय दिया था कि वे एकायामी अथवा एकरस कवि नहीं हैं। इनमें प्रकृति-चित्र हैं, ऋतु गीत, दार्शनिक चिन्तन और सजग सामाजिक चेतना है। आगामी चरणों में इन प्रवृत्तियों को विकास मिला है। यह अकारण नहीं कि १९३६ के आस-पास निराला का काव्यजगत नयी दिशाएँ ग्रहण करता है, सामाजिक यथार्थ को मुखरित करते हुए। उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' जैसी व्यंग्य

रचनाएँ लिखी, जहाँ कुकुरमुत्ता आभिजात्य सौन्दर्य के प्रतीक गुलाब को ललकारता है : **अबे, सुन बे, गुलाब।** नवाब के बगीचे में फारस से मँगाकर लगाया गया, यह पौधा जिस अभिजन समाज के सौन्दर्य बोध का प्रतीक है, उसके विरोध में निराला कुकुरमुत्ता के माध्यम से सामान्यजन की सहज दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। व्याख्याएँ अलग-अलग हो सकती हैं, पर निराला ने अपनी स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य-दृष्टि के स्थान पर यथार्थ को स्वीकार किया। उनमें प्रगति-प्रयोग की सम्मिलित भूमि दिखाई देती है, और वे हमारे समकालीन बनते हैं। प्रसाद ने हमें 'कामायनी' जैसा क्लासिक दिया, पंत की कई दिशाएँ हैं, पर अंत में वे तत्त्व-चिन्तन में उलझ गये, महादेवी का संसार सीमित है। पर छायावादी स्वच्छंदतावादियों में निराला नई ज़मीन तोड़ते हैं। उनके काव्य की कई भाव-भूमियाँ निर्मित होती हैं : वैयक्तिक अनुभूति, प्राकृतिक दृश्य, ऋतु-चित्र से आगे बढ़कर वे दर्शन-मनन, सामाजिक यथार्थ और अन्त में अर्चना, आराधना में, प्रार्थना भाव की ओर आते हैं : **अशरण हूँ गहो हाथ।** 'सांध्यकाकली' मरणोपरान्त प्रकाशित काव्य संकलन है जिसमें निराला अपने ही विषय में कहते हैं—**ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।**

निराला का भाव-लोक उदात्त विचार-भूमि पर संस्थित है और नव्य वेदान्त जैसे उनका रक्षा-कवच भी है, जो उन्हें व्यापक जीवन-दृष्टि तो देता ही है, उनके आत्मविश्वास को भी जीवित रखता है : **चिन्ता कुछ नहीं मुझे यद्यपि, मैं ही वसन्त का अग्रदूत** अथवा **मौन हुई हैं मूछित तानें और निशाने चूक गए हैं।** निराला के सन्दर्भ में 'मैं' शैली की बात की जाती है, पर उनकी विराट कवि-चेतना में जैसा पूरा संसार समाया हुआ है। उनकी दृष्टि किसान की नई बहू की आँखों पर जाती है और वे सघन ग्राम-दृश्य, यथार्थ के साथ, गीतों तक में व्यक्त कर सकने की क्षमता रखते हैं। निराला अन्याय, पाखंड, धर्म, जाति-विभेद, वर्ग-भेद आदि पर सीधे आक्रमण करते हैं। यहाँ उनका व्यंग्य तीखा हो जाता है। जिसे प्रायः मोह भंग कहा जाता है, वह एक प्रकार से अर्धसत्य है। रचना में इसकी सार्थकता तभी है, जब कवि वृहत्तर संवेदन-संसार से सम्पृक्त हो जाय। मुक्तिबोध ने इसे व्यक्ति-संवेदन और समाज-संवेदन का संयोजन कहा है। इकलौती बेटी सरोज की असमय मृत्यु होती है, प्रिया मनोहरा देवी युवावस्था में ही काल-कवलित हो गई। निराला विषादग्रस्त हैं, पर वे उस व्यवस्था पर भी आक्रमण करते हैं; जिसने उनकी बेटी को निगल लिया।

'राम की शक्तिपूजा' पुराख्यान पर आधारित है पर निराला राम को अपने समय में प्रतिष्ठित करते हैं। खिन्न वाहिनी लौट-लौट आती है, रावण की सेना पराजित नहीं होती। राम विषादमग्न हैं, और उनकी चेतना में प्रश्न उठता है : **अन्याय जिधर है, उधर शक्ति।** और : **रावण अधर्मरत भी अपना मैं हुआ अपर।** यहाँ निराला राम को आधुनिक मनुष्य की गहरी यातना से गुजारते हैं, जिसमें वे स्वयं सम्मिलित हैं। निराला का जीवन संघर्ष राम के चरित्र में विद्यमान है। उनकी चिन्ता है कि प्रिया का उद्धार कैसे होगा? पर यह वैयक्तिक लाभ-हानि का प्रश्न नहीं है। ऐसा होता तो राम के विराट चेतन की स्थापना कैसे होती? राम प्रिया का स्मरण करते हैं, जब स्वयंवर में उन्होंने सीता को पाया था, पौरुष पराक्रम से। कायर राक्षस पराजित हुए थे। इस अवसर पर निराला अपनी प्रिया का स्मृति चित्र बनाते हैं: **ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत / जागी पृथ्वी-तनया कुमारिका छवि अच्युत देखते हुए निष्पलक याद आया उपवन / विदेह का प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन / नयनों का नयनों से गोपन प्रिय सम्भाषण।** यहां सीता की 'पृथ्वी तनया कुमारिका छवि' के माध्यम से निराला पृथ्वी की मुक्ति का स्वप्न देखते हैं, केवल प्रिया का नहीं। यह है निराला की विराट चेतना, उनकी उदात्त भावभूमि। यह प्रिया प्रेरणा है, जैसे अन्धकार में बिजली। इसी क्रम में निराला राम को संकल्पी बनाते हैं: **फिर विश्व विजय भावना हृदय में आई भर।** कविता में संघर्ष अन्तिम क्षण तक विद्यमान है। राम ध्यानमग्न हैं, साधनालीन। उनकी परीक्षा के लिये दुर्गा उनका अन्तिम कमल ले जाती हैं। सकल्पवान राम के विषय में निराला ने लिखा है: **वह रहा एक मन और राम का जो न थका / जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय।** संकल्पी राम माता के सम्बोधन 'राजीव-नयन' का स्मरण करते हैं और कमल के स्थान पर अपना नेत्र साधना-समापन के रूप में प्रस्तुत करने को उद्यत होते हैं। तभी दुर्गा का अवतरण होता है, इस घोषणा के साथ कि 'जय होगी पुरुषोत्तम नवीन।' यहां राम मनुष्य हैं, सर्वोपरि मनुष्य, उच्चतम मूल्यों के समुच्चय। राम की शक्ति-पूजा का कथांश प्राचीनतम है पर उसमें आधुनिक मनुष्य की संघर्ष-गाथा है। इस दृष्टि से निराला हमारे समकालीन बनते हैं—संघर्षरत, पर संकल्पी।

संवेदन के इतने संसार निराला में हैं कि यह देखकर आश्चर्य होता है कि जीवन के कठिनतम संघर्षों के बीच वे इतना कुछ कैसे कर सके। अन्तिम समय तक सर्जनरत रहे, जैसे व्यथा को भी उन्होंने कविता में ढाल दिया, अपना

आत्मविस्तार करके। निराला की विद्रोही वृत्ति का प्रायः उल्लेख किया जाता है। प्रथम काव्य संकलन 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने काव्य की मुक्ति का स्वप्न देखा, छन्द-बन्धन से मुक्ति के माध्यम से। अर्थवत्ता देने के लिए उसे जातीय मुक्ति से जोड़ दिया। आज जब नयी कविता, समकालीन कविता में छन्द की आवश्यकता नहीं स्वीकारी जाती, तब निराला का स्मरण हो आता है। छन्द से मुक्ति इसलिए कि भावों का बलिदान न हो, पर यह अराजक स्थिति नहीं है। निराला शास्त्रीय संगीत में निष्णात हैं और उन्होंने श्रेष्ठ गीतों की रचना की है। उन्हें राग-रागिनियों का ज्ञान है। मुक्त होकर भी छन्द को लय की भूमि पर उपस्थित रहना है। छन्द का ज्ञाता ही छन्द की मुक्ति का स्वप्न देख सकता है, नहीं तो ऐसी अराजक स्थिति कि कविता के नाम पर कुछ भी खपाया जा सकता है। निराला के मुक्त छन्द में जो लय है, उस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है जैसे जुही की कली, प्रेयसी आदि में। इससे कविता निरर्थक शब्दों की भरमार से बच जाती है। एक ऐसा सहज काव्यानुशासन अथवा काव्यसंयम आता है कि कविता कविता लगती है। निराला मुक्त छन्द के आधुनिक प्रस्थान हैं, और इस दृष्टि से हमारे समीपी।

निराला की काव्य भाषा आज भी हमें सिखा सकती है। उनके शब्द संसार के कई स्रोत हैं : संस्कृत की तत्सम और बांग्ला की प्रचलित शब्दावली, खड़ी बोली की मधुर कठोर वाणी, बैसवाड़े की ठेठ देशज भाषा, उर्दू-फारसी का मुहावरा आदि। इस शब्दराशि का प्रयोग करते हुए निराला उसे काव्य भाषा का रूप देते हैं। कविता अलंकृत, सायास नहीं प्रतीत होती। सुसंस्कृत होकर भी, वह बहुत असहज नहीं दिखाई देती। 'राम की शक्तिपूजा' के आरंभ में समास-बहुला भाषा अवश्य संवाद की कठिनाई उपस्थित करती है। कथ्य के अनुरूप भाषा का प्रयोग निराला का विशिष्ट कौशल है। गीतों का माधुर्य भाव-शब्द-समन्वित है : 'सखि वसंत आया', 'रूखी री यह डाल वसन वासंती लेगी', 'प्रिय यामिनी जागी', 'बांधो न नांव इस ठांव बंधु' से लेकर विनय-प्रार्थना गीतों तक। यही भाषा जब व्यंग्य की ओर आती है तो उर्दू के शब्द भी अपनाती है। सामाजिक यथार्थ की कविताएँ ठेठ देसी मुहावरे में लिखी गई हैं—'बेला' और 'नये पत्ते' संकलनों में। उल्लेखनीय है कि निराला ने हर प्रकार के आभिजात्य के विरोध में, आधुनिक हिन्दी कविता में पहली लड़ाई लड़ी। प्रगति-प्रयोग दोनों का प्रस्थान उन्हें कहा जा सकता है। स्वाभाविक है कि कवियों की समकालीन पीढ़ी उन्हें अपने प्रेरणा-पुरुष के रूप में देखती है। अमानुषीकरण की चिन्ता आज की कविता को विचलित करती है। उन्होंने लिखा है :

कैसा तन-मन का ओड़ा है / मानव जहाँ बैल घोड़ा है। निराला 'तुलसीदास' में कवि-कर्म को गहन सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व के रूप में रेखांकित करते हैं : **करना होगा यह तिमिर पार / देखना सत्य का मिहिर द्वार।**

'राम की शक्ति-पूजा' और 'सरोज स्मृति' को निराला की समकालीनता के लिए दो प्रतिनिधि कविताओं के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। 'सरोज स्मृति' अपनी इकलौती बेटी के असमय करुण अवसान पर लिखित महाकवि निराला का शोकगीत है। हिन्दी में शोकगीत की परम्परा क्षीण है, यद्यपि आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रचुर गीतात्मकता है। अंग्रेजी में कवि ग्रे का नाम शोकगीत के क्षेत्र में ख्यात है। मलयालम में शोकगीतों के रचे जाने की परम्परा है। सरोज के निधन ने संवेदनशील निराला को बहुत विचलित किया, और उन्होंने अपने विषाद को इस शोकगीत के माध्यम से व्यक्त किया। इसकी रचना ९-१०-१९३५ को हुई और इसका प्रकाशन 'सुधा' (लखनऊ) पत्रिका में १९३६ में हुआ। 'द्वितीय अनामिका' में यह संकलित हुई। एक संबोध गीत (ओड) के रूप में इस शोकगीत (एलजी) का आरम्भ होता है, जहाँ निराला अपनी पुत्री को सम्बोधित करते हैं जो आयु के उन्नीसवें वर्ष में ही चली गई। **'ऊनविंश पर जो प्रथम चरण/तेरा वह जीवन सिन्धु-तरण / तनये, कर ली दिक्-पात तरुण / जनक से जन्म की विदा करुण'** कविता में निराला ने अपनी बेटी को सम्बोधित करते हुए, उसे कुछ सम्बोधन दिये हैं : तनये, धन्ये, गीते मेरी, जीवित कविते, शुचिते, कन्ये आदि। जीवन के अठारह अध्याय पूरे करने के बाद बेटी असमय ही चली गई। इसे निराला एक वेदान्ती तर्क देते हैं जैसे वह महान ज्योति में विलीन हो गई : **वर लिया, अमर शाश्वत विराम, पूर्ण आलोक वरण।** इसे निराला **'सरोज का ज्योतिःशरण तरण'** कहते हैं। जैसे कवि अपनी ऐसी गहन वेदना को 'रेशनलाइज' करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसकी क्षति-पूर्ति इस जन्म में सम्भव नहीं। अगले की विधाता जाने। जीवित कविते के रूप में सम्बोधित करते हुए निराला कल्पना करते हैं कि जब वृद्ध होकर स्वर्ग जाऊँगा तो बेटी मुझे सहारा देगी : तू **गयी स्वर्ग क्या यह विचार / जब पिता करेंगे मार्ग पार / यह अक्षम अति; तब मैं सक्षम / तारूँगी कर गह दुस्तर तम।** यह कवि का तर्क है, वेदना के साथ।

निराला विराट चेतना के ऐसे कवि हैं जो स्वय को कई दिशाओं में प्रक्षेपित करने में सक्षम है। पर इकलौती बेटी के असमय निधन ने उन्हें जिस गहन विषाद में लपेट लिया है, उससे उबर पाना कठिन है। यहाँ पिता निराला और

सर्जक कवि निराला में एक अपरिभाषित द्वन्द्व की स्थिति है। विषाद से आरंभ होकर कविता जीवन की ओर मुड़ती है, जहाँ कवि बेटी के निधन को केवल वैयक्तिक हानि-पीड़ा के रूप में नहीं देखता। वह उन स्थितियों का जायजा लेता है जिसमें एक महाकवि की इकलौती बेटी उन्नीसवें वर्ष में ही चली गई! डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'निराला की काव्य-साधना' में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि सरोज को यक्ष्मा हुआ था। जो प्रकाशक निराला की कृतियों से रईस हो रहे थे, उन्होंने इतनी राशि भी नहीं दी कि अपने समय का श्रेष्ठ कवि बेटी के लिए एक बकरी खरीद सके, जिसका दूध यक्ष्मा में लाभकारी माना जाता है। निराला पश्चाताप में डूब जाते हैं और कविता सामाजिक संघर्ष की ओर आती है। स्वयं को धिक्कारते हुए निराला कहते हैं: **धन्ये, मैं पिता निरर्थक था। कुछ भी तेरे हित कर न सका। लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर / हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।** निराला यहां जैसे भविष्यवक्ता हैं, प्रातिभ-ज्ञान के धरातल पर। वे आर्थिक पथ और स्वार्थ समर का उल्लेख १९३५ ई० में करते हैं। आज तो स्थिति इतनी भयावह हो गई है कि जैसे चतुर्दिक अमानुषीकरण हो। निराला हमारे समकालीन हैं, इस दृष्टि से।

निराला का जीवन-संघर्ष सर्वविदित है। जो अकिंचन किसान परिवार में जन्मा हो, और स्वाभिमान के साथ थोड़ा सिर उठाकर चलना चाहे, उसके जीवन में संघर्ष ही संघर्ष। असमझौतावाद की परिणति कई बार शहादत में होती है क्योंकि समाज असंगठित है और व्यवस्था निष्करुण। निराला ने किसान संघर्ष में भाग लेते हुए बैसवाड़ा (उन्नाव, उ०प्र०) के सामान्यजन को मिलाने-जुलाने का प्रयत्न किया, पर उनका सामाजिक स्वप्न अधूरा रह गया। वे अपनी बेटी को न चीनांशुक पहना पाए, न दधिमुख रख सके। यह है कवि की पीड़ा। पर यहाँ निराला सर्वोच्च मानव-मूल्यों का आग्रह करते हैं। वे स्वयं से बाहर निकलते हैं, कहते हैं: **क्षीण का न छीना कभी अन्न / मैं लख न सका वे दृग विपन्न।** निराला की रचनाशीलता की अनेक कथाएँ हैं, और उन्हें अवढरदानी कहा गया, महादेव शंकर की तरह। भूखे विपन्न रहकर भी दूसरों की सेवा-सहायता करना निराला का स्वभाव था। और ऐसी विद्रोही चेतना कि हिन्दी के प्रश्न पर अपने आराध्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधी से भी टक्कर लें। दूसरी ओर सामान्यजन के प्रति परम करुणावान। ऐसी मानवीयता थी, निराला में। कविता में निराला आर्थिक के साथ अपने रचना संघर्ष का भी उल्लेख करते हैं। प्रथम कविता संकलन 'परिमल' में वे काव्य की मुक्ति की घोषणा करते हैं, छन्द की मुक्ति के साथ।

कालिदास, रवीन्द्र जैसी असंग सौन्दर्य की रचनाएँ लिखते हैं, जहां शरीर / देह पीछे छूट जाते हैं, और आत्मिक सौन्दर्य प्रतिष्ठित होता है। निराला का प्रसिद्ध गीत है : प्रिय यामिनी जागी, जिसकी समापन-पंक्तियां हैं : **वासना की मुक्ति मुक्ता-त्याग में तागी**। आधुनिक रचना का इतिहास बताता है कि 'जुही की कली' जैसी श्रेष्ठ कविता 'सरस्वती' से लौट आई थी क्योंकि सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सुधारवादी नैतिक दृष्टि उसे झेल नहीं सकती थी। प्रकाशक रायल्टी नहीं देते थे और सम्पादक नयी रचनाशीलता को पचा नहीं पा रहे थे। ऐसा था, निराला का जीवन-संघर्ष। निराला पर आक्रमण ही आक्रमण थे : **देखता रहा मैं खड़ा अपल / वह शरक्षेप वह रण-कौशल**। निराला ने रचना से उत्तर दिया : **आराधन का दृढ़ आराधन से उत्तर दो** (राम की शक्तिपूजा)।

भावोच्छ्‌वास के सहारे कविता दूर तक नहीं जा पाती। अपनी बेटी का स्मरण करते हुए निराला, कविता को कथाचक्र से गुजारते हैं। समकालीन कविता में, बिना कथा-वर्णन का सहारा लिए हुए, जीवन-दृश्यों को लम्बी कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है। मुक्तिबोध, नागार्जुन, धूमिल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना से लेकर विजयकुमार आदि तक में इसे देखा जा सकता है। सरोज बहुत छोटी थी कि मां मनोहरादेवी चली गईं। 'परिमल' का समर्पण करते हुए निराला ने लिखा है 'मनोहरादेवी को, जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय मैं आंख नहीं मिला सका।' सरोज दिवंगत प्रिया की स्मृति थी, वह भी चली गई। विवश स्थितियों में सरोज नाना-नानी के पास पली थी। निराला जीवन-संघर्ष में उलझे थे, भटकते हुए कलकत्ता, लखनऊ, उन्नाव, काशी, प्रयाग न जाने कहाँ-कहाँ। सरोज के बाल्यकाल के दृश्य सहजता से आए हैं। जो शोकगीत करुणा-विषाद से आरम्भ हुआ था, वह जीवन संघर्ष से गुजरते हुए, पारिवारिक चित्रों तक आता है, जिसमें बड़े भाई की मार तक शामिल है। लोग आग्रह करते हैं कि पुनर्विवाह कर लो। प्रस्ताव भी आते हैं। पर निराला की स्मृति में प्रिया है, और वे सरोज को स्मृति के रूप में सुरक्षित चाहते हैं, बस फलित ज्योतिष को नकारते हुए महाकवि अपनी बेटी के हाथों कुंडली (जन्मपत्री) ही फड़वा डालते हैं जिसमें दो विवाह की बात है। यह है निराला का विद्रोही-भाव, जो लिखित भाग्य से भी टकराता है।

'सरोज-स्मृति' में निराला अपनी बेटी के सौन्दर्य के जो चित्र बनाते हैं, वे अप्रतिम हैं। उन्हें हिन्दी कविता की उपलब्धि कहा जायगा। तरुणाई का

चित्र, जब बेटी ननिहाल में है, इसे कवि ने पूरे विस्तार से दिया है, दृश्य बनाते हुए : **कर पार कुंज तारुण्य-सुघर / आयी लावण्य भार थर-थर / कांपा कोमलता पर सस्वर / ज्यों मालकोश नव वीणा पर / नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द / फूटी ऊषा जागरण छन्द / कांपी भर निज आलोक-भार / कांपा वन, कांपा दिक् प्रसार।** हिन्दी कविता में विरल उदाहरण है जब किसी कवि-पिता ने अपनी दिवंगत बेटी का ऐसा रूप-चित्र उरेहा हो। रूप के साथ गुण भी। बेटी संगीत-सिद्ध। कवि आश्चर्य करता है, ऐसा मधुर कंठ। उसे फिर अपनी प्रिया का स्मरण हो आता है : **फूटा, कैसा प्रिय कंठ स्वर / मां की मधुरिमा व्यंजना भर।** मार्मिक पंक्ति है : **बन जन्मसिद्ध गायिका तन्वि / मेरे स्वर की रागिनी वह्नि।** निराला ने कल्पना की कि जैसे किसी अन्य नीड़ में कोकिल का प्रथम स्वर।

कविता को करुणा से, सामाजिक यथार्थ की भूमि पर ले जाना, व्यंग्य तक कर सकना, निराला के उस व्यक्तित्व का द्योतक है जिसमें स्वयं से ऊपर उठ सकने का निरन्तर प्रयत्न है। सजग सामाजिक चेतना से ही मनुष्य अपने निजी सुख-दुख से मुक्ति पा सकता है। सरोज बड़ी हो गई है, ननिहाल वाले उसे पिता निराला को सौंप देते हैं, यह कहकर कि अब इसका विवाह हो जाना चाहिये। निराला अपनी बेटी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं : **ले चला साथ मैं तुझे कनक/ज्यों भिक्षुक लेकर स्वर्ण-झनक।** पत्नी मनोहरादेवी को युवावस्था में ही खो देने के अनन्तर निराला के पास प्रिया की स्मृति बेटी सरोज के अतिरिक्त है ही क्या ? स्वीकारना होगा कि निराला के लिए बेटी सरोज पत्नी की स्मृति है, इकलौते बेटे रामकृष्ण की स्थिति दूसरी है। उन्नाव पिछड़ा इलाका है जहाँ का कान्यकुब्ज ब्राह्मण समाज अपने खोखले जातीय अहंकार में जीता है। इनमें भी बिसवा-बीघा के हिसाब से वर्ग-भेद, आपसी विवाह अपने ही वर्ग में। ऐसी स्थिति में यहाँ के कान्यकुब्ज किसी भी परदेश में देखे जा सकते हैं—कलकत्ता, बम्बई। स्वयं निराला के पिता महिषादल में सिपाही थे। निराला साधारण कान्यकुब्ज समाज के, उस पर आर्थिक दृष्टि से विपन्न। बेटी की विवाह की समस्या। निराला कितने जाग्रत कि अपनी ही बिरादरी पर आक्रमण करते हैं, जो कुरीतियों में जीती है : **'ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार।'** वे अपनी निर्धनता का वर्णन करते हैं—फटे बिवाई वाले पैर, चमरौधे जूते। निराला का विद्रोही स्वर है : **ऐसे शिव से गिरिजा विवाह/करने की मुझको नहीं चाह।** प्रेरणा तुलसी के रामचरितमानस की है जहाँ शंकर के अघोरी रूप को देखकर पार्वती की माँ मैना विवाह के

लिए मना कर देती हैं। पर निराला ने इस पंक्ति को समकालीन सन्दर्भ में विद्रोही तेवर दिए हैं।

सरोज का विवाह सम्पूर्ण रूढ़ियों का निषेध है। एक अध्यापक युवक से विवाह होता है। निराला अपनी 'रिक्तहस्तता' का उल्लेख कर देते हैं। विवाह में पुरोहित का कार्य निराला स्वयं करते हैं, मन्त्रोच्चार करते हैं। इतना ही नहीं, विद्रोह अपने चरम पर पहुँचता है : **माँ की कुल शिक्षामैंने दी/ पुष्प सेज तेरी स्वयं रची।** विद्रोही विवाह के बीच निराला एक बार फिर बेटी का सौन्दर्य चित्र बनाते हैं, प्रिया की स्मृति के साथ। वास्तव में निराला की प्रिया चिरन्तन प्रिया है और वह कवि के अंतिम क्षणों तक विद्यमान रहती है, कविता की प्रेरणा बनकर। विवाह के अवसर पर बेटी का रूप चित्र हिन्दी कविता में अप्रतिम है : **देखती मुझे तू हंसी मन्द/होठों में बिजली फँसी स्पन्द/ उर में भर झूली छवि सुन्दर/ प्रिय की अशब्द शृंगार-मुखर····/देखा मैंने वह मूर्ति-धीति / मेरे वसंत की प्रथम गीति/स्वर्गीया प्रिया उर की स्मृति/**जैसे रति का अवतरण। यहाँ बेटी की स्थिति, मौन से ही सब कुछ व्यक्त कर देना, वसंत जैसा ऋतुराजी दृश्य, प्रिया का स्मरण और अंत में सौन्दर्यदेवी रति का नया अवतरण सब एक साथ हैं। निराला स्वयं को कण्व की स्थिति में रखते हैं, महाकवि कालिदास का स्मरण करते हुए, जैसे शकुन्तला चली गई। एक बार कविता फिर विषाद की ओर लौटती है, जहाँ से उसका आरम्भ हुआ था। शोकगीत का समापन होता है, सकरुण। निराला अपनी बेटी को पुकार कर कहते हैं : **मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल।** वह भी साथ छोड़ गई। जिस नानी की गोद में पली थी, वहाँ सरोज ने अन्तिम सांस ली। कविता के अंत को लेकर बहस हो सकती है, पर एक संवेदनशील कवि का आक्रोश उचित है। दूसरे ढंग से नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं के प्रखर आक्रोश को भी क्षम्य कहा जा सकता है। पर निराला स्वयं को धिक्कारते हैं। तो क्या वे कवि-कर्म पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं ? नहीं ! वे आधुनिकतावादी दौर में मोह-भंग में भटकने वाले कवि नहीं हैं। वे सब कुछ पार करते हैं, जानते हैं, कवि-कर्म कठिन है, चुनौती भरा, पर इसका सांस्कृतिक दायित्व है। पंक्तियों में निराला बेटी को सम्बोधित करते हुए कहते है : **दुःख ही जीवन की कथा रही/ क्या कहूँ आज जो नहीं कही।** फिर स्वयं को धिक्कारते हैं : **हो इसी कर्म (कवि-कर्म) पर वज्रपात।** अन्त है : **कन्ये, गत कर्मों का अर्पण / कर, करता मैं तेरा तर्पण।**

'सरोज-स्मृति' हिन्दी का अविस्मरणीय शोकगीत है। कविता कई भाव-भूमियों से गुजरती है—करुणा, विषाद, आक्रोश, यथार्थ, व्यंग्य, सौन्दर्यांकन

आदि से। एक ही कविता में एक साथ इतनी भावदशाओं का निर्वाह निराला की प्रतिभा की विराटता का बोध कराता है। 'राम की शक्ति पूजा' के साथ 'सरोज-स्मृति' को रखकर देखने पर, विराट प्रतिभा की महाकाव्यात्मक क्षमताएँ उजागर होती हैं। इसे कवि का मोह भंग भी कहा गया है, इस दृष्टि से कि इसके अनन्तर निराला में सामाजिक यथार्थ बहुत मुखर होता है। उनका सामाजिक आक्रोश व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त होता है। पर वह सब, कुछ समय के लिए। और निराला प्रार्थना-भाव की ओर भी आते हैं। वास्तविकता यह है कि निराला कई दिशाओं के कवि हैं और 'सरोज-स्मृति' जैसी कविताओं में वे एक साथ उपस्थित हैं। वे हमारे समकालीन बनते हैं— यथार्थ, करुणा, विद्रोह के सम्मिलित संवेदन के साथ।

निराला के उपन्यास

मधुरेश

सन् '३१ में जब निराला अपने पहले उपन्यास 'अप्सरा' के साथ उपन्यास के क्षेत्र में आए तब तक प्रेमचन्द के अधिकांश महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। प्रसाद का 'कंकाल' आ चुका था और ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में वृन्दावन लाल वर्मा का 'गढ़कुण्डार' प्रकाशित हो चुका था। नवोदित उपन्यासकारों के रूप में इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्रकुमार क्रमशः अपने 'घृणामयी' और 'परख' से अपनी रचना-यात्रा शुरू कर चुके थे। 'सुधा' में धारावाहिक प्रकाशन के बाद जब 'अप्सरा' पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ तो निराला ने अपनी संक्षिप्त भूमिका में अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी उपन्यास की विपन्नता की चर्चा भी की। प्रेमचंद के उपन्यासों का नाम लिए बिना उन्होंने आदरपूर्वक उनका उल्लेख किया है। अन्य भारतीय भाषाओं में बांग्ला उपन्यासकारों की प्रसिद्धत्रयी—बंकिमचंद्र, रवीन्द्रनाथ और शरच्चंद्र—उनके सम्मुख रही होगी। इनमें से बंकिम की कुछ रचनाओं का शायद उन्होंने अनुवाद भी किया था और प्रायः सभी को उनकी मूल भाषा में पढ़ने का सुयोग उन्हें मिला था। हिन्दी में बड़ी-बड़ी तोंद वाले औपन्यासिक सेठों की महफिल में अपनी दंशिताधरा 'अप्सरा' के उतरने पर वे उसके अर्थात् स्वयं अपने लज्जित अनुभव करने की बात भी कहते हैं। उन्हें इसका विश्वास है कि 'वह एक ही दृष्टि में इन्हें अपना अनन्य भक्त कर लेगी'....बड़ी-बड़ी तोंदों वाले औपन्यासिक सेठों से, हो सकता है उनका आशय प्रतापनारायण श्रीवास्तव और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक से रहा हो। प्रेमचंद के अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन कथा-परिदृश्य में सक्रिय किसी लेखक का उल्लेख भले ही न किया हो, लेकिन उनके संकेतों से यह समझ लेना कठिन नहीं है। अपने उपन्यास की नायिका के संदर्भ में उन्होंने लिखा है—'किसी दूसरी रूप वाली अनिंद्य सुन्दरी से भी आँखें मिलाते हुए वह नहीं घबराती, क्योंकि वह स्पर्द्धा की एक ही सृष्टि, अपनी ही विद्युत से चमकती हुई चिर-सौंदर्य के आकाशतत्व में छिप गयी हैं'....(निराला रचनावली/३, भूमिका पृ० १९) स्पर्द्धा के लिए जिन सुन्दरियों की ओर निराला ने संकेत किया है क्या वे 'घृणामयी' की 'लज्जा' और 'परख' की, कट्टो हैं? इन उपलब्ध संकेतों से स्थिति बहुत स्पष्ट न होने पर भी, कुछ बातों का उल्लेख तो किया ही जा

सकता है। 'अप्सरा' लिखते समय निराला का उद्देश्य सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि वाले भारी भरकम उपन्यास लिखने का नहीं था। बांग्ला उपन्यास की परम्परा से भली भाँति परिचित होने के कारण प्रेम उनके लिए कथा-साहित्य में कोई वर्जित या प्रतिबंधित विषय नहीं था। इस सन्दर्भ में अंतिम बात यह कि काव्य-क्षेत्र में अपनी सघन पहचान के बाद भी कथा साहित्य मे वे पर्याप्त गंभीर दिखाई देते हैं—अपने प्रतिष्ठित और नवोदित समकालीनों को चुनौती और स्पर्द्धा-भाव से देखते हुए।

निराला ने 'अप्सरा' की नायिका कनक को अप्रतिम सौंदर्य और असाधारण वैदुष्य को मिलाकर गढ़ा है। तत्कालीन भारतीय समाज में स्त्री के लिए इतनी स्वतन्त्रता संभव न होने के कारण ही शायद उन्होंने एक वेश्या-पुत्री के रूप में उसकी परिकल्पना की है। समृद्धि और ऐश्वर्य में पली कनक अंग्रेज अध्यापिका से घर पर पढ़ी है। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान ने उसे एक असाधारण गरिमा और आत्मविश्वास दिया है। बाद में अपनी मां सर्वेश्वरी बाई से ही उसे पता चलता है कि वह जयनगर के महाराज रणजीत सिंह की कन्या है। उसके चारित्रिक विकास की रेखायें बहुत सुस्पष्ट और सुगढ़ न होने पर भी उसके व्यक्तित्व को निराला ने एक ऐसी गरिमा और तेज से रचा है जो अपने प्रभाव में अनुपम और मारक है। जब वह, अभिनय के लिए, मंच पर पहुँचने के पूर्व सभा भवन की ओर जाने के लिए, गाड़ी से उतरती है तो निराला ने उसके व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, 'बिना किसी इंगित के ही जनता की क्षुब्ध तरंग शान्त हो गयी। सब लोगों के अंग रूप की तड़ित से प्रहत निश्चेष्ट रह गए। सर्वेश्वरी का हाथ पकड़े हुए कनक मोटर से उतर रही थी। सबकी आँखों के सन्ध्याकाश में जैसे सुन्दर इन्द्रधनुष अंकित हो गया हो। सबने देखा मूर्तिमती प्रभात की किरण है........' (वही पृ० २७) अपनी त्वरित बुद्धि, वैदुष्य और आत्मविश्वास का परिचय भी वह प्रायः सब कहीं देती है। तारा के मायके की अपढ़ स्त्रियों द्वारा उसकी फ़ज़ीहत देखकर चंदन तारा की छोटी बहन बिट्टन से उसकी तुलना करके उसकी शिक्षा पर भी टिप्पणी करता है। बिट्टन को कोई भी भगाकर ले जा सकता है जबकि कनक के साथ ऐसा कर पाना असंभव है। तारा के मायके में लड़कियों की शिक्षा को अपराध समझा जाता है। अपने परिवार में तारा थोड़ी अलग इसलिए है क्योंकि शहर में अपने पति के सम्पर्क में उसने पढ़ना-लिखना सीख लिया है और इससे हासिल आत्मविश्वास उसे औरों से अलग करता है। भले ही एक आत्म सजग और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध खड़ी युवती की अपनी परिकल्पना में निराला बहुत स्पष्ट न हों, लेकिन जो भी छिट-पुट संकेत यहाँ उपलब्ध हैं उनसे उनकी रचनात्मक सजगता और लक्ष्य को समझ पाना कठिन नहीं है।

निराला ने 'अप्सरा' में नारी-मुक्ति के सवाल को केन्द्रीय-कथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। विजयपुर के कुंवर साहब की रियासत और षडयन्त्र से तो कनक की मुक्ति चन्दन, तारा, हरिपाल सिंह और राजकुमार के सम्मिलित प्रयासों से होती ही है, स्त्रियों की अशिक्षा और सामाजिक रूढ़ियों के मकड़जाल से भी वे उनकी मुक्ति का आह्वान करते हैं। तारा द्वारा अत्यन्त सादगी के साथ कनक और राजकुमार का विवाह और कनक के कीमती पेशवाज का अग्नि-संस्कार उसके इस रूपान्तरण का ही संकेत है जिसमें अपनी माँ के धंधे की आशंकाओं को जलाकर जैसे वह एक नए जीवन का वरण करती है—एक विवाहिता स्त्री की गरिमा और मर्यादा का वरण। सनातनी हिन्दू समाज में पति का नाम न लेने की रूढ़ि का विरोध करते हुए कनक कहती है, 'पर मैं लिया करूँगी। मैं कोई घूंघट काढ़ने वाली सुहागिन तो हूं नहीं' (वही पृ० ३१) तारा का पति नंदनसिंह मुँह दिखाई की रस्म में कनक को जो चीजें देता हैं उनमें एक चरखा भी है। कथा-संगठन की दृष्टि से 'अप्सरा' एक घटना बहुल उपन्यास है। यही कारण है कि पात्रों के चरित्र की रेखाएँ बहुत स्पष्ट रूप से नहीं उभर सकी हैं। रूप और श्री से मंडित कनक, राजकुमार के संदर्भ में चंदन जिसे 'सोने की जंजीर' कहता है, जिसे उसके देवता भी कभी तोड़ नहीं सकते, हर प्रकार के स्खलन और विचलन से बचती हुई एक सीधी दिशा में विकसित होती है। रूपान्तरण में किसी संघर्ष और अवरोध की कोई स्थिति उसके सामने आती ही नहीं। तारा के पिता विजयपुर के कुंवर के ही कर्मचारी हैं, फिर भी तारा का सारा परिवार कुंवर के सक्रिय विरोध में जाकर कनक और राजकुमार की सहायता करता है। हैमिल्टन जैसा अंग्रेज पुलिस अधीक्षक सिर्फ कुंवर के साथ ही नहीं है, कनक के ही कारण वह राजकुमार से अपमानित होकर अपने अपमान का बदला भी लेना चाहता है। राजकुमार शुरू से ही एक साहसी और निर्भीक युवक के रूप में सामने आकर हैमिल्टन के अनाचार से इडेनगार्डन में सैर को आई कनक की रक्षा करता है। वह कलात्मक अभिरुचियों वाला एक प्रगतिशील युवक है जो कलकत्ता के सिटी कॉलेज में हिन्दी का प्राध्यापक है। कला, संस्कृति और हिन्दी के प्रति उसकी निष्ठा एक ओर यदि उसे कला के व्यावसायीकरण के विरोध में खड़ा करती है तो दूसरी ओर प्रस्तावित राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी राष्ट्र के गौरव से जुड़कर उसकी सामन्ती और साम्राज्यवाद विरोधी सोच का निर्माण करती है। उसने 'जीवन का अर्थ समर है' को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है और इसी आधार पर वह समाज मे प्रचलित किसी भी स्तर के छुआछूत और जातिवाद का विरोधी है। 'शकुन्तला' नाटक में अभिनय के प्रसंग में वह फिर कनक के

सम्पर्क में आता है और पर्याप्त जोखिम उठाकर अंततः पत्नी के रूप में उसे ग्रहण करता है। निराला ने अपने आदर्शों को उसमें रूपायित करने की कोशिश की है, लेकिन उसके चरित्र के अनेक उल्लिखित पक्षों को पूरी तरह विकसित कर पाने का अवसर उन्हें नहीं मिला है।

चंदन सिंह तारा के पति नन्दन सिंह का रिश्ते का भाई है। वह राष्ट्रीय विचारों का युवक है। लखनऊ में हुई सरकारी खजाने की लूट—आशय शायद काकोरी काण्ड से है—के सिलसिले में उसे संदेह में पकड़ लिया जाता है, लेकिन फिर किसी पुख्ता प्रमाण के अभाव में जल्दी ही जमानत पर छोड़ दिया जाता है। उसके बारे में यह सूचना कई बार मिलती है कि वह लखनऊ में रहकर अवध के किसान संगठन का काम करता है, लेकिन यह सिर्फ सूचना के स्तर पर ही रहता है। कनक की आर्थिक सहायता से वह हरदोई के पास राष्ट्रीय विचारों के किसी विद्यालय की स्थापना की बात भी करता है। एक बहुत सामान्य पात्र होते हुए भी हरिपाल सिंह ठेठ अवध की मिट्टी से बना होने के कारण, अपनी जीवन्तता से ध्यान आकृष्ट करता है। वह रिश्ते में तारा का भाई है जो कुँवर साहब की अघोषित कैद से कनक की रिहाई और रक्षा में पूरी निष्ठा से समर्पित है। अवध की मस्ती और कर्त्तव्य-भावना उसके चरित्र को उसकी संक्षिप्त उपस्थिति के बावजूद, आकर्षक और भव्य बनाते हैं। खैनी, तुलसीदास और आल्हा के प्रति उसकी दुर्निवार आसक्ति उसे सचमुच अवध की मिट्टी से जोड़ती है। अपने पहले उपन्यास 'अप्सरा' में रचनात्मक स्तर पर निराला जिस द्वन्द्व का संकेत देते हैं 'अलका' ('३३) में वे उससे बाहर आते दिखाई देते हैं। 'अप्सरा' में निराला के आगे एक ओर यदि प्रेमचन्द वाला सामाजिक राजनीतिक प्रतिश्रुति का मार्ग था तो दूसरी ओर उन मनोवैज्ञानिक और नायिका प्रधान उपन्यासों के प्रति भी उनमें एक प्रच्छन्न स्पर्द्धा-भाव था जिसकी संभावनापूर्ण शुरुआत जैनेन्द्र कुमार और इलाचंद्र जोशी कर चुके थे। प्रेमचन्द की राह से अपने लिए एक सर्वथा भिन्न और मौलिक राह पकड़ने के कारण ही जैनेन्द्र कुमार अपनी महत्ता स्थापित कर पाने में सफल हुए थे। अपने रचनात्मक विवेक से यह समझने में उन्होंने जरा भी विलम्ब नहीं किया कि प्रेमचन्द की छायामात्र बनकर कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं किया जा सकता। 'निराला के आगे भी यह चुनौती थी। लेकिन इसके लिए उन्होंने जैनेन्द्र कुमार वाला रास्ता न अपना कर काफी हद तक प्रेमचन्द वाला रास्ता अपनाना श्रेयस्कर समझा। पर्याप्त घटना गझिन और संकुल कथानक के बीच अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक सवालों से जुड़कर ही वे इस क्षेत्र में कुछ करने की तैयारी करते दिखाई देते हैं।

निराला 'अलका' में कलकत्ता से हटकर अब अपने अपेक्षाकृत अधिक परिचित क्षेत्र को अपनी कथा भूमि बनाते हैं। लखनऊ, कानपुर और उन्नाव अर्थात् अवध के आस-पास का क्षेत्र ही 'अलका' की कथा भूमि है। नायिका के नाम पर उपन्यास का शीर्षक होने के बावजूद यह 'अप्सरा' की तरह नायिका के असाधारण व्यक्तित्व की काफी कुछ अवास्तविक-सी कहानी नहीं है। उपन्यास में वर्जित घटनाएँ प्रथम विश्वयुद्ध के लगभग तत्काल बाद की हैं। युद्ध के बाद इन्फ्ल्यूएंजा की महाव्याधि के फलस्वरूप देश एक विशाल श्मशान बन चुका है। उसी में शोभा के माता-पिता की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। गाँव का जिलेदार महादेव प्रसाद शोभा को अपने षड्यन्त्र का शिकार बनाकर क्षेत्र के जमींदार मुरलीधर के हरम में पहुँचा देना चाहता है। आने वाले अंग्रेज अधिकारियों की खातिर-तवाजा बाजारू औरतों से न करके गाँव की ऐसी ही भोली-भाली और विवश युवतियों को फाँसकर करने में उसे अपना भविष्य अधिक सुरक्षित दिखाई देता है। शोभा का विवाह हो चुका है। लेकिन गौना न होने से वह अभी तक ससुराल नहीं गयी है। पति बम्बई में रहकर पढ़ रहा है। माँ की मृत्यु के पूर्व, उसके निर्देश पर जो चिट्ठी उसने उसे लिखी थी, वस्तुस्थिति की सूचना देते हुए, वह उसे नहीं मिलती है।

अनेक छोटे-बड़े पात्रों और घटनाओं के बीच निराला अपना कथानक विकसित करते हैं—जरूरत-बेजरूरत ढेर सारे संयोगों का सहारा लेते हुए! कहारिन राधा की सहायता से शोभा जैसे-तैसे निकल भागने में सफल हो जाती है। थककर बेहोशी की हालत में वह दूसरे जमींदार स्नेह शंकर के हाथ पड़ जाती है। स्नेह शंकर, प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर की तरह, बेहद आदर्शवादी किस्म के जमींदार हैं। वे विदेश हो आए हैं। स्वयं लेखक और अध्ययनशील व्यक्ति हैं और अपनी किताबों की आमदनी से किसानों की आर्थिक सहायता भी करते हैं। अपने को प्राचीन ऋषि-परम्परा में मानते हुए वे ईश्वर-प्रदत्त केशों पर उस्तरा नहीं चलाते। घर लाकर वे शोभा को अपनी बेटी की तरह रखते हैं और सुरक्षा की दृष्टि से उसे 'अलका' कहने लगते हैं। किसी सुस्पष्ट दिशा-निर्देश के अभाव में निराला ने अपने को अनेक प्रसंगों और समस्याओं के जाल में फँसा लिया है। वे गाँव में किसानों को जागते और आस-पास की स्थितियों के प्रति सचेत होते चित्रित करते हैं। सुक्खू, बुधुआ, मंहगू, मैकू और लक्खू आदि ऐसे ही किसान हैं। शोषण और उत्पीड़न के परिणामस्वरूप इनकी दयनीय दशा का संकेत निराला प्रभावी ढंग से देते हैं। लक्खू पाले के पलित अरहर जैसा तमाम अंगों से मुरझाया हुआ है।

बुधुआ, लगान के नाम पर कृपानाथ की घुड़की सुनकर काँपने लगता है—'जो रुपये न रहने का रोएँ-रोएँ से दिया हुआ उत्तर था·····'(पृ० ३/१६०) निराला प्रेमचन्द की तरह ही किसानों पर होने वाले अत्याचारों का वर्णन करते हैं। समुचित शिक्षा और संगठन के अभाव में वे दिशाहीन और आतंकित हैं—जमींदार और सरकार के दो पाटों के बीच पिसते हुए। शोभा का पति विजय बम्बई से लौटकर, उनके बीच रहकर, उन्हें संगठित करने का प्रयास करता है। उसका मित्र अजित भी उसकी सहायता करता है। लेकिन विजय को जेल हो जाने पर संगठन का उसका प्रयास अधूरा रह जाता है और जिन किसानों के लिए उसने इतना सब किया है, वे ही जमींदार के आतंक के कारण उसके विरुद्ध गवाही देते हैं।

शोभा के अतिरिक्त सावित्री और वीणा जैसे नारी पात्रों के माध्यम से निराला समाज में परिवर्तित होती स्त्री के विभिन्न रूपों को अंकित करना चाहते हैं। लज्जा और कट्टो की तरह ये अन्तर्मुखी और काफी-कुछ आत्म-मुग्ध किस्म की स्त्रियाँ नहीं हैं। सावित्री स्नेह शंकर की बेटी है—उम्र में शोभा से कुछ बड़ी। पति में अपार निष्ठा रखते हुए भी वह सुहाग के बाह्य चिन्हों को व्यर्थ मानती है। इसीलिए वह सिंदूर, बिंदी, बिछुआ आदि को अनावश्यक मानकर त्याग चुकी है। आर्य सामाजियों द्वारा यज्ञ के नाम पर, घी और अन्न की बर्बादी को वह अपराध मानती है। ब्रजकिशोर की बहन वीणा, जिसे भी जिलेदार मुरलीधर के लिए फाँसना चाहता है, विधवा है। वह स्वामी जी के रूप में अजित के सम्पर्क में आकर उसके प्रति आकृष्ट होती है और बाद में, भाई की अनुमति से उससे विवाह कर लेती है। स्नेहशंकर के सम्पर्क में अलका अपने व्यक्तित्व के विकास का भरपूर अवसर पाती है। काफी कुछ नाटकीय रूप में वह न सिर्फ़ मुरलीधर का षडयंत्र विफल कर देती है—वीणा की सहायता से उसका रिवाल्वर चुराकर उसी से उसकी हत्या भी कर देती है, पुलिस जिसे आत्महत्या मानती है। मजदूरों के बीच काम करने वाला प्रभाशंकर अन्ततः उसका पति विजय ही निकलता है, जिससे उसकी भेंट कमिश्नर के यहाँ होती है।

घटनाओं और पात्रों की इस भीड़ में निराला एक सुगठित कथानक की अधिक चिन्ता नहीं करते। पात्रों के चारित्रिक विकास से अधिक उनकी दृष्टि कथानक के फैलाव और नाटकीय एवं चमत्कारपूर्ण घटना-प्रसंगों पर रहती हैं। प्रेमचंद के 'गबन' के देवीदीन की तरह निराला भी अपने पात्रों द्वारा कांग्रेस और उसके नेताओं के वर्ग-चरित्र पर यहाँ-वहाँ टिप्पणियाँ अवश्य

करवाते हैं। लेकिन इसका कोई समेकित और सघन प्रभाव पैदा कर पाने की दृष्टि से वे अधिक सफल नहीं होते हैं।

अजित और विजय के गाँव पहुंचने पर एक ब्राह्मण के यहाँ उनकी कच्ची रोटी की व्यवस्था की जाती है। ब्राह्मणी अपने पति से उन लोगों की जाति पूछती है। उसके सवाल पर ब्राह्मण कहता है, 'कोई जात है इनके ?····रंगे स्यार हैं, पेट का धन्धा कर रखा है····(पृ० ३/१६४) यह जनता के बीच नेताओं और कार्य-कर्त्ताओं की छवि का एक नमूना है। इसी तरह विजय और अजित अपने भविष्य की रूप-रेखा तय करते हुए विचार-विमर्श करते हैं। विजय कांग्रेस में काम करने का सुझाव देता है। उसके इस सुझाव पर अजित की टिप्पणी है, 'कांग्रेस का हाल मत पूछो' (पृ० ३/१५६) और फिर वे रायबरेली में किसानों के बीच जाकर काम करने का निर्णय लेते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचित अपने उपन्यास 'प्रभावती' ('३६) को निराला 'रोमांस' की संज्ञा देते हैं। इसकी कथा-भूमि के रूप में निराला अपने ही क्षेत्र बैसवाड़ा का चुनाव करते हैं। उपन्यास की कथा कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द के काल से संबद्ध है। लेकिन न तो निराला जयचंद और पृथ्वीराज की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को कथा के केन्द्र में रखते हैं और न ही उन नरेशों की सामन्ती शान-शौकत के चित्र देना उनका लक्ष्य है। कथानक पर्याप्त जटिल और शिथिल होने पर भी 'प्रभावती' में सक्रिय मूल्य-दृष्टि ही, एक लेखक के रूप में निराला की उल्लेखनीय विशेषता है।

'प्रभावती' तीन पड़ोसी राज्यों के संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता की कहानी है। प्रभावती दलमऊ के किलेदार राजा महेन्द्र सिंह की बेटी है। दूसरी ओर महेन्द्रपाल पड़ोसी राज्य लालगढ़-लालडीह का राजा है जो महाराज जयचंद का करदाता मित्र है और उसके साथ इस प्रकार से बंधा है कि युद्ध के अवसर पर वह पाँच सहस्र सैनिकों से उसकी सहायता करेगा। इसी राजा महेन्द्रपाल के पुत्र कुमार देव से शिकार के अवसर पर प्रभावती की भेंट होती है और दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। पिताओं के पारस्परिक विरोध के कारण वह अपनी दासी और सखी यमुना की सहायता से नौका-बिहार के बीच ही कुमार से विवाह कर लेती है। राजा महेन्द्रसिंह प्रभावती का विवाह अन्य पड़ोसी राज्य मनवा के राजा बलवंत सिंह से करना चाहता है जो जयचंद के निकट सम्पर्क के कारण महत्वपूर्ण स्थिति में है। नदी-विहार के अवसर पर ही महेन्द्रसिंह और बलवंतसिंह को आते देखकर प्रभावती नदी में कूद जाती है और बलवंतसिंह कुमार को घायल करके बंदी बना लेता है।

आगे की सारी कथा, अनेक जटिलताओं के साथ, कुमार की मुक्ति से संबद्ध है। यमुना मनवा के राजा बलवंतसिंह की बहन है। उसने अपनी इच्छा से सेनापति वीरसिंह से विवाह कर लिया है, इसी कारण बलवंत ने दोनों को राज्य से निष्कासित कर दिया है। अपनी वास्तविकता को छिपाकर वह दासी के रूप में राजा महेन्द्र सिंह के महल में रहती है और प्रभावती उसे सखी रूप में मान देती है। उसका पति वीर सिंह अच्छे दिनों की आशा में, साधु के रूप में प्रयाग में है। अपने इस उपन्यास में भी निराला, छोटे राजाओं और किलेदारों के परिवारों की युवतियों—प्रभावती, यमुना और रत्नावली आदि—द्वारा नारी मुक्ति से जुड़े अनेक सवालों को उठाते हैं जिनमें प्रेम और विवाह की स्वाधीनता को वे विशेष महत्व देते हैं।

ये सब युवतियाँ विलास और शृंगार को ही जीवन का सार मानने वाली सामन्ती मूल्य-दृष्टि का तिरस्कार करती हैं। साहस और निर्भीकता उनके स्वाभाविक गुण हैं। जंगली सुअर का शिकार, कमन्द के सहारे दुर्ग की चढ़ाई, शत्रु—भले ही वह भाई हो—के अपशब्द का उत्तर भाले से देना—यही उन युवतियों की मुख्य पहचान है। वृन्दावनलाल वर्मा की साहस और शौर्यमयी स्त्रियों से ये काफी समानता रखती हैं। इसके पूर्व वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुण्डार' ('२९) ही प्रकाशित हुआ था। आगे चलकर 'मृगनयनी' में उन्होंने निन्नी और लाखी के रूप में जिन साहसी और कर्मठ नायिकाओं की रचना की, उसके पीछे कुछ प्रभाव 'प्रभावती' का भी हो सकता है। प्रभावती बलवंत से इसलिए विवाह नहीं करना चाहती क्योंकि वह पहले से ही विवाहित है। सैद्धांतिक रूप से प्रभावती बहुविवाह की विरोधी है जो सामन्ती जीवन-पद्धति की सामान्य विशेषता थी। उस वातावरण में पलकर भी वह विवाह का अधिकार वयस्क स्त्री-पुरुषों का ही मानती है। यमुना ने भी प्रेमविवाह के कारण ही सारा कष्ट सहन किया। यमुना की छोटी बहन रत्नावली, बंदी रूप में कुमार देव पर रीझ जाती है—इसका ज्ञान हो जाने पर प्रभावती अपने बलिदान द्वारा उसकी राह सरल बना देती है।

संयोगिता और पृथ्वीराज से जंगल में हुई आकस्मिक भेंट में भी प्रभावती और यमुना उनके जैसे भी प्रभाव और आतंक से मुक्त हैं। उल्टे संयोगिता को ही लगता है कि गुप्त-विहार की स्थिति में पृथ्वीराज यदि यहाँ पकड़ लिए जाते हैं तो उनकी आन को बट्टा लगेगा। यह सोचकर वह, अपने शुरू में दिखाए गए आक्रामक तेवर को छोड़कर, संधि और मित्रता पर उतर आती है। वह यह स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करती' 'हमारी श्रेष्ठता सेना के कारण है, यों एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति के बराबर है....' (पृ० ३/३३२) दस निष्कपट

स्वीकृति के बाद ही प्रभावती संयोगिता की सखी बनकर उसकी हर संभव सहायता का वचन देती है। वैसे संयोगिता के लिए भी पृथ्वीराज से विवाह को वह पसंद नहीं करती क्योंकि पृथ्वीराज के पहले से ही कई और पत्नियाँ हैं। लेकिन संयोगिता के प्रेम की उत्कटता को देखकर वह इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लेती है।

संयोगिता के स्वयंवर के अवसर पर वह पुरुष वेश में पृथ्वीराज की उस मूर्ति के आस-पास ही बनी रहती है, दोनों ओर तलवारें लटकाए और दो ढालें बाँधे, जिसके गले में जयमाल डालकर संयोगिता पति रूप में पृथ्वीराज को वरण करती है। प्रभावती बाहर निकलने में उसकी सहायता करती है और अपनी एक तलवार और एक ढाल उसे आत्म रक्षा के लिए देकर भीड़ में से बाहर निकलती है। स्वयंवर में कुमार देव उसे देखकर भ्रमित-सा पहचानने की कोशिश करता है। अपनी पराजय का बदला लेने के लिए बलवंत उसका पीछा करता है। अचेत पड़ी प्रभावती को कुमार पहचान लेता है क्योंकि पुरुष वेश में सहायक उसकी पगड़ी खुल गई थी। क्षीण स्वर में प्रभावती उससे सिर्फ दो ही आग्रह कर पाती है—उसकी चरणरज के साथ रत्नावली से विवाह करने की प्रार्थना—ताकि उसे प्रेम का वास्तविक और हार्दिक प्रतिदान मिल सके। 'प्रभावती' में निराला विलास और शृंगार के विरोध में मर्यादा और संयम वाली मूल्य-दृष्टि को प्रतिष्ठित करते है। प्रेम की उत्कटता उनके लिए सबसे बड़ा मूल्य है। वे विवाह को प्रेम की स्वाभाविक परिणति के रूप में ही मान्यता देते हैं। इसे वे अभिभावकों के क्षुद्र और स्वार्थपूर्ण हस्तक्षेप से बचाकर संबद्ध व्यक्तियों का ही एकाधिकार मानते दिखाई देते हैं।

निराला रचनावली के संपादक नन्दकिशोर नवल ने निराला के उपन्यासों को दो चरणों में विभाजित कर पहले चरण की समाप्ति 'निरुपमा' से मानी है। इन उपन्यासों के घटना-बाहुल्य के अतिरिक्त अन्य विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है, 'इनमें लेखक का ध्यान जैसे परिवेश के चित्रण पर नहीं, बल्कि एक रोचक कथा गढ़ने पर है। पात्र यथार्थ जगत से नहीं उठाये गए हैं, उन्हें कल्पना से अपने आदर्शों के अनुरूप गढ़ा है। भाषा जैसे जीवन-संग्राम में काम आनेवाला अस्त्र न होकर अलंकरण की वस्तु है। स्थान-स्थान पर निराला लम्बे-लम्बे वाक्यों वाली ऐसी चित्रात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं कि थोड़ी देर के लिए कविता और गद्य का अन्तर मिटता हुआ दिखाई देता है··· (पृ० भूमिका ३/१२) निराला के 'निरुपमा' (३६) के संदर्भ में इनमें से कुछ बातों पर विचार किया जाना जरूरी है। निराला के प्रथम चरण के उपन्यासों की जिन विशेषताओं का उल्लेख नन्दकिशोर नवल ने किया है, उनमें

से कई से निराला 'निरुपमा' में ही अपने को मुक्त करते दिखाई देते हैं। 'निरुपमा' पूर्ववर्ती तीनों उपन्यासों की तरह घटना-प्रधान उपन्यास नहीं है। यह निराला का पहला उपन्यास है जिसमें वे पात्रों की निगूढ़ मनोदशाओं की सूक्ष्म तरंगों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। 'निरुपमा' पर शरच्चंद्र के 'पल्ली समाज' की छाया स्पष्ट है। निरुपमा के गाँव रामपुर का वर्णन, उसकी बहुविध सामाजिक जटिलताओं और निहित अंतर्विरोधों के बीच पर्याप्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है। इन जटिलताओं के बीच 'पल्ली समाज' में नरेन्द्र के प्रति रमा के प्रेम की प्रच्छन्न अंतर्धारा की तरह कुमार के प्रति निरुपमा का अव्यक्त और निगूढ़ प्रेम पलता रहा है। पूर्ववर्ती उपन्यासों की तत्सम और समास-बहुल शैली, जिसका प्रयोग निराला ने 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' में किया है, 'निरुपमा' में काफी कुछ ग़ायब है। इस तरह शैली की दृष्टि से 'निरुपमा' पहले चरण की रचनाओं से अलग भिन्न और स्वतंत्र मार्ग ग्रहण करती दिखाई देती है। 'निरुपमा' का लेखन निराला ने सन् ३४ में ही शुरू कर दिया था, लेकिन उसे रोककर निराला ने बीच में 'प्रभावती' लिखा। यह भी संभव है कि इसका कारण भाषा को लेकर निराला का यह द्वन्द्व ही रहा हो। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाली रचना में यह भाषा खप सकती थी। लेकिन सामाजिक यथार्थ का संकेत करने वाले उपन्यासों में शायद निराला उसे अनावश्यक और बेमेल समझने लगे थे। 'निरुपमा' में एक स्थल पर कमल कुमार की व्यंग्यपूर्ण शैली पर टिप्पणी करते हुए कहती है कि वह व्यंग्य बहुत अच्छा लिख सकता है। अपनी प्रकृति मे घोर सामासिक और तत्सम बहुल भाषा से इस व्यंग्यपूर्ण, सीधी और व्यंजनापूर्ण भाषा की संक्रान्ति को 'निरुपमा' बहुत बेधक रूप में उद्घाटित करती है।

'निरुपमा' का कुमार भी पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह ही एक काल्पनिक पात्र है—जिस पर निराला के अपने व्यक्तित्व और आदर्शों की छाप स्पष्ट है। निराला की तरह ही उसका जन्म भी बंगाल में हुआ है। बंगला उसकी वर्नाकुलर है। बांग्ला भाषा और साहित्य का अध्ययन उसने एक बंगाली की तरह ही किया है—भले ही जाति से वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण हो। कलकत्ता युनिवर्सिटी ही से स्नातक और लंदन से डी० लिट् करने की उसकी बात अपने प्रसंग में निराला की इच्छित सोच का परिणाम हो सकती है। लंदन की इस ऊँची डिग्री के बावजूद बूट पालिश जैसे काम को उसके स्वीकार करने के पीछे इस समाज की जटिलताओं की मुख्य भूमिका है। योग्यता और प्रतिभा की अनदेखी करके जाति और सिफारिश के आधार पर विश्वविद्यालय में चयन की प्रक्रिया का संकेत निराला ने शुरू में ही दिया है।

कमल जब उससे इस स्वाँग भरने का कारण जानना चाहती है तो कुमार उत्तर देता है, 'यह स्वांग नहीं, यह मेरे साथ भारत का सच्चा रूप है....' (पृ० ३/३९४) योगेश बाबू और भामिनी की षड्यंत्र और धोखे की कमाई के विरोध में घृणित समझे जाने वाले इस काम में भी ईमानदार श्रम में निष्ठा वाली मूल्य-दृष्टि सक्रिय है। निरुपमा से विवाह कर लेने के बाद उसका स्तर बदल जाने से उसके जाति वहिष्कार का कारण भी बदल जाता है—राजा से कोई बैर करता है! कमल और निरुपमा निराला के स्त्री-पात्रों की उसी शृंखला में आती हैं जिनके माध्यम से निराला नारी-मुक्ति के सवाल को गम्भीरतापूर्वक उठाते हुए उसे साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष का एक अनिवार्य हिस्सा मानते हैं और जैसा कि नवल ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यह काम वह अपनी कविता में भी इस ढंग से नहीं कर सके, जैसा उपन्यास में करते हैं।

निराला के परवर्ती उपन्यासों में 'कुल्ली भाट' ('३९) और 'बिल्लेसुर-वकरिहा ('४२) इस संक्रमण को पूरी तरह स्पष्ट कर देते हैं। यहाँ वे कविता के औज़ारों को छोड़कर गद्य के ही औजारों का उपयोग करते हैं। इनमें भी 'कुल्ली भाट' उपन्यास की बेहद लचीली प्रकृति के सबब से ही उपन्यास माना जाता रहा है। वह एक वास्तविक व्यक्ति का रेखाचित्र है जो जितना उसके चरित नायक कुल्ली को समझने में सहायता देता है, उतना ही, या उससे कुछ अधिक ही, स्वयं निराला को भी। इसकी भूमिका में निराला ने लिखा भी है, 'उनके परिचय के साथ मेरा चरित्र भी आया है और कदाचित् अधिक विस्तार पा गया है····(निराला रचनावली पृ० ४/२२) कुल्ली के तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण भारतीय ग्राम जीवन की परिपाटीबद्धता और रूढ़ियों के बीच, उनसे संबंधित इस रचना समर्पण स्वीकार करने को भी किसी के न मिलने के कारण निराला उसे स्थगित रखने का उल्लेख भी करते हैं। अपने प्रसंग में निराला 'जीवन' और 'जीव' के द्वन्द्व को चर्चा भी करते हैं और जीव की अपेक्षा जीवन को पकड़ने के कारण ही अपने बच जाने की आशा करते हैं।

निराला की कुल्ली से पटने और आत्मीयता के सूत्र उनकी इसी तेजस्विता में छिपे हैं जिसके कारण निराला की सासुजी और परिवार के अन्य लोग उनसे निराला के मिलने पर प्रतिबंध लगाते है और निराला द्वारा उसे अस्वीकार कर देने पर दुखी होते हैं। कुल्ली निराला से लगभग छह वर्ष बड़े थे। उन्हीं की ससुराल के गाँव में रहते थे और दो इक्के किराये पर चलवाकर अपनी गुजर करते थे। अपने समय की हलचल गाँव के कोनों-

सिवानों को भी छू रही थी। कुल्ली एक ओर यदि कांग्रेस का काम करते हैं, घूम-घूमकर सदस्य बनाते हैं, वहीं वह एक मुसलमान युवती से बाक़ायदा विवाह करके अयोध्या में उसे गुरुमंत्र दिलाने के बाद तुलसी की माला पहनाते हैं। गाँव में स्वाभाविक रूप से इसका विरोध होता है। गाँव में वह अछूत पाठशाला चलाते हैं जिसमें धोबी, डोम, पासी, भंगी और चमारों के बच्चे पढ़ते हैं। उस स्कूल का वर्णन करते हुए निराला लिखते हैं, 'गड़हे किनारे, ऊँची जगह पर, मकान के सामने एक चौकोर जगह है, कुछ पेड़ हैं। कुल्ली के कुटीनुमा बंगले के सामने टाट बिछा है। उस पर अछूत लड़के श्रद्धा की मूर्ति बने बैठे हैं। आँखों से निर्मल रश्मि निकल रही है। कुल्ली आनन्द की मूर्त्ति, साक्षात् आचार्य। काफी लड़के। मुझे देखकर सम्मान-प्रदर्शन करते हुए नतशिर अपने-अपने पाठ में रत हैं। बिल्कुल प्राचीन तपोवन का दृश्य। इनके कुछ अभिभावक भी आए हैं। दोनों में फल-फूल लिए हुए, मुझे भेंट करने के लिए। इनकी ओर कभी किसी ने नहीं देखा। ये पुश्त-दर-पुश्त से सम्मान देकर नतमस्तक ही संसार से चले गए हैं। संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नहीं। ये नहीं कह सकते, हमारे पूर्वज कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणाद थे; रामायण, महाभारत इनकी कृतियाँ हैं, अर्थशास्त्र, कामसूत्र इन्होंने लिखे हैं, अशोक, विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन, पृथ्वीराज इनके वंश के हैं। फिर भी ये थे और हैं'''' (वही, पृ० ६३) समाज का सारा विरोध सह और झेलकर कुल्ली ने इनके लिए जो कुछ किया है, वही निराला की दृष्टि में उन्हें एक तेजस्वी नायक का गौरव देता है। उसके मुकाबले में, अपने स्कूल और कांग्रेस के ही काम के सन्दर्भ में, महात्मा गाँधी और नेहरू को लिखे गए उनके बीसियों पत्रों का जो हश्र होता है वह सब कांग्रेस के वर्ग चरित्र पर एक तीखी टिप्पणी है। कुल्ली की सांघातिक बीमारी के इलाज के प्रसंग में, रायबरेली में अपना मकान बनवाते कांग्रेस कमेटी के प्रेसीडेंट से निराला का जो संवाद होता है वह एक ओर यदि चुटकी और व्यंग्य की विकसित होती निराला की शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण है तो दूसरी ओर साधारण कार्यकर्त्ता और कांग्रेस के पदाधिकारियों के बीच की फाँक की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। अर्थाभाव और सामाजिक उपेक्षा की दोहरी मार से कुल्ली की मृत्यु होती है तो उनकी पत्नी को इसलिए उनके अंतिम संस्कार की छूट नहीं मिलती क्योंकि उनके इस विवाह को समाज की मान्यता प्राप्त नहीं है। लेकिन उनके अन्तिम संस्कार के अवसर पर दलमऊ में उमड़ा जन-सैलाब ही कुल्ली के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि थी। कन्नड़ लेखक भैरप्पा के उपन्यास 'डाटु' की तरह निराला ने भी इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि धार्मिक कर्मकाण्ड भी कैसे सामाजिक-

धार्मिक क्रांति के महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं। ईश्वर और धर्म के प्रचलित रूप पर निराला की कोई आस्था नहीं थी। लेकिन ब्राह्मणों द्वारा कुल्ली के एकादशा के बहिष्कार की स्थिति में वे स्वयं, अपनी सासुजी और उनके परिवार के सारे विरोध के बावजूद, धोती और यज्ञोपवीत धारण करके उस धार्मिक माने जानेवाले कर्म-यज्ञ को सम्पन्न करते हैं।

भारतीय ग्राम समाज की जड़ता और रूढ़ियों को 'बिल्लेसुर बकरिहा' ('४२) में निराला दूसरे ढंग से तोड़ते हैं। जिसे वे 'जीवन संग्राम की भाषा' कहते हैं, गद्य में उसके विकास की दृष्टि से भी यह एक उल्लेखनीय उपन्यास है। कान्यकुब्ज ब्राह्मण के लिए निषिद्ध और घृणित माने जाने वाले काम को बकरियाँ पालने और उनकी आय से ही अपनी गुजर-बसर करने की स्वीकृति देकर जैसे बिल्लेसुर समूची रूढ़ और परिपाटीबद्ध सोच को चुनौती देते हैं। गाँव के लोगों की कुटिलता, क्षुद्रता और छलप्रपंच के विसादृश्य में बिल्लेसुर के चरित्र में निहित करुणा और मानवीय ऊष्मा निराला की मूल्य-दृष्टि को उद्घाटित करती हैं। निराला का गाँव मैथिलीशरण गुप्त का भावोच्छ्‌ल गौरवगान वाला गाँव नहीं है। निराला मानवीय व्यवहार के अनेक रूपों की जटिलता और क्षुद्रता का बहुत यथार्थ अंकन करते हुए मानवीय श्रम को प्रतिष्ठित करते हैं। घर-गृहस्थी, पत्नी और परिवार की चाह के चित्र निराला ने गहरी करुणा के साथ अंकित किए हैं। दुनिया जहान की कुटिलताओं को समझ कर भी बिल्लेसुर, उन सबकी अधिक चिंता किए बिना अपनी राह अपने ढंग से गढ़ते और बनाते हैं, जिसमें एक ओर यदि श्रम की महत्त्वपूर्ण भूमिका है तो दूसरी ओर मनुष्य के प्रति सहृदयता का कोष सुरक्षित रखने की उनकी चिंता भी, जिसके अभाव में मानवीय गौरव के बचाव की कोई लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

बंगाल और अवध के गाँवों को निराला ने बहुत निकट से देखा था। 'चोटी की पकड़' ('४६) में एक बार फिर निराला बंगाल के ग्राम-जीवन की ओर मुड़ते हैं। लेकिन इसमें उनका उद्देश्य ग्रामीण जीवन के चित्रण की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि में 'स्वदेशी' के आन्दोलन का प्रसार अधिक है। निराला ने भूमिका में लिखा भी है, 'स्वदेशी आन्दोलन की कथा है। लम्बी है। ····युग की चीज़ बनाई गयी है ····' (पृ० २०) निराला का विचार इस उपन्यास को राजनीतिक पृष्ठभूमि में, चार खण्डों में, एक श्रृंखला के रूप में लिखने का था। लेकिन ऐसा हो नहीं सका। उपन्यास का जो एक खण्ड लिखा गया उसमें वे आंशिक रूप से ही अपने इस लक्ष्य की पूर्ति कर सके।

'चोटी की पकड़' सन् १९०५ के बंग-विभाजन की पृष्ठ-भूमि में है। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जन-आन्दोलन का ज्वार उठ रहा था। अपने हितों पर कुठाराघात होते देख रियासतों और रजवाड़ों के लोग भी ब्रिटिश साम्राज्य और शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने का मन बना रहे थे। लेकिन साहस के अभाव में वे गुप्त सहयोग की नीति को अधिक सुरक्षित समझ रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जो गुप्त क्रांतिकारी संगठन सक्रिय हो रहे थे, ये लोग उनकी सहायता करके अपने उद्देश्य की सिद्धि को अधिक लाभकारी मानते थे। राजा राजेन्द्र प्रताप सिंह एक ऐसे ही राजा हैं जो रियासत के सारे शौक पालते हुए भी प्रभाकर और उसके गुप्त दल की सहायता करते हैं। प्रभाकर स्वदेशी का कार्यकर्त्ता है। तब रूस के जन-आन्दोलन की खबरें भारत में पहुँचने लगी थीं। विवेकानन्द की वाणी युवाओं में नए रक्त का संचार कर रही थी। उपन्यास बहुत आदरपूर्वक 'श्रीमान् स्वामी विवेकानन्द जी महाराज की पुण्य स्मृति में' ही समर्पित है। प्रभाकर राजनीति में इसी नव ज़ागरण का प्रतिनिधि है। राजा राजेन्द्र प्रताप सिंह का मुसलमान कोचवान अली क़ा बेटा यूसुफ़ थानेदार बन चुका है। उन लोगों की हिंदू विरोधी सोच की जड़ें मुस्लिम विरोध की उस प्रतिक्रिया में है जिसे एक सीमा तक स्वयं बंकिमचंद्र ने प्रोत्साहित किया था और बंग-विभाजन की पृष्ठभूमि में अंग्रेजों ने मुसलमानों के इस विद्वेष को हवा देकर साम्प्रदायिकता की विष-बेल पौड़ाने की कोशिश की थी।

प्रभाकर स्वदेशी का आन्दोलन स्त्रियों के बीच पहुंचाना चाहता है। रनिवास के षड्यंत्रों में लगी मुन्ना दासी और विधवा के रूप में लांछित होती बुआ, प्रभाकर के संपर्क में इस आन्दोलन में सहायता पहुंचाने को तैयार हो जाती हैं। मुन्ना के माध्यम से रानी से हुई अपनी गुप्त भेंट में प्रभाकर कहता है, 'आपके यहाँ हमारे केन्द्र हैं, देशी कारोबार बढ़ाने के; आप महिला होने के कारण उनकी स्वामिनी, गृहलक्ष्मी शब्द का उपयोग आपही लोगों के लिए होता है; आप उसकी चारुता बढ़ाने, प्रसार करने में सहायता करें। देश में विदेशी व्यापारियों के कारण अपना व्यवसाय नहीं रह गया। हम उन्हीं के दिए कपड़े से अपनी लाज ढँकते हैं; उन्हीं के आईने से मुँह देखते हैं; उन्हीं के सेंट, पौडर, लेवेण्डर, क्रीम लगाते हैं; उन्हीं के जूते पहनते हैं; उन्हीं की दिया-सलाई से आग जलाते हैं। ब्राह्मण की आग गयी, क्षत्रिय का वीर्य गया; वैश्य का व्यापार चौपट हुआ। यह सब हमको लेना है। इसी के रास्ते हम हैं। बंग भंग एक उपलक्ष्य है····यह स्वदेशी वाला भाव हमको घर-घर फैलाना है। आप गृहलक्ष्मी तभी हैं। इस समय रानी होकर भी दासी हैं' (पृ. ४/२०४) प्रभाकर समूची जाति की नसों में राजनीतिक खून दौड़ाकर राजनीतिक जातीयता

के लिए इस संगठन को विस्तृत करना चाहता है। इस विस्तार में स्त्रियों की भूमिका को वह विशेष महत्व देता है। राजा साहब उसे सहायता का वचन देते हैं। अपने महल में गुप्तस्थान और दूसरे प्रकार की सहायता भी देते हैं। लेकिन अपने सुख-भोग और विलास में वह किसी प्रकार की कटौती के लिए तैयार नहीं हैं। मुन्ना जब रानी साहिबा से प्रभाकर की भेंट की व्यवस्था करती है तो भी राजा साहब अपनी रखैल एजाज़ के साथ बाहर अपनी विलास यात्रा पर गए हुए हैं। स्वदेशी के इस आन्दोलन में अनेक रूपों में लांछित, उत्पीड़ित और उपेक्षित स्त्रियों की भूमिका को प्रभाकर विशेष महत्व देता है। मुन्ना तो दासी है ही, रानी रानी होकर भी दासी है और बुआ भरी जवानी में विधवा होकर रानी और मुन्ना के बीच गेंद बनने को विवश है। स्वदेशी-आन्दोलन के रूप में जब वे एक लक्ष्य से जुड़ने लगती हैं तो उनके जीवन मे एक गुणात्मक परिवर्तन घटित होता है जो स्वतः ही उनके सोच के क्षितिज को विस्तार देता है। निराला प्रभाकर की इसी पकड़ को चोटी की पकड़ मानते हैं जिसके द्वारा स्थितियों पर भरपूर क़ाबू पाया जा सकता है। लेकिन अपने वर्तमान रूप में उपन्यास इस राजनीतिक पृष्ठभूमि का अधिक रचनात्मक उपयोग नहीं कर पाया है। अधिकांशतः वह राजा साहब की विलास-लीला और राजमहल के अनेक स्तरीय षडयन्त्रों के ब्यौरों में ही उलझ कर रह गया है। संभव है उपन्यास के प्रस्तावित अगले खण्डों में निराला इस पृष्ठभूमि का अधिक सार्थक उपयोग करते। लेकिन अपने वर्तमान रूप में वे केवल निष्कर्ष रूप में इस लक्ष्य का आभास मात्र ही दे सके हैं। इस उपन्यास के संदर्भ में नन्दकिशोर नवल ने जानकी बल्लभ शास्त्री को लिखे गए निराला के एक पत्र का उल्लेख भी किया है जिसमें निराला ने उपन्यास में व्यावसायिक दबावों की ओर भी संकेत किया है। इसमें प्रकारांतर से निराला प्रचलित पाठकीय रुचि से समझौता करके उपन्यास की धार को कुंद कर देने की बात स्वीकारते हैं।

निराला ने अपना उपन्यास 'काले कारनामे' 'चोटी की पकड़' के बाद ही लिखना शुरू किया। अपने पत्रों द्वारा लोगों को दी गई सूचनाओं के अनुसार निराला उसके लिखे जाने और फिर अपूर्ण रूप में छपने का उल्लेख करते है। इसका प्रकाशन, बहुत बाद में सन् '५० में हुआ। इसके पहले संस्करण के प्रकाशकीय वक्तव्य में निराला की अस्वस्थता के कारण इस उपन्यास के पूर्ण न हो पाने की बात कही गई है। इसके पूर्ण होने की आशा में यह काफ़ी समय ऐसे ही पड़ा रहा और फिर इसे ऐसे ही प्रकाशित कर दिया। अतः 'चमेली' और 'इन्दुलेखा' की तरह यह भी अपूर्ण है। इसमें और बाद के

उल्लिखित इन दोनों उपन्यासों में अंतर यही है कि यह काफी लिखा जा चुका था जबकि अन्य दोनों उपन्यासों के क्रमश: दो और तीन अध्याय ही लिखे गए।

जैसा कि 'काले कारनामे' के शीर्षक से ध्वनित होता है, यह जमींदार, उसके दलालों और गुर्गों तथा पुलिस और दूसरे सरकारी अमले की सांठ-गांठ से सीधे-सादे लोगों को फँसा कर उनसे रुपया ऐंठने की कहानी है। यह वह समय था जब सरकार के लिए जनता का प्रतिनिधि जमींदार ही होता था और वही अपनी रैयत पर मनमाने अत्याचार करता था। गाँव की इसी कीचड़ में निराला मनोहर के रूप में एक प्रतिरोधी शक्ति की परिकल्पना करते हैं जो गाँव की शोषित एवं उत्पीड़ित जनता को सहानुभूति देता है। लेकिन अन्तत: उसे गाँव छोड़ना पड़ता है। काशी में वह शूद्रों की पाठशाला चलाता है और किन्हीं विधवा रानी साहिबा की आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन भी उसे प्राप्त होता है। रानी साहिबा युवा हैं और देश की पराधीनता एवं उत्पीड़न से क्षुब्ध हैं। प्राचीन प्रथानुसार अपनी रक्षा में असमर्थ होकर वह नई जाग्रति का मार्ग पकड़ती हैं। अपनी गुप्त भेंट में वह मनोहर से कहती हैं, 'देश के युवक, अब हम वह नहीं हैं, मगर देश की भलाई के लिए तुम्हारे साथ हैं। हमारी जो तौहीन होती है, उसके निराकरण के लिए कम से कम हजार युवक तैयार कर लो' (पृ० ४/२४२) लेकिन उपन्यास में न तो इन हजार युवकों की तैयारी का कोई संकेत है और न ही उनके द्वारा प्राप्त किए जाने वाले किसी लक्ष्य का। एक उपन्यास के रूप में 'काले कारनामे' किसी बड़ी संभावना का संकेत नहीं देता—बस यह अवश्य लगता है कि भारतीय ग्राम-समाज को निराला ने निकट से देखा है और उसे लेकर वे किसी प्रकार के आदर्श या मोह से ग्रस्त नहीं हैं। इसकी अपेक्षा अपने उपलब्ध रूप में ही 'चमेली' उपन्यास अधिक सम्पूर्ण रचना होने का आभास देता है। चमेली एक युवा शूद्र विधवा है जो पिता के पास ही रहती है और पिता के बुढ़ापे के कारण स्वयं ठाकुर के खेत में हल चलाती है। ठाकुर के एक सम्बन्धी द्वारा मनमानी करने के कारण वह उसकी पिटाई कर देती है। दूसरी ओर पण्डित शिवदत्त का परिवार है। उसके ढोंग, पाखण्ड और भाभी के साथ व्यभिचार के बड़े व्यंग्यपूर्ण चित्र निराला ने अंकित किए हैं। दोनों वर्णों—शूद्र और सवर्ण—की स्त्रियों की तुलनात्मक स्थिति के संकेत उपन्यास में पैनी तराश के साथ उभरे हैं। एक ओर चमेली है जो अपनी तेजस्विता से अपने सामनेवाले को हतप्रभ करती है तो दूसरी ओर पंडित के परिवार की स्त्रियाँ हैं जो व्यभिचार को अपनी नियति मान कर स्वीकार करती हैं।

निराला के उपन्यास रचना-तंत्र और संगठन की दृष्टि से किसी बड़ी उपलब्धि के उदाहरण नहीं हैं। उनका महत्त्व साम्राज्यवादी और सामन्ती उत्पीड़न के सक्रिय प्रतिरोध की दृष्टि से है। नारी मुक्ति के सवाल को वे अपने उपन्यासों में विस्तार से अंकित करते हैं और उनकी तेजस्वी नारियां अपनी मुक्ति को पूरे समाज और राष्ट्र की मुक्ति से जोड़कर देखती हैं। उनकी मुक्ति का सवाल अनिवार्य रूप से चतुरी, कुल्ली, बिल्लेसुर और चमेली की मुक्ति से जुड़ा है। यह भी संभव है कि कविता से कोई विशेष कमाई न होती देख निराला उपन्यास की ओर मुड़े हों। कविता से कीर्ति मिलती थी, लेकिन पैसा थोड़ा बहुत शायद उपन्यासों में ही था। इसीलिए शायद वे पाठकीय रुचि की उपेक्षा की छूट नहीं लेते। वह दबाव उनके अधिकांश उपन्यासों पर स्पष्ट है। इस दबाव से मुक्त रचनाओं के उदाहरण के रूप में 'कुल्ली भाट' 'बिल्लेसुर बकरिहा' और अपूर्ण होने पर भी 'चमेली' का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें निहित मानवीय गरिमा का बखान और उसकी यथार्थवादी अभिव्यक्ति में ही, एक उपन्यासकार के रूप में, निराला की उपलब्धियों को देखा जाना चाहिए।

बादल-राग

नन्दकिशोर नवल

'बादल-राग' एक कविता-शृंखला है। इसमें छः कविताएँ हैं और विषय को छोड़ दें, तो सभी स्वतंत्र रचनाएँ हैं। इनका प्रकाशन सर्वप्रथम १९२४ में साप्ताहिक 'मतवाला' के जुलाई से लेकर सितम्बर तक के अंकों में हुआ था। अनुमान है कि ये प्रथम 'अनामिका' के प्रकाशन के बाद रची गईं, वैसे स्वयं निराला का साक्ष्य मानें तो ये 'मतवाला' में निकलने के काफी पहले रची गई थीं, प्रथम अनामिका के भी प्रकाशन के पहले। डा० शिवनाथ ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के निराला-स्मृति अंक (११ फरवरी, १९६२) में प्रकाशित अपने लेख 'निराला की याद' में अपनी डायरी के कुछ पृष्ठ उद्धृत किए हैं। ४ फरवरी, १९४७ को, जिस दिन हिन्दू विश्वविद्यालय के आर्ट्स कालेज हॉल में निराला की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई थी, उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है : "बादल-राग पाठ करने के पूर्व (निराला ने) इसकी भूमिका यों दी 'इस ढंग की चीजें पहले-पहल 'मतवाला' में प्रकाशित हुईं। ये चीज़ें प्रकाशित होने के पहले ही लिखी जा चुकी थीं,।" प्रकाशित होने के पहले तो चीज़ें लिखी ही जाती हैं, पर निराला का आशय उसके काफी पहले से है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि फैजाबाद में १९३७-३८ में सम्पन्न हुए प्रांतीय साहित्य सम्मेलन में अपने व्याख्यान में उन्होंने 'बादल-राग' की छठी कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए कहा था, 'हिन्दी में अठारह साल पहले ऐसी रचनाएँ आ चुकी हैं।' यह जिक्र 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में संकलित 'प्रांतीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद' शीर्षक उनके इंटरव्यू में है। १९३७-३८ से अट्ठारह साल पहले का मतलब होता है १९१९-२०। इस तरह 'बादल राग' की कविताएँ निराला के अनुसार १९१९-२० की रचनाएँ हैं। छठी कविता १९२० की है, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि 'अपरा' में उन्होंने इसका वही रचना-काल दिया है। चौथी कविता का रचना-काल अवश्य उसमें १९२३ दिया गया है। यह असंभव नहीं है कि प्रथम 'अनामिका' में उसका आकार संक्षिप्त होने के कारण उन्होंने इन कविताओं को छोड़ दिया हो।

इन कविताओं में भी निराला का संशोधन और संपादन का कार्य चलता रहा। यह 'मतवाला' में प्रकाशित पाठ से 'परिमल' में संगृहीत कविताओं

के पाठ को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है। संपादन का एक ठोस उदाहरण यह है। पहली कविता तीन खण्डों में बँटी हुई थी। पहला खंड 'झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !' से शुरू होता था और तीसरा खंड 'अरे वर्ष के हर्ष !' से। इन दोनों खण्डों के बीच दूसरा खंड यह था—

उतर शिखर पर श्याम मनोहर !
अंजन रंजित बढ़ा बढ़ा कर,
सकल चराचर के नयनों को
मेरी हरिणी के सैनों को
कर दे छविमय लज्जित कज्जल मोर
झूम झूमकर गरज गरज घन घोर।

'परिमल' में निराला ने जब इस कविता को संग्रहीत किया तो इस दूसरे खंड को तो कमजोर समझकर छोड़ ही दिया, कविता का खंडों में विभाजन भी समाप्त कर दिया।

'मेरे गीत और कला' में उनका यह कथन महत्वपूर्ण है : हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिए, एक वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्तवाली जमीन है। इसमें अंत्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहीं जाती इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खंड में इस तरह की रचनाएँ हैं। इनके छंद को मैं मुक्तछंद कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्तवाली रचनाएँ 'परिमल' के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लडियाँ असमान हैं, पर अंत्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गायी जा सकती हैं। पर संगीत अंग्रेजी ढंग का है। इस गीत को मैं 'मुक्त गीत' कहता हूँ। 'बादलराग' शीर्षक से छः रचनाएँ इमी मुक्त गीत में हैं।" अंग्रेजी ढंग के संगीत के बारे में निराला ने किंचित् विस्तार से 'गीतिका' की भूमिका में, गीतों पर विचार करने के क्रम में, विचार किया है। कहा है, अग्रेजी संगीत से प्रभावित होने का यह अर्थ नहीं कि उसकी हू-ब-हू नकल की गई। अग्रेजी संगीत की पूरी नकल करने पर उससे भारत के कानों की कभी तृप्ति नहीं हो सकती। कारण, भारतीय संगीत की स्वर-मैत्री में जो स्वर प्रतिकूल समझे जाते हैं, वे अंग्रेजी संगीत में स्वीकृत हैं। उनसे अंग्रेजी अथवा पश्चिमी हृदय में ही भाव पैदा होता है। स्वभावतः अंग्रेजी संगीत के नाम से जो कुछ लिया गया, उसे हम **अंग्रेजी संगीत का ढंग** कह सकते हैं। स्वर-मैत्री हिंदुस्तानी की रही।

'बादल-राग' की रचना भी बंगाल में ही की गई। कहा जा सकता है कि इसकी कविताओं में बंगाल की वर्षा का चित्र अंकित है, धारासार वर्षा

का। बादलों से कृषिप्रधान देश के किसानों का लगाव जैसे स्वाभाविक है, वैसे ही उसके कवियों का भी। बंगाल छोड़कर अपने घर हिंदी प्रदेश में चले आने के बाद भी निराला का बादल-प्रेम कम नहीं हुआ। यह 'परिमल'-काल के बाद की उनकी कविताओं और गीतों से स्पष्ट है। ऐसा लगता है कि फूलों से उन्हें जैसा प्रेम था, उससे कुछ अधिक ही बादलों से था। इस प्रसंग में डा० रामविलास शर्मा ने अपनी 'निराला' नामक पुस्तक में उनके बारे में लिखा है कि उन्होंने बंगाल और अवध दोनों ही की बरसात देखी है। शायद कोई भी हिन्दी कवि मूसलाधार पानी में इतना न भीगा होगा। बाहर घूमते हुए बारिश आ गई तो उन्हें घर लौटने की जल्दी नहीं होती; बादल घिरे हों तो भी दोस्तों को यह समझाते हुए कि पानी बरसने की जरा भी शंका नहीं, वे उनके साथ घूमने चल देते थे। उनका बादल-प्रेम अक्षुण्ण रहा, इसके प्रमाण के लिए 'गीतिका' के **'घन, गर्जन से भर दो वन'** और 'अनामिका' के **'बादल गरजो!/घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ !'** से लेकर 'बेला' क **'लू के झोंकों झुलसे हुए थे जो, / भरा दौंगरा उन्हीं पर गिरा'** से होते हुए उनके आखिरी दौर के उन अनेक गीतों तक को देखा जा सकता है, जिनमें उन्होंने बादल और वर्षा को विषय बनाया है। उन गीतों में से कुछ हैं: **'रस की बूँदें बरसो,/नव घन !'** **'मुक्तावल जल बरसो, बादल'**, **'धाए धाराधर धावन हे !'**, **'आओ, आओ वारिद वंदन / बरसो सुख, बरसो आनंदन्,'** **'धिक मनस्सब, मान, गरजे बदरवा'**, **'फिर नभ घन घहराए'**, **'मालती खिली, कृष्ण मेघ की'**, **'गूँजे नभ-नभ घन के गर्जन'** आदि। उनकी कविता में जो यह वर्षा-मंगल है, उसके आधार पर वैसे ही उन्हें 'बादलों का कवि' कहा जा सकता है, जैसे रवींद्रनाथ को 'नदियों का कवि' कहा गया है।

'बादल-राग' की हिंदी में बहुत चर्चा हुई है, लेकिन यह चर्चा जितनी उसके नाद-सौंदर्य के कारण हुई है, उतनी उसके संपूर्ण काव्य-सौंदर्य के कारण नहीं, जिसमें चित्रों से लेकर उनके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाला भाव-सौंदर्य तक शामिल है। डा० शर्मा ने इस कविता-शृंखला की अंतिम कविता को अधिक महत्व दिया है और उसमें भी उसके उस अंश को, जिसमें निराला सामंत विरोधी और किसानों के समर्थक के रूप में सामने आते हैं, यथा : **'जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर,/तुझे बुलाता कृषक अधीर / ऐ विप्लव के वीर!/चूस लिया है उसका सार, / हाड़ मात्र ही है आधार,/ऐ जीवन के पारावार !'** छायावादी दौर में भी निराला औपनिवेशिक शोषण के साथ-साथ सामंती उत्पीड़न को भी समझ रहे थे। उनकी छायावादी कविता में भी किसान आते हैं, यह महत्त्वपूर्ण बात है। यह अन्य छायावादी कवियों से उनकी भिन्नता भी बतलाता

है, लेकिन यह सत्य है कि एक कविता के एक काव्यांश को अधिक महत्व देकर पूरे 'बादल-राग' को नहीं समझा जा सकता। उससे न कविता का पूरा सौंदर्य प्रकट होगा, न कवि-मानस की ही पूरी झाँकी मिलेगी। दूसरे डा० शर्मा ने स्पष्टतः कविता में विषय को महत्व दिया है, जबकि पूर्वोक्त निबंध में ही निराला का यह कथन ध्यातव्य है कि 'उक्ति की उच्चता का विचार ही ठीक होता है, कोई ईश्वर पर लिखे या प्रिया पर।'

(२)

जैसा कि कहा जा चुका है, 'बादल-राग' की छहों कविताएँ बादलों पर रचित होते हुए भी परस्पर स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। 'बादल-राग' वस्तुतः एक षट्दल कमल की तरह है, जिसकी प्रत्येक पंखुड़ी का अपना रंग, अपनी गंध और अपना सौन्दर्य है। **पहली कविता** में बादल अत्यन्त स्वच्छन्द और शक्तिशाली रूप में सामने आते हैं, जिन्हें देखकर कवि के भीतर भी अपनी जड़ता से मुक्त होने की उद्दाम आकांक्षा पैदा होती है। स्पष्टतः यह एक रोमांटिक कवि-मानस की रचना है। इसका सम्बन्ध तत्कालीन राष्ट्रीय परिवेश से है। यह आकस्मिक नहीं है कि छायावादी कवियों ने धारा, प्रपात निर्झर आदि को विषय बनाकर अनेक कविताएँ लिखीं। यहाँ निराला की ही दो कविताएँ स्मरणीय हैं—'धारा' और 'प्रपात के प्रति'। धारा और प्रपात दोनों ही स्वच्छन्द हैं और सीमाओं को छोड़कर असीम की ओर धावित। प्रत्यक्षतः इन दोनों ही कविताओं पर रवीन्द्रनाथ के 'निर्झरेर स्वप्नभंग' का प्रभाव है, पर मूलतः ऐसी कविताएँ एक नवीन राष्ट्र की समान रोमांटिक मनोदशा की सूचना देती हैं, जिसमें स्वच्छन्दता और सीमा-मुक्तता के प्रति घोर आकर्षण है।

'बादल-राग : एक' में सर्वप्रथम धारासार वर्षा का वर्णन है :

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में
मन में, विजन - गहन - कानन में
आनन - आनन में, रव - घोर - कठोर
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

बादल मृदु गर्जन कर रहे हैं, लेकिन बहुत घने हैं। वे अमर राग वाले हैं पता नहीं कबसे अपना राग गा रहे हैं और कब तक गाते रहेंगे। कवि उनसे आग्रह

करता है कि वे विराट आकाश को अपनी आवाज से भर दें। चित्र की विराटता यहाँ सहज ही अनुमेय है। उसके बाद का जो दृश्य है, वह बहुत व्यापक है। उसका फैलाव जंगल, पहाड़, रेगिस्तान और समुद्र से लेकर उन घरों तक ही नहीं, जिनमें लोग रहते हैं, बल्कि लोगों के मनों तक है। शब्द मुख से ही निकलते हैं। निराला चाहते हैं कि बादल एकरस वर्षण कर सम्पूर्ण प्रकृति में ही नहीं, प्रत्येक मनुष्य के मुख में अपना कठोर गर्जन कर दें, यानी चतुर्दिक् वही गर्जन सुनाई पड़े, और कोई ध्वनि नहीं, और कोई शब्द नहीं। यह दृश्य निराला की 'संध्या-सुन्दरी' शीर्षक प्रसिद्ध कविता के उस दृश्य का ठीक उलटा है, जिसमें कहा गया है—**'सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप चुप चुप' है गूँज रहा सब कहीं—/और क्या है ? कुछ नहीं।'** वहाँ गर्जन है, यहाँ शांति। दोनों दृश्यों के वर्णन की शब्दावली भी समान रूप से ओजस्वी है। ढंग भी लगभग एक ही है। 'बादल-राग' की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में एक घोष वर्ण 'र' की तीस से भी अधिक बार आवृत्ति हुई है, जबकि 'संध्या-सुन्दरी' के संकेतित अंश में 'ल' और 'र' इन दोनों घोष वर्णों की अनेकशः। 'संध्या-सुन्दरी' की इस पंक्ति में तो उक्त दोनों वर्णों का गुँथाव देखने लायक है—**उत्ताल तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में।'** 'बादल राग' वाले वर्णन की विशिष्टता यह है कि उसमें दृश्य-चित्र और ध्वनि-चित्र परस्पर गुँथे हुए हैं और नाद अर्थ से स्वतंत्र नहीं है, उसे उत्कट बनाने वाला है यदि मुखर रूप में इस अंश का पाठ किया जाए, तो उससे घनघोर वर्षा का दृश्य मूर्त हो उठने के साथ उसका संगीत भी कानों को सुनाई पड़ने लगेगा।

इस काव्यांश की एक खूबी यह भी है कि आरम्भिक दोनों पंक्तियाँ तो सममात्रिक हैं ही, बाद की चार पंक्तियाँ भी सममात्रिक हैं। पहले वाली दोनों पंक्तियाँ उन्नीस-उन्नीस मात्राओं की हैं और बाद वाली चारों सोलह-सोलह मात्राओं की। खास बात यह कि ये तुकांत भी हैं। पहले बन्द की पांचवीं पंक्ति, जिसकी तुक टेक की पंक्ति से मिलती है, उसी की तरह उन्नीस मात्राओं की है !

दूसरे बन्द में निराला बादलों को 'वर्ष के हर्ष' कहकर सम्बोधित करते हैं। विक्रमी सम्वत् के अनुसार चैत्र के मध्य से वर्ष का आरम्भ होता है और उस समय से गर्मी का ही आलम रहता है। 'वन-बेला' कविता का आरम्भ भी, जिसमें ग्रीष्मऋतु का बहुत सशक्त वर्णन है, चैत्र से ही होता है—'वर्ष का प्रथम'। गर्मी से त्राण वर्षाऋतु के बादल ही दिलाते हैं, इसलिए स्वभावतः वे वर्ष के लिए हर्ष का पहला तोहफा हैं। तत्पश्चात् निराला उन्हें 'रसधार' बरसाने को कहते हैं, जिससे उनके प्रति उनका गहरा लगाव व्यंजित

होता है। जल की धार बादलों के कवि के लिए रस की धार है! ये बादल सुदूर आकाश से उठकर आते हैं, जहाँ भयानक गर्जन होता रहता है। निराला उनकी स्वच्छंद वृत्ति देखकर उनसे अनुरोध करते हैं कि वे उन्हें भी उनके सीमित संसार से निकालकर अपने संसार का दर्शन कराएँ। बादलों को अतिस्वच्छंद होने के कारण अतिप्रलुब्ध होकर वे 'पागल' कहते हैं, आत्मीयता से 'मेरे पागल बादल', और चाहते हैं कि वे उनके शांत हृदय को उथल-पुथल कर उसमें भी अपनी तरह ही हलचल मचा दें। रवींद्रनाथ का निर्झर भी पागल है : 'आमि—जगत प्लाविया बेड़ाब गाहिया / आकुल पागल पारा।' यह है रोमांटिक स्वच्छंदता, आवेग और पागलपन की कवि की आकांक्षा, जिसका मूर्त रूप बादल हैं।

उसके बाद पृथ्वी पर वर्षा का बहुत ही सशक्त दृश्यांकन है—

धँसता दलदल,
हँसता है नद खल् खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।

कहने की आवश्यकता नहीं कि घोष वर्ण 'ल' की अनेक बार की आवृत्ति से निराला ने इस दृश्य की ओजस्विता को बहुत बढ़ा दिया है। शब्दों के रचाव पर ध्यान देते हैं, तो पाते हैं कि इस बन्द में 'दलदल', 'खल् खल् और 'कलकल' ये तुकांत शब्द ही नहीं आते हैं, 'धँसता' के साथ 'हँसता' और 'बहता' के साथ 'कहता' का अनुप्रास भी है। यहाँ जो 'खल् खल्' है, 'राम की शक्ति-पूजा' में जाकर उसी ने भयानक रूप धारण कर लिया है—'फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खलखल'। वैसे इस वर्णन के पीछे रवींद्रनाथ के 'निर्झरेर स्वप्न भग' के इस चित्र की प्रेरणा से इनकार नहीं किया जा सकता—'हेसे खलखल, गेए कल कल / ताले ताले दिब तालो'। और तो और, उक्त कविता में आगे 'बहना' और 'कहना' भी है—जाइब बहिया—/ हृदयेर कथा कहिया कहिया'। लेकिन इससे निराला का अपना स्वर दबता नहीं है, यह सत्य है। वे इस दृश्य को देखते हैं और व्याकुल हो उठते है—'देख-देख नाचता हृदय / बहने को महा विकल-बेकल'। इसी तीसरे बंद में आगे बादलों से पुनः अपना आग्रह दुहराते हैं—

इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर!
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!

बादलों का गर्जन उन्हें इतना प्रिय है कि वे चाहते हैं कि वे शब्दों की मरोर और शोरगुल के साथ ही उन्हें अपना निवास-स्थान दिखलाएँ, बादलों से भरा आकाश का वह आखिरी हिस्सा, जहाँ से वे उठकर आए हैं। वे नहीं चाहते कि बादल गरजना बन्दकर चुपचाप उन्हें अपने पीछे-पीछे ले चलें और जाकर उन्हें अपना 'गर्जन—भैरव संसार' दिखला दें। 'मरोर', 'शोर', 'घोर', 'रोर' और 'छोर'—यह है उनका समान ध्वनियों का आवर्त, जो अपनी काव्य-भाषा में उठाकर वे उसे संगीत से भर देते हैं। बादलों के गर्जन में स्वर का जो आलोड़न होता है; उसे निराला 'मरोर' शब्द से सूचित करते हैं। मानना पड़ेगा कि लोकभाषा का यह शब्द उनके हाथ में पड़कर अतिशय क्षमतावान् हो उठा है। इसके साथ यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि ये दोनों ही पंक्तियाँ छंदोबद्ध हैं, सोलह-सोलह मात्राओं की, जैसे पहले बन्द की आरम्भिक चार पंक्तियाँ, और उन्हीं की तरह तुकांत भी। तीसरी पंक्ति भी पहले बन्द की पाँचवीं पंक्ति की तरह उन्नीस मात्राओं की और टेक की पंक्ति से तुक मिलानेवाली है।

दूसरी कविता में बादल निर्बन्ध, स्वच्छंद और उद्दाम तो हैं ही, वे विप्लवकारी भी है। पूरी कविता लगभग उनके विशेषणों के सहारे लिखी गई है और निराला ने उन्हीं से उनका रूप खड़ा करने की कोशिश की है। वे निबन्ध के साथ-साथ 'अंध-तम-अगम-अनर्गल' यानी अगम्य घोर अन्धकार में मुक्त विचरण करने वाले भी हैं। इसी तरह स्वच्छन्द होने के साथ-साथ वे वायु के रथ पर उच्छृंखल यानी स्वतन्त्र गति से चलनेवाले भी हैं, कभी मन्द-मन्द और कभी तीव्र। इन विशेषताओं के साथ वे संसार की अपार कामनाओं का जीवन—उनका आधार—हैं। वे विराट् हैं, उनके मार्ग में कभी कोई बाधा नहीं आ सकती। सावन का बादलों से भरा भयावना आकाश उनका साम्राज्य है और वे उसके एकच्छत्र सम्राट्। कविता के इस पहले बन्द की शब्द-योजना तो ओजपूर्ण है ही, यह बादलों के प्रति रोमांटिक कवि के असाधारण आकर्षण को भी सूचित करनेवाला है।

लेकिन सर्वाधिक प्रभावशाली इस कविता का दूसरा बन्द है, जिसमें सब कुछ को तहस-नहस कर देनेवाले दुर्दान्त बादलों का चित्रण है :

ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद
विश्व-विभव को लूट लूट लड़नेवाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख-फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड !

आतंक जमानेवाले !
कंपित जंगम,—नीड़ विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले !

बादल साक्षात् उन्माद हैं, जो अटूट संसार पर छूटकर टूट पड़ते हैं और उसे तोड़-फोड़ देते हैं। वे निन्दा-रूप ऐसे योद्धा हैं, जो विश्व-वैभव को लूटते हुए युद्ध करते हैं! पूरे पुष्पोद्यान को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, कलियों की शोभा को नष्ट-भ्रष्ट, और निष्ठुरतापूर्वक उन्हें उत्पीड़ित कर उनसे मुँह फेरकर चल देते हैं। वे प्रचंड हैं, अपने वज्रघोष से सबको आतंकित कर देनेवाले। सारे जीव-जन्तु उनके डर के मारे काँपते हैं, खास तौर से घोंसलों के पक्षी, लेकिन उनकी व्यथा से उनको कुछ लेना-देना नहीं। बादलों की उग्रता के साथ-साथ उनकी निर्लिप्तता या निर्ममता का निराला ने बहुत अच्छा वर्णन किया है। रात की घनघोर वर्षा के बाद सुबह यही दृश्य तो देखने को मिलता है! कभी-कभी आसमान साफ होता है, पता ही नहीं चलता कि उपद्रवी बादल कहाँ चले गए। वर्षा-पीड़ित संसार से उनके सहानुभूति रखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आगे निराला ने उन्हें विप्लवी कहा है। विप्लवी का रूप काजी नजरुल इस्लाम की 'विद्रोही' कविता पढ़ने पर समझ में आता है, जिसमें वह कहता है: 'आमि झंझा, आमि घूर्णि, / आमि पथ-सम्मुखे याहा पाइ ताइ चूर्णि।'

उक्त काव्यांश के नाद-सौंदर्य पर ध्यान देते हैं, तो ज्ञात होता है कि 'विराट्' और 'सम्राट' के साथ 'ट'—जैसे कठोर वर्ण का जो प्रयोग शुरू हुआ था, वह आगे के बन्द में जारी रहता है और 'अटूट पर छूट टूट' के बाद हमें 'लूट लूट' का प्रयोग देखने को मिलता है। फिर 'निष्ठुर' और 'पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन' इस शब्द-वल्लरी के बाद 'प्रचण्ड' का धमाका। 'श्री बिखेर' और 'मुख-फेर' तथा 'जंगम' और 'विहंगम'—जैसे सानुप्रास अथवा तुकांत शब्दों के छोटे-छोटे भँवर तो निराला के वाग्प्रवाह में बनते ही रहते है। जैसे उन्होंने हिंदी की पद्धति पर 'अंध-तम-अगम-अनर्गल' समास बनाया था, वैसे ही 'मुख-फेर' (मुख फेर लेनेवाला) समास भी बना लिया है। इस काव्यांश के आरम्भिक दो चरण छंदोबद्ध भी हैं, सममात्रिक छंद, मात्राएँ सत्ताईस। साथ-साथ तुकांत। इस तरह निराला का विषममात्रिक छंद बीच-बीच में सममात्रिक और तुकांत भी है। यह उसके प्रवाह में समता लाकर उसे विषमता के लिए तैयार करता है। जल अवरुद्ध होकर दौड़ने के लिए उद्यत हो उठता है, जिससे उसका आकर्षण और बढ़ जाता है।

कविता के तीसरे और अन्तिम दो पंक्तियों के बन्द में, जो भी सममात्रिक छंद में बँधा हुआ और तुकांत है, निराला कहते हैं : **'भय के मायामय आँगन पर / गरजो विप्लव के नव जलधर।'** 'मायामय आँगन' यानी यह संसार, जो सत्य नहीं, मिथ्या है। 'भय के' का मतलब है भयभीत। यह उग्र बादलों से भयभीत संसार है, कवि चाहता है, वे बादल उस पर गर्जन करें और उसे प्लावित कर दें। इस तरह यह कविता बादलों के प्लावनकारी रूप को लेकर लिखी गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके इस रूप में भी एक सौन्दर्य है, औदात्य है। इस रूप से भिन्न स्वच्छंद बादल जैसे रोमांटिक कवि को प्रिय हैं, वैसे ही विप्लवी अथवा क्रान्तिकारी बादल भी।

'मेरे गीत और कला' निबंध में, जिसमें निराला ने इस कविता की भी व्याख्या की है, यह कहा है कि यह अर्थ इस कविता का पहला सीधा अर्थ है। उनके अनुसार यह अर्थ उनका लक्ष्य नहीं। उनका ध्यान दूसरे लाक्षणिक अर्थ पर है, जिसकी ओर कविता की अंतिम पंक्ति का 'विप्लव' शब्द संकेत कर रहा है, जो कि प्लावन के अलावा युगांतर अथवा क्रांति का भी अर्थ देता है। इस तरह यह इस कविता का बीज-शब्द है। वे कहते हैं कि यह युगांतर साहित्यिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि कोई भी अर्थ दे सकता है। इस तरह यह 'विप्लव' शब्द पूरी कविता के अर्थ को बदल देता है, उसे दूसरे स्तर पर उठाकर रख देता है। अब 'भय के मायामय आंगन' का मतलब हुआ 'पाप का केन्द्र'। निराला की मान्यता है कि जहां पाप होता है, वहीं भय होता है और माया पाप है, क्योंकि पाप ही सत्य नहीं, भ्रमपूर्ण अथवा छायामय होता है। उनके द्वारा किया गया कविता की अंतिम दो पंक्तियों का अर्थ यह है : 'ऐ युगान्तर के नवीन जीवन वाले ! पाप के केंद्र पर निर्भय होकर शब्द करो—बोलो—गरजो।' फिर उन्होंने इस रोशनी में पूरी कविता का बदला हुआ अर्थ किया है, जो दिलचस्प है। जब बादल युगांतरकारी चेतना के प्रतीक हो गए, तो उसके अनुरूप अंध-तम, समीर, अपार कामनाएँ, प्लावन, अटूट, विश्व-विभव आदि का अर्थ बदल जाना स्वाभाविक है। यह अर्थ आरोपित तब लगता है, जब निराला कली की 'श्री' को 'पाप से, बुरे कार्यों से गढ़े हुए सौंदर्य' को अप्रस्तुत बनाते हैं, इसी तरह 'पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन' को 'प्राचीन विरोधी वस्तुएँ और विषय'। जंगम और नीड़-विहंगम भी अब घर में रहने वाले क्रांति से भयभीत लोग हो जाते हैं। स्पष्टतः यह व्याख्या भी बड़ी हद तक उसी तरह आरोपित है, जिस तरह 'जुही की कली' वाली दार्शनिक व्याख्या। कविता में अर्थ के अनेक वृत्त बनते हैं, 'बादल-राग' की इस दूसरी कविता में भी अर्थ के एकाधिक वृत्त हो सकते हैं। यदि कोई अर्थ-

वृत्त इस पर बलात् आरोपित न किया गया, स्वाभाविक रूप से बनने वाला हुआ, तो उससे इसका सौंदर्य बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं, लेकिन इसका भी असली सौंदर्य इसके प्रकृत अर्थ में ही है, जिसे निराला इसका पहला सीधा अर्थ कहते हैं। इसी अर्थ के केन्द्र पर अर्थ के दूसरे वृत्त खड़े किए जा सकते हैं, यदि कविता में उसकी संभावना हो। यदि उससे हटकर भिन्न केन्द्र से अर्थ-वृत्त बनाये गए, तो वह हेत्वाभास होगा। प्रस्तुत कविता में 'विप्लव' शब्द से इस बात की पूरी संभावना है कि वह कविता को एक भिन्न अर्थ की व्यंजना में सक्षम बनाए। इससे बादलों पर कोई अर्थ आरोपित नहीं होता, वे अपने प्रकृत रूप को सुरक्षित रखते हुए क्रांतिकारी का रूप ग्रहण कर लेते हैं, यानी उसकी व्यंजना करने लगते हैं। इसमें 'भय का मायामय आँगन' सहायक होता है। इस तरह की क्रांति से भय उसी को होता है, जो पुराना, अप्रासंगिक और असत् हो चुका होता है, क्योंकि वह उसकी चोट से ध्वस्त हो जाता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि कविता की व्यंजना को सांगरूपक की तरह उसके प्रत्येक अंग, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक उक्ति पर घटित करें। निराला ने इस कविता की व्याख्या में यही किया है।

तीसरी कविता के आरम्भ में उन्होंने बादलों के लिए तीन सम्बोधनों का प्रयोग किया है—'सिंधु के अश्रु', 'धरा के खिन्न दिवस के दाह' और 'विदाई के अनिमेष नयन'। बादलों में जल होता है, इसलिए ये तीनों ही सम्बोधन सार्थक हैं। वे समुद्र से उठते हैं; इसलिए उसके आँसू हैं और ग्रीष्म के उपरांत प्रकट होते हैं, इसलिए उसमें पृथ्वी जो दाह झेलती है, उसका परिणाम है। यहाँ 'दाह' का लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। बादलों को विदा-काल की अपलक आँखें कहना बहुत उपयुक्त है। कारण यह कि एक तो वे आँखें डबडबाई हुई होती हैं, दूसरे, बादल तो समुद्र से बिछुड़कर ही आकाश में आते है और फिर वर्षा बनकर पृथ्वी पर गिरते है। इस विदाई को लेकर आगे की पक्तियो में निराला ने एक बहुत उदात्त रूपक रचा है; जो देखने योग्य है :

मौन उर में चिह्नित कर चाह
छोड़ अपना परिचित संसार—
सुरभि का कारागार,
चले जाते हो सेवा-पथ पर
तरु के सुमन !
सफल करके
मरीचिमाली का चारु चयन।

इसमें बादल पुष्प हैं, समुद्ररूपी तरु पर खिलने वाले, जिन्हें सूर्य अपनी किरणों से तोड़ लेता है। इससे वे अपनी परिचित दुनिया से दूसरी दुनिया में चले जाते हैं। इस कविता में निराला ने बादलों के लोककल्याणकारी रूप का चित्रण किया है: जो लोककल्याण के लिए अपने को अर्पित कर देते हैं, वे अपनी इच्छाओं को महत्त्व नहीं देते। उन्हें मन में ही दबा लेते हैं। बादल भी ऐसे ही हैं, चुपचाप अपने भीतर ही अपनी आकांक्षाओं को दफन कर सेवा-पथ यानी आकाश-मार्ग पर बढ़ जानेवाले। लोककल्याण करनेवाले व्यक्तियों के लिए अपना परिचित संसार, अपना गृह, कारागार की तरह होता है। वे अपने को उसमें कैद करके रखना नहीं चाहते, लोककल्याण में लगाना चाहते है। बादल भी अपने घर से, जो कि उनके लिए 'सुरभि का कारागार' है, निकल पड़ते हैं। वे भी अपनी सुगंध को कैद करके रखना नहीं चाहते, लोक में विकीर्ण करना चाहते हैं। निराला के इस लोक कल्याणवाद पर प्रत्यक्षतः विवेकानन्द का प्रभाव है। विवेकानन्द के लिए सबसे बड़ा लक्ष्य था लोक-कल्याण और सबसे बड़ा मूल्य उसके लिए किया जाने वाला त्याग अथवा उत्सर्ग। उन्होंने चुने हुए युवकों का आह्वान किया था कि वे लोक के लिए गृहत्यागी बनें, संन्यास धारण करें। उनका विश्वास था कि ऐसे युवक ही संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलाकर उसे कष्टों से छुटकारा दिला सकते हैं। आश्चर्य नहीं कि उनके सम्पूर्ण दर्शन की परिणति सेवा में हुई थी। यहाँ बादल भी 'सेवा-पथ' पर अग्रसर होते हैं। इस प्रसंग में निराला की कविता 'सेवा-प्रारम्भ' स्मरणीय है। प्रस्तुत काव्यांश में सूर्य के लिए 'मरीचिमाली'—किरणों की माला धारण करनेवाला—शब्द का प्रयोग उसके सौंदर्य को बढ़ा देता है क्योंकि रूपक फूल तोड़ने या चयन करने का है। 'मरीचिमाली का चारु चयन' में 'च' वर्ण की तीन बार आवृत्ति ने इस पंक्ति में माधुर्य ला दिया है। लेकिन सम्पूर्ण चित्र सुन्दर नहीं, उदात्त है; इसमें समुद्र की कल्पना एक विराट् पुष्प-वृक्ष के रूप में की गई है, जिससे बादल-रूपी पुष्प सूर्य अपनी असंख्य किरणों से चयन करता है।

कविता के शेष अंश में निराला ने अर्जुन की स्वर्ग-यात्रा वाले रूपक का इस्तेमाल किया है। बादल लोककल्याण के लिए अपना समुद्री आवास छोड़कर आकाश में चले जाते हैं यह बात उन्हें अर्जुन की याद दिला देती है, जो महाभारत युद्ध में अन्याय पर न्याय की विजय के लिए दिव्यास्त्र प्राप्त करने हेतु स्वर्ग गए थे, अपने सभी बंधु-बांधवों को छोड़कर। बादल भी अर्जुन की तरह हैं, वे भी नीचे दुःखी संसार को छोड़कर, धरती पर स्थित स्वजनों की जाग्रत् स्मृति को लिए हुए, उन्हीं के कल्याण के लिए ऊपर आकाश में चले जाते हैं और

एक अन्तराल के बाद पूर्णकाम होकर लौटते हैं। अगले छोटे बन्द में उनके लौटने का भव्य वर्णन देखने लायक है। यह है ग्रीष्म में अदृश्य रहने के बाद आकाश में बादलों का गर्जन सुनाई पड़ना—

पूर्ण मनोरथ ! आए—
तुम आए;
रथ का घर्घर-नाद
तुम्हारे आने का संवाद।

'रथ' इसलिए कि रूपक अर्जुन का है। इस 'रथ' के साथ 'मनोरथ' का संयोग भी दर्शनीय है। 'रथ का घर्घर-नाद' रवींद्रनाथ के 'चाकार झनझनि' की याद दिलाता है। तत्पश्चात् निराला बादलों से कहते हैं—

ऐ त्रिलोक-जित् ! इन्द्र-धनुर्धर !
सुर-बालाओं के सुख-स्वागत !
विजय ! विश्व में नवजीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत !

अर्जुन त्रिलोकजित् हैं, तो बादल भी, क्योंकि वे भी समुद्र, आकाश और पृथ्वी इन तीनों लोकों को आच्छादित कर लेते हैं; अर्जुन धनुर्धर हैं, तो बादल भी इन्द्रधनुष धारण करते हैं। जैसे अपने धनुष से अर्जुन त्रिलोकजित् हुए, बादल भी इन्द्रधनुष से तीनों लोकों को जीत लेते हैं। अर्जुन का स्वागत सुर-बालाओं ने सुखपूर्वक किया था, इन्द्रधनुषधारी भव्य बादलों का भी वे उसी तरह से करेंगी। आगे निराला ने बहुत सोच-समझकर 'भारत' संबोधन का प्रयोग किया है। भरत-वंशी होने के कारण अर्जुन भारत भी थे। बादलों को भारत कहने का मतलब यह भी है कि निराला उनमें भारत राष्ट्र की छवि देखते हैं। वर्षाऋतु के घनघोर बादलों के आगे जैसे विजय का मार्ग प्रशस्त है, भारत के आगे भी। यह विजय विश्व को पराधीन बनाने वाली नहीं, अपने संदेश से उसमें नवजीवन का संचार करनेवाली होगी। महाभारत में न्याय को विजय दिलाकर विश्व में नवजीवन भरनेवाले अर्जुन पर तो ये पंक्तियाँ चरितार्थ होती ही हैं, बादल पर भी होती हैं, साथ ही भारत पर भी। अर्जुन भी स्वर्ग से रथ से लौटे थे और उससे पृथ्वी पर उतरे थे, बादल भी वर्षा के रूप में आकाश से भूमि पर उतरते हैं। इस कविता का यह अंश भी सम-मात्रिक है। चारों चरण सोलह-सोलह मात्राओं के हैं और तुकें पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरण में मिलती हैं। स्वभावतः इससे निराला की छंद-मुक्तता में बीच-बीच मे बंधन से पैदा होनेवाला सौंदर्य देखने को मिलता है।

अर्जुन की भी प्रिया थी, बादलों की भी है। अर्जुन की प्रिया द्रौपदी पांडवों के साथ वनवासिनी थी, बादलों की प्रिया तो साक्षात् वनानी या अरण्यानी ही है। दोनों अपने प्रिय की प्रतीक्षा में—

उस अरण्य में बैठी प्रिया अधीर
कितने पूजित दिन अब तक हैं व्यर्थ,
मौन कुटीर।
(वांछित पुष्पों की लांछित अलिनी-सी
विरह-विधुर अतिविकल शरीर।)

अन्तिम दो पंक्तियाँ 'मतवाला' में छपी थीं। बाद में निराला ने उन्हें हटा दिया, यद्यपि वे 'बादल-राग' की पहली कविता से हटाए गए अंशों की तरह असम्बद्ध नहीं। यहाँ केवल बन्द पूरा करने के लिए वे उद्धृत की गई हैं। कविता का अन्तिम बन्द अत्यधिक सुन्दर है—

आज भेंट होगी—
हाँ होगी निस्संदेह,
आज सदा-सुख-छाया होगा कानन-गेह
आज अनिश्चित पूरा होगा श्रमित प्रवास,
आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।

यह द्रौपदी से, जिसका एक नाम कृष्णा भी है, अर्जुन का और श्यामवर्णा अरण्यानी से बादलों का मिलन है। 'आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास'—घनघोर वर्षा से अरण्यानी की तृप्ति का कितना सटीक वर्णन है! वैसे 'श्यामा' का एक अर्थ षोडशवर्षीया युवती है, जो अरण्य-प्रिया के लिए उपयुक्त हो सकता है। इस मिलन के सुख और आनन्द का ऊपर निराला ने सरल ढंग से वर्णन किया है, जिसमें बहुत हार्दिकता है—'आज सदा-सुख-छाया होगा कानन-गेह'। 'सदा-सुख-छाया' यानी स्थायी सुख से छाया हुआ, आच्छादित। यह भी निराला का समास बनाने का हिंदीवाला ढंग है। हार्दिकता इससे भी उत्पन्न हुई है। 'कानन-गेह' का मतलब है काननरूप गेह। जब प्रिया है, तो उसके लिए गेह आवश्यक है। अर्जुन और बादलों का प्रवास कोई शौकिया नहीं था, कठिन था, श्रमयुक्त। आज उसकी अनिश्चित अवधि पूरी होगी।

इस कविता की सफलता इस बात में है कि निराला इसमें अर्जुन की स्वर्गयात्रा का रूपक ले आए हैं, पर वह बादलों पर इस तरह आरोपित नहीं कि उनके अपने स्वरूप को नष्ट कर दे। बादलों का समुद्र से वाष्प बनकर उठना, ग्रीष्म में आकाश में अदृश्य रहना, फिर गुरु गर्जन के साथ उनका

प्रकट होना और वृष्टिपात से अरण्यानी को तृप्त करना—कविता में यह वर्णन हमेशा आँखों के सामने रहता है, इसलिए रूपक ने उनके रूप को उभारा ही है, ढँका नहीं।

चौथी कविता में बादल विश्व को प्रेम का सन्देश देनेवाले हैं। इसमें पाँच बन्द हैं। अन्तिम बन्द में कवि ने बादलों से कहा है : **बधिर विश्व के कानों में / भरते हो अपना राग / मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग-अनुराग**।' बादल पहले मधुर और गंभीर स्वर में विश्व को प्रेम का राग सुनाते हैं, फिर सबकुछ को छा लेनेवाले पहाड़ी झरने के झर-झर स्वर में। कारण यह है कि विश्व बधिर है, उसे कुछ सुनाई नहीं देता। यह प्रेम का राग मानव-प्रेम का राग है, क्योंकि यह 'व्योम और जगती का उदार राग' है, जो बादलों द्वारा व्योम और जगती के 'मध्यदेश' में गाया जाता है, न केवल व्योम में और न केवल पृथ्वी पर। ईश्वरीय या आध्यात्मिक प्रेम का राग व्योम में गाया जाता है और भौतिक प्रेम का राग इस संसार के बीच। मानव-प्रेम का स्थान इन दोनों के मध्य मे है। यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि निराला दृढ़ आध्यात्मिक चेतनावाले कवि होते हुए भी लोक की उपेक्षा कर चलनेवाले नहीं थे, बल्कि लोक और मनुष्य के लिए ही उन्होंने अध्यात्म का वरण किया था। दूसरी बात यह कि बादलों को उन्होंने 'मुक्त शिशु' कहा है। क्या प्रेम के सन्देश का मुक्तता से कोई संबंध है ? निश्चय ही जो मुक्त हैं, वही मानव-प्रेम से युक्त हैं। जहाँ स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ समानता नहीं और जहाँ समानता नहीं, वहाँ प्रेम का अस्तित्व असभव है। इस तरह स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व जनतन्त्र के ये तीनों बुनियादी मूल्य परस्परावलम्बित हैं। अब 'बादल-राग' की रचना के पीछे की निराला की सृजनात्मक मनोभूमि को समझा जा सकता है।

कविता के पहले बन्द में कवि 'मुक्त शिशु' का वर्णन इस रूप में करता है—

> **उमड़ सृष्टि के अन्तहीन अम्बर से,**
> **घर से क्रीड़ारत बालक से**
> **ऐ अनन्त के चंचल शिशु सुकुमार !**
> **स्तब्ध गगन को करते हो तुम पार।**

बादल अनन्त आकाश से उमड़ते हैं। वे आकाश के चंचल और सुकुमार शिशु हैं। वैसे बाहर आ जाते हैं, जैसे अपने घर से क्रीड़ारत सामान्य बालक। बादलों की यह लीला सुपरिचित है कि वे अक्सरहा चुपचाप आकाश के इस किनारे से उस किनारे जाते हुए, उसे पार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

निराला ने इस दृश्य के सौंदर्य को देखा और उसे अपने कैमरे में बन्द किया है। उन्नीस-उन्नीस मात्राओं के दो सममात्रिक चरण तुकांत भी हैं। इन्हीं शिशुओं का सौन्दर्य दूसरे बन्द में भी अंकित है—

अंधकार-घन-अंधकार ही
क्रीड़ा का आगार।
चौंक चमक छिप जाती विद्युत
तड़िद्दाम अभिराम
तुम्हारे कुंचित केशों में,
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का-सा अति मुग्ध विराम।

बादल काले हैं। इस वजह से उनके चतुर्दिक् अन्धकार है। वे उस अंधकार में ही क्रीड़ा करते रहते हैं। उन बादल-शिशुओं के बाल काले और घुँघराले हैं। कभी बिजली चमकती है, सुन्दर तड़िद्दाम, तो तुरत उन बालों में छिप जाती है। सहसा दृश्य स्थिर हो जाता है। उस समय ऐसा लगता है, जैसे द्रुत के बाद इमन राग अत्यन्त मोहक विराम पर पहुँच गया हो।

बादल काले ही नहीं, रंगीन भी होते हैं। उनके रंगारंग सौंदर्य का वर्णन निराला ने अगले बन्द में किया है, जो थोड़ा बड़ा भी है और जिसमें उनके रंगों का ही नहीं, उनकी ध्वनि का भी वर्णन मिल गया है। वह बन्द इस प्रकार है—

वर्ण रश्मियों से कितने ही
छा जाते हैं मुख पर—
जग के अंतस्तल से उमड़
नयन-पलकों पर छाए सुख पर;
रंग अपार
किरण-तूलिकाओं से अंकित
इन्द्रधनुष के सप्तक, तार;—
व्योम और जगती का राग उदार
मध्यदेश में गुडाकेश!
गाते हो बारंबार।

जग के अन्तस्तल यानी आकाश से सूर्य की किरणों से अनेक प्रकार के रंग उमड़ते हैं और बादलों के मुख तथा उन आँखों और पलकों पर, जिन पर पहले से सुख छाया होता है, छा जाते हैं। सूर्य की किरण-कूचियाँ बादलों में सतरंगा

इन्द्रधनुष उगा देती हैं। यह सतरंगा इन्द्रधनुष जैसे सात तार हैं! उन्हीं तारों पर बादल अपना प्रेम-संगीत छेड़ते हैं, जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है। यहाँ वर्णन की सुन्दरता को जो शब्द शतगुणित कर रहा है, वह है बादलों का 'गुड़ाकेश' सम्बोधन। इस शब्द का अर्थ है निद्राजयी। बादल वाकई निद्राजयी होते हैं। जब रात में सारी दुनिया सोई होती है, वे आकाश में गर्जन करते रहते हैं। यह आम अनुभव की बात है, जिसे एक शब्द से वाणी देकर निराला ने अपनी उक्ति को चमका दिया है। जैसा कि संकेत किया गया है, यह बादलों के वर्ण और ध्वनि दोनों का वर्णन है। निराला की कल्पना की गति भी यहाँ प्रत्यक्ष है। वे सूर्य की रश्मियों से इन्द्रधनुष पर पहुँचते है, वहाँ से सात रंगों पर, फिर सात सुरों के तारों पर और अन्त में बादलों की ध्वनि पर।

अन्तिम बंद पर शुरू में ही विचार किया जा चुका है। उसके पहले के बंद में बादलों के गायन का विलक्षण वर्णन है, जो तीसरे बन्द के अंतिमांश का ही बढ़ाव है। लगता है, कोई बहुत बड़ा शास्त्रीय गायक पूरी मस्ती में गा रहा है—

मुक्त ! तुम्हारे मुक्त कंठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मद्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात।

बादलों के स्वर में आरोह भी है, अवरोह भी और आघात भी। वे पहले मीटे-मीठे गरजते हैं, मंद्र स्वर में, फिर इतने जोरों से कि उनका गर्जन आकाश, विस्तृत जंगल और सुगन्ध से युक्त पुष्पोद्यानों को भी आच्छादित कर लेता है जैसे झर-झर नादवाला पहाड़ से गिरनेवाला झरना। 'झर-झर-रव'—यहाँ निराला ने संस्कृत की पद्धति पर हिन्दी शब्दों के योग से समास बनाया है।

पाँचवीं कविता में उन्होंने बादलों का वर्णन परमात्मा के अवतार के रूप में किया है, जो अदृश्य से दृश्य हो उठा है। पहले बादल शून्य में लीन थे, अनस्तित्व थे। वर्षाऋतु के आगमन के साथ वे आकाश में दिखलाई पड़े, अस्तित्ववान् हो उठे। उन्होंने जैसे अपना अतींद्रिय रूप छोड़कर सांसारिक रूप धारण कर लिया। यह निराला को बहुत अच्छा लगता है, क्योंकि उनमें लौकिक रुझान बहुत ही प्रबल था। स्वभावतः बादलों का चित्रण वे बहुत ही भव्य रूप में और बहुत ही उल्लास के साथ करते हैं। 'निरंजन बने नयन अंजन !'

वे बादलों से कहते हैं—तुम निरंजन हो, वर्णहीन, अदृश्य, लेकिन अभी आँखों की शोभा बन रहे हो, यानी सुन्दर रूप में दिखलाई पड़ रहे हो। यह उक्ति लाक्षणिक भी है और व्यंग्यात्मक भी।

बादलों के सांसारिक रूप का वर्णन कविता के पहले बंद में इस रूप में है—

> **कभी चपल गति, अस्थिर मति,**
> **जल-कलकल तरल प्रवाह,**
> **वह उत्थान-पतन-हृत अविरत**
> **संसृति-गत उत्साह,**
> **कभी दुख-दाह,**
> **कभी जलनिधि-जल विपुल अथाह,—**
> **कभी क्रीड़ारत साथ प्रभंजन—**
> **बने नयन-अंजन।**

ये बादल कभी शरीर और बुद्धि दोनों से गतिशील और अस्थिर नजर आते हैं, कलकल करते हुए जल के रूप में प्रवहमान; कभी उत्साह में ऊपर उठते और नीचे गिरते हैं; कभी बिजली की ज्वाला में झुलसते और कभी समुद्र की तरह अथाह जलराशि में ग़र्क़ हो जाते हैं तथा कभी वायु के साथ आकाश में क्रीड़ा करते हैं। ये सारी बातें 'संसृति-गत' हैं। जो इस संसार से परे है, उसमें न गति है, न उत्थान-पतन, न सुख और न दुःख। बादलों ने सांसारिक रूप धारण कर ये विशेषताएँ प्राप्त की हैं, जो निराला को बहुत अच्छी लगती हैं। यह उनकी 'जल-कलकल तरल प्रवाह'—जैसी शब्दावली से भी सूचित है, जिसमें माधुर्य भी है और ओजस्विता भी। 'पंचवटी-प्रसंग' की दूसरी कविता में भी लक्ष्मण कहते हैं कि बादलों का अव्यक्त रूप अच्छा नहीं होता, अच्छा होता है उनका जलद-रूप, जब **क्रीड़ा से कितने ही रंग वे बदलते हैं / शिखर पर,—व्योम-पथ में / नाचते-थिरकते हैं—किलकते, गीत गाते हैं**'।

उसके बाद निराला ने बादलों के उस व्यापक रूप का वर्णन किया है, जिसमें वे जल, स्थल और व्योम इन तीनों लोकों को छाकर उन्हें अपने में लय कर लेते हैं। उस समय वे वाक़ई निराकार प्रतीत होते हैं, कार्य से परे कारण में लीन। रामकृष्ण और विवेकानन्द का कहना था कि निराकार रूप मे ब्रह्म निष्क्रिय रहता है, उसके सक्रिय होने पर उसी से कार्य (सृष्टि) उत्पन्न होता है। अभी बादल अपनी व्यापकता में निष्क्रिय हैं। वे वाष्परूप में सूर्य की किरणों का हाथ पकड़ कर ही आकाश पर पहुँचते हैं, लेकिन उनकी महिमा इतनी है कि झलमल ज्योतिवाली असंख्य किरणों को दास बनाकर रखने वाला

और अन्धकार को दूर भगा देनेवाला सूर्य भी उन्हें शीश झुकाता है, क्योंकि वे वैसे सूर्य को भी ढँक लेते हैं। 'कभी किरण-कर पकड़ पकड़कर/चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर', 'झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर' और 'हैं तीनों मिले भुवन'— जैसे उदात्त बिंबों से युक्त कविता का दूसरा बन्द यह है—

कभी किरण-कर पकड़ पकड़कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर
झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर,
सीस झुकाते तुम्हें तिमिरहर—
अहे कार्य से गत कारण पर।
निराकार, हैं तीनों मिले भुवन—
बने नयन-अंजन।

बादल परमात्मा का अवतार हैं। कविता के अन्तिम बंद में निराला को उन्हें देखकर कृष्ण की याद आ जाती है। वे भी अवतार थे, बल्कि पूर्णावतार। बादलों और कृष्ण में यह बिंब-प्रतिबिंब-भाव दर्शनीय है—

आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि
मुक्त कंठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि।
शत-सहस्र-नक्षत्र-चंद्र-रवि-संस्तुत
नयन-मनोरंजन।
बने नयन-अंजन।

आज काले बादल बिलकुल कृष्णरूप हैं, उनकी शोभा उन्हीं की तरह श्यामवर्ण हो रही है। स्वभावतः यह देखकर कवि अत्यधिक उल्लसित हो उठा है, उसके कंठ से कविता की धारा फूट पड़ी है। ये बादल फूलों के समान कोमल भी है और वज्र के समान कठोर भी। ये वर्षा की झीनी फुहारोंवाले ही नहीं, वज्रपात करनेवाले भी हैं। निराला ने यहाँ पुनः एक सामान्य अनुभव को वाणी दी है। कृष्ण भी ऐसे ही थे, एक साथ लीलापुरुष और गीतापुरुष, एक साथ बाँसुरी और पांचजन्य धारण करने वाले। इसी तरह बादलों की भी स्तुति सैकड़ों-हज़ारों नक्षत्र और चन्द्र-सूर्य करते हैं और परब्रह्म के अवतार कृष्ण की भी। बादल कवि की आँखों के लिए भी आनन्ददायक हैं और उसके मन के लिए भी।

इस बन्द में 'शत-सहस्र-नक्षत्र-चंद्र-रवि-संस्तुत' इस पदबंध से झंकृति तो पैदा हुई ही है, एक खास बात यह है कि 'संस्तुत' शब्द को अलग कर दें, तो सोलह-सोलह मात्राओं के चार चरण आसानी से बन जाते हैं, जोकि तुकांत

भी हैं। इस कविता में खास तौर से ऐसा हुआ है। दूसरे बंद की चार पंक्तियाँ भी सोलह-सोलह मात्राओं की और तुकांत हैं। टेक की पंक्ति के बाद पहले बन्द की चार पंक्तियों को दो पंक्तियाँ बनाकर पढ़ें, तो वे भी सत्ताईस-सत्ताईस मात्राओं की तुकांत पंक्तियाँ सिद्ध होंगी। इस तरह निराला की विषममात्रिक छंद की कविता में भी सममात्रिक छंद की पंक्तियाँ स्वाभाविक रूप से निर्मित हो जाती हैं। उनकी मुक्तछंद और विषममात्रिक छंद की कविता के सौंदर्य, प्रभावोत्पादकता और सफलता का यह भी एक कारण हैं।

छठी कविता में निराला को बादलों के ठाट और रंग-ढंग को देखकर सामंत-विरोधी क्रांति की याद आती है, जो किसानों की हितसाधक होती है। वे बादलों को रण-तरी अथवा युद्ध-पोत के रूप में देखते हैं और कहते है—

> **तिरती है समीर-सागर पर**
> **अस्थिर सुख पर दुख की छाया—**
> **जग के दग्ध हृदय पर**
> **निर्दय विप्लव की प्लावित माया—**
> **यह तेरी रण-तरी**
> **भरी आकांक्षाओं से,**
> **घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर**
> **उर में पृथ्वी के, आशाओं से**
> **नव जीवन की, ऊँचा कर सिर,**
> **ताक रहे हैं, ये विप्लव के बादल !**
> **फिर फिर।**

बादलों की यह रण-तरी समीर-सागर पर तैर रही है। सामंतों के अस्थायी सुख पर वह दुख की छाया की तरह है, यानी उनका सुख अब समाप्त होनेवाला है और वे नष्ट होनेवाले हैं। दूसरी तरफ सामंती अत्याचार से दग्ध संसार के लिए वह विप्लव के प्लावन की तरह है। विप्लव के लिए निराला ने 'निर्दय' विशेषण का प्रयोग किया है, जो इस बात का सूचक है कि क्रांति जिनके विरुद्ध होती है उन पर रहम नहीं करती और ऐसे भी उसमें जो ध्वंस होता है, उससे कामोबेश उनको भी क्षति पहुंचती है, जिनके वह पक्ष में होती है। प्लावन के लिए 'प्लावित माया' का प्रयोग किया गया है। प्लावित का अर्थ है प्लावन-युक्त और माया इसलिए कि वह ब्रह्म की शक्ति होती है। ब्रह्म उसी की सहायता से क्रियाशील होता है, सृष्टि करता है। ये सब इस बात के चिह्न हैं कि निराला इस दौर में वेदांत के गहरे असर में थे। स्वभावतः उनकी कविताओं में वेदांत-दर्शन के शब्द बहुधा प्रयुक्त मिलते हैं। उक्त रण-

तरी आकांक्षाओं से भरी है। उसमें शोषित-पीड़ित किसानों की आकांक्षाएँ भरी हुई हैं। उनकी पूर्ति उस तरी के पार लगने यानी सामंत-विरोधी संघर्ष के सफल होने पर ही संभव है। स्वभावत: बादल जब गरजते हैं अथवा दुंदुभि बजाते हैं, तो धरती के हृदय में सोए हुए अंकुर जग पड़ते हैं और नव-जीवन प्राप्ति की आशाओं से भरकर सिर उठाए बार-बार उन्हें देखने लगते हैं। धरती के हृदय में सोए हुए अंकुर—ये छोटे किसानों की ही तो व्यंजना करते हैं। आगे भी निराला ने छोटे-छोटे पौधों का ज़िक्र करते हुए, जिनका घनघोर वर्षा में होने वाला वज्रपात भी कुछ बिगाड़ नहीं पाता और जो उसमें उल्लसित ही होते हैं, कहा है—'**विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।**'

आगे के दो चित्र परस्पर विरोधी हैं। एक ओजपूर्ण है और दूसरा मधुर। क्रांतिरूप बादल बड़ों के गर्व को चूर करते हैं और छोटों में आनन्द का संचार। चित्र अत्यन्त सजीव हैं और निराला की कठोर और कोमल दोनों प्रकार के चित्रण की क्षमता का प्रमाण प्रस्तुत करनेवाले। इस कारण भी उन्हें देखना ज़रूरी है :

> **बार बार गर्जन**
> **वर्षण है मूषलधार,**
> **हृदय थाम लेता संसार,**
> **सुन-सुन घोर वज्र-हुंकार।**
> **अशनि-पात से शायित उन्नत शत शत वीर,**
> **क्षत-विक्षत हत अचल-शरीर,**
> **गगन-स्पर्शी स्पर्द्धा-धीर।**

यहाँ बार-बार का गर्जन है, मूसलधार वर्षा, संसार को कँपा देनेवाले वज्रपात के समय का भयानक नाद और आकाश को छूने की स्पर्धा रखनेवाले पहाड़ों का क्षत-विक्षत होना ही नहीं, धराशायी हो जाना। दूसरी तरफ—

> **हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार—**
> **शस्य अपार,**
> **हिल हिल**
> **खिल खिल,**
> **हाथ हिलाते,**
> **तुझे बुलाते,**
> **विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।**

इन पंक्तियों में निराला की ग्रामीण पृष्ठभूमि सजीव हो उठी है, जो अन्य किसी छायावादी कवि के पास नहीं थी। गाँवों को, उनके हरे-भरे खेतों को,

उन्होंने अपने संस्कारों में बसाकर महिषादल में भी देखा था और बैसवाड़े में भी। यहां फ़सल के छोटे-छोटे पौधों का उल्लास आठ-आठ मात्राओं के सममात्रिक छंद की तुकांत पंक्तियों में फूटा पड़ता है। छन्द का स्वरूप तब स्पष्ट होता है, जब हम उसे इस रूप में देखते हैं: 'हिल हिल खिल खिल / हाथ हिलाते / तुझे बुलाते / विप्लव-रव से / छोटे ही हैं / शोभा पाते' बहुत दिनों के बाद 'तीसरा सप्तक' में केदारनाथ सिंह की एक प्रसिद्ध कविता में फ़सल के छोटे-छोटे पौधे बादलों को पुकारते हुए फिर दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि भिन्न सन्दर्भ में: 'हम नए-नए धानों के बच्चे तुम्हें पुकार रहे हैं— / बादल ओ! बादल ओ! बादल ओ!'

अगला बन्द पिछले बन्द का ही बढ़ाव है, जिसमें निराला ने कहा है कि अट्टालिकाएँ बादलों से आतंकित रहती हैं, क्योंकि वे वज्रपात करके उन्हें ध्वस्त कर देते हैं। जल-विप्लव-प्लावन उन्हें लाभान्वित भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो पंक—निम्न स्तर—पर ही घटित होता है, जहाँ क्षुद्र कमल होते हैं। जब वर्षा होती है, कमल उसमें खिल पड़ते हैं और आनन्द से अपनी पंखुड़ियों से उसका जल छलकाते रहते हैं। 'क्षुद्र' शब्द से कमल की लघुता सूचित है। निराला ने विशेष सावधानी से यहाँ 'प्रफुल्ल' और 'जलज' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रफुल्ल' का मतलब 'प्रस्फुटित' भी है और 'प्रसन्न' भी। 'जलज' की व्यंजना यह है कि कमल जल से ही पैदा होता है, फिर उसे जल-प्लावन का क्या डर! इसी तरह बच्चे रुग्ण रहने पर भी हँसते रहते हैं: यहाँ 'रोग-शोक' क्रांति का व्यंजक है और बच्चे जनसाधारण के। यहाँ लक्ष्य करने योग्य यह भी है कि निराला ने ऊपर जैसे किसानों को फ़सल के छोटे-छोटे पौधों से उपमित किया है, यहाँ 'जलज' और 'शैशव का सुकुमार शरीर' से। इससे उनके प्रति उनका सम्मान और प्रेम-भाव भी व्यंजित होता है; ठीक वैसे ही, जैसे मुक्तिबोध ने अपनी एक कविता में मजदूरों और मजदूरिनों को स्याह गुलाब और स्याह सेवंती कहा है!

बादल जब क्रांतिकारी हैं, तो यह स्वाभाविक है कि धनी उनके गर्जन से काँप उठें। ये धनी कौन हैं? ये वे हैं, जिनका खजाना रुपयों से रुँधा या ठँसा हुआ है, लेकिन फिर भी जिन्हें सन्तोष नहीं है। ये क्रांतिकारी बादलों के वज्र से इतना डर गए हैं कि अपनी स्त्रियों से लिपटे होने पर भी काँप रहे हैं। 'अंगना-अंग' भी उनके लिए 'आतंक-अंक' हो रहा है! डर के मारे उन्होंने अपनी आँखें और अपना मुख ढँक लिया है। अन्तिम बन्द की आरंभिक पंक्तियाँ हैं—

रुद्ध कोष है, क्षुब्ध तोष,
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक-अंक पर कांप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल।
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।

जैसे यह स्वाभाविक है, वैसे ही किसानों का क्रांतिकारी बादलों का आह्वान करना भी। ये किसान ऐसे हैं, जिनकी बाँहों में बल नहीं रहा और जिनका शरीर टूट चुका है। सामन्ती उत्पीड़न ने उनका सारा रक्त चूस लिया है। अब वे कंकाल-मात्र रह गए है। वे बहुत अधीर होकर बादलों को पुकारते हैं। यहाँ भी पंक्तियाँ शुरू में और बीच में छन्दोबद्ध हैं, चौदह-चौदह और पन्द्रह-पन्द्रह मात्राओं की। तुकांत तो वे हैं ही :

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारावार!

इन पंक्तियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उक्ति है—'जीवन के पारावार'! यह बहुत सशक्त उक्ति भी है। बादल किसानों में जीवन का, आशाओं का और आकांक्षाओं का संचार करनेवाले हैं। वे उनके लिए क्रांतिकारी हैं, साक्षात् क्रांतिरूप।

इस कविता का सौन्दर्य भी इसे प्रकृति-कविता के रूप में देखने में ही है, सामाजिक कविता के रूप में नहीं। कवि की क्रान्तिकारी सामाजिक चेतना इस कविता में अवश्य अभिव्यक्त हुई है, पर वह प्रकृति के अधीन है, प्रकृति उसके अधीन नहीं, जैसा कि समझाने की कोशिश की गई है।

छहों कविताओं को एक शृंखला में देखने पर बादलों का एक व्यापक रूप आँखों के सामने उभरता है। ये बादल स्वच्छंद हैं, उद्दाम हैं, लोक-कल्याणकारी हैं, प्रेम के संदेशवाहक है, परमात्मा का अवतार हैं और क्रांतिकारी हैं। जो बात स्मरणीय है, वह यह कि वे सभी रूपों में बादल हैं। उनके असली रूप को भुलाकर 'बादल-राग' को नहीं समझा जा सकता। छहों कविताएँ एक ही विषममात्रिक छन्द में रची गई हैं और एक ही प्रकार की

चित्र और ध्वनि से भरी हुई भाषा में, इसलिए परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी बहुत बार ये एक ही कविता की तरह प्रतीत होती हैं। सम्पूर्ण रूप में इस कविता की भाषा और शिल्प, अपनी कल्पनाशीलता के साथ, द्विवेदीयुगीन कविता के बाद एक लम्बी छलाँग मालूम पड़ती है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ये निराला की आरम्भिक दौर की कविताएँ हैं। इनमें वस्तुतः उन्होंने खड़ी बोली की जमीन की गहराई से जुताई की है और उसमें झूमती हुई फ़सल खड़ी कर दी है। १९२२ में पंतजी ने भी 'बादल' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता लिखी थी, जो कि 'पल्लव' में संगृहीत है। इस कविता से 'बादल-राग' को मिलाकर देखने पर पता चलता है कि 'बादल-राग' जहाँ निराला की शक्तिशाली सृजनात्मक कल्पना की देन है, वहाँ 'बादल' कवि की 'फैंसी' की। इसी कारण 'बादल-राग' की कविताएँ जहाँ सुगठित हैं, वहाँ 'बादल' के चित्रों में बिखराव है, यद्यपि दोनों के चित्र अनेक बार समान प्रकार के हैं। ये दोनों कविताएँ दोनों कवियों की सृजनात्मक क्षमता के स्वरूप और अंतर पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती हैं। यहाँ शेली की प्रसिद्ध कविता 'द क्लाउड' को भी याद किया जा सकता है, लेकिन उसका पंत के 'बादल' पर तो प्रभाव है, निराला के 'बादल-राग' पर नहीं। निराला की कविता का ढाँचा बिलकुल अलग है, जिसमें कवि ही बादल को सम्बोधित कर उसका विभिन्न रूपों में परिचय देता है, जबकि पंत और शेली की कविताओं में बादल स्वयं अपने बारे में कहते हैं; अपना कोमल और कठोर, सुन्दर और उदात्त रूप प्रस्तुत करते हैं। शेली की कविता पंत की तुलना में अधिक संगठित है, भव्य भी, लेकिन उसमें निराला-जैसा संगठन नहीं। निराला की अतिरिक्त विशेषता शृंखला की प्रत्येक कविता के पीछे स्थित एक 'आइडिया' है, जो पंत में तो नहीं ही है, शेली में भी नहीं है। यही 'आइडिया' निराला की प्रत्येक कविता को संरचना प्रदान करता है, जो कि स्पष्टतः प्रगीतात्मक है, नाटकीय अथवा कथात्मक नहीं, अर्थात् वृत्त की तरह फैलनेवाली, सीधी रेखा में चलनेवाली नहीं।

निराला-साहित्य के पाठकों की ओर से

प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद

प्रतिभा की पहचान यह है कि वह बनी-बनाई लीक पर नहीं चलती बल्कि अपनी लीक आप बनाती है। लीक को ही परम्परा का पर्याय मान लेने वालों से स्वभावत: उसका सदा टकराव होता आया है। प्रतिभा जब अपनी कृतियों से अपने को प्रतिष्ठित कर लेती है तब समय की सुई के साथ यद्यपि टकराव का लगभग विसर्जन कर दिया जाता है फिर भी उसकी छाप सर्वथा मिट नहीं जाती। कालिदास का यह 'स्मृतिचिह्न' इसका स्मरण दिलाता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् (मालविका.)
इसी प्रकार से भवभूति को भी 'समानधर्मा' की प्रतीक्षा थी क्योंकि समकालीन उनकी उपेक्षा कर रहे थे। कबीरदास और तुलसीदास को क्या कम उपेक्षा का दंश सहना पड़ा? 'निराला' के अग्रज जयशंकर प्रसाद की स्थिति भी ऐसी ही नहीं रही क्या? नोबेल पुरस्कार की प्राप्ति के पहले गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्थिति क्या थी? यदि कीट्स की असामयिक मृत्यु उपेक्षा के कारण हुई तो शेक्सपीयर को क्या कम विष-बाण झेलने पड़े जिनकी रचनाओं को ही बेकन की रचना बताया जाता रहा?

और यह क्या केवल साहित्य के ही क्षेत्र में है? राम का वनवास और कृष्ण को आजीवन त्रास, ईसा को शूली और गाँधी को गोली का उपहार नहीं मिला?

मैं यहाँ यह चर्चा इसलिए उठा रहा हूं कि निराला-शती वर्ष में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को समग्रता में समझने की पृष्ठभूमि बने। साहित्य के सामान्य पाठकों के लिए यह आज अनिवार्य हो गया है।

'निराला' साहित्य ही नहीं जीवन के क्षेत्र में भी महाप्राण थे, तभी एक साधारण परिवार में जन्म लेकर भी, जीवन-पर्यंत अपनी विपन्नता और पारिवारिक विछोहों को झेलते हुए भी, उन्होंने न केवल युग-प्रवर्त्तक कालजयी उत्कृष्ट साहित्य की रचना की बल्कि अपने विशिष्ट समकालीनों—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद एवं रामचन्द्र शुक्ल की तरह जीवन के अंतिम क्षण तक अपने रचना-कार्य में संलग्न रहे। उनके अन्तिम काव्य-संग्रह

'सांध्यकाकली' की भूमिका में श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लिखा है कि "निश्चय ही ६०वीं कविता से ६५वीं तक जो कविताएँ लिखी गयीं वे २ अगस्त के बाद की हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि १५ अक्टूबर १९६१ के अपने महाप्रयाण के कुछ दिन पहले तक निराला की साहित्य-साधना चलती रही। 'सांध्यकाकली' में एक कविता उनकी हस्तलिपि में दी गयी है, उससे न तो उनकी शारीरिक शिथिलता का कोई आभास मिलता है और न मानसिक शिथिलता का ही। उनके इस अन्तिम काव्य-संग्रह की रचनाएँ 'अनामिका' या 'परिमल' या 'कुकुरमुत्ता' या 'नये पत्ते' से भिन्न पर वैसी ही उत्कृष्ट हैं और उन जैसे महाप्राण की लेखनी से ही रची जा सकती हैं। भारतीय साहित्य के पाठक इसका स्मरण क्यों नहीं करते कि 'महाभारत' के बाद व्यास ने 'भागवत पुराण', तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के बाद 'विनय पत्रिका' और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' के बाद 'शेषलेखा' में संकलित कविताओं की रचना की थी। ये सभी रचनाकार जीवन के अन्तिम दिनों तक अपने रचना धर्म का निर्वाह करते रहे और उनकी इन अन्तिम रचनाओं के बिना न केवल उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की समग्रता में समीक्षा सम्भव है, न उनके समावेश के बिना उनकी रचनावली को 'समग्र' मानना समीचीन होगा।

उन विलक्षण प्रतिभाओं को विरोध और प्रशंसा दोनों के लिए तैयार रहना होता है जो निराला की तरह अपनी आरम्भिक रचनाओं से ही अपनी प्रौढ़ता का परिचय देने लगते हैं। इसीलिए 'जुही की कली' लौटा दी गयी थी; इसीलिए महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्म सिंह शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे लोग निराला के विरोध में मुखर रहे; पर इसीलिए जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी और रामविलास शर्मा जैसे लोग उनके साहित्य की प्राणवत्ता, उत्कृष्टता और विशिष्टता के क़ायल। 'गीतिका' पर 'प्रसाद' का 'अभिमत' आज भी निराला के तब तक के काव्य का सर्वोत्तम समग्र आकलन है। जन्म-शती के अवसर पर 'अभिमत' की कुछ पंक्तियों का स्मरण कर लेने से समग्र निराला-साहित्य के आस्वादन का मार्ग प्रशस्त होगा—

"गीतिका" हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखायें पुष्ट—वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यंजना मूर्तिमती है। आलम्बन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदंड नहीं है। निरालाजी ने नृम्ण और ओज, सौन्दर्य भावना और कोमल-कल्पना का जो माधुर्यमय संकलन किया है वह उनकी कविता में शक्ति-साधना का उज्ज्वल

परिचायक है।" किसी समकालीन की किसी रचना पर 'प्रसाद' का यह एकमात्र "अभिमत" है पर यह अपने अनुजवत् की अपने अग्रजवत् की लेखनी से व्यक्त मात्र अनुशंसा नहीं बल्कि निराला के समग्र व्यक्तित्व-कृतित्व का सूत्र रूप में लिखित ऐसा ऐतिहासिक मूल्यांकन है जो इन छह दशकों के बाद आज भी उतना ही प्रामाणिक, प्रासंगिक और सार्थक ही नहीं बल्कि संतुलित और उत्कृष्ट है। 'प्रसाद' की ये पंक्तियाँ श्रेष्ठ रचनात्मक-आलोचनात्मक गद्य के सर्वोत्तम उदाहरणों की दृष्टि से भी सदा उल्लेख्य रहेंगी क्योंकि इनमें रचनात्मक आलोचनात्मक (कारयित्री-भावयित्री—राजशेखर) दोनों प्रतिभाओं का मणि-कांचन योग है। इस ऐतिहासिक 'अभिमत' के कारण प्रसाद और निराला दोनों के अनेक विरोधी पैदा हो गये। जब 'अज्ञेय' की एक पुस्तक की भूमिका लिखने से प्रसाद ने इनकार कर दिया तो वे जीवन पर्यन्त इसका विस्मरण नहीं कर पाये और प्रसाद के कृतित्व का अवमूल्यन उनके लेखन में निरंतर अभिव्यक्त होता रहा। कई अन्य साहित्यकार भी प्रसाद एवं निराला के प्रति ऐसी ही मनोग्रथि से सदा पीड़ित रहे। पर ऐसों की 'पीड़ाएँ' अलग से विचारणीय है।

निराला-रचनावली का उसकी समग्रता में आस्वादन, या उनके व्यक्तित्व की महाप्राणता की पूर्णता की समझ के लिए बंगाल के मेदिनीपुर जनपद के महिषादल में उनके जन्म; या उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के गढ़ाकोला का उनका मूल निवासी होने; या पत्नी की प्रेरणा से हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने; या वेदांत, कालिदास, तुलसीदास, जयशंकर प्रसाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द आदि के साहित्य के अध्ययन से प्रभावित होने; या कबीरदास के बनारसी रंग और बैसबाड़े की मिट्टी की गन्ध का ही स्मरण पर्याप्त नहीं होगा बल्कि इस बात का भी, कि हर विशिष्ट रचनाकार के व्यक्तित्व की ऐसी निजता, ऐसे संस्कार, ऐसी जन्मजात प्रतिभा की विशेषताएँ होती हैं जो उसके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों को उसकी जिजीविषा और प्राणवत्ता के अनुरूप ऐसा 'स्व-रूप' प्रदान करती हैं जिसके कारण उसका साहित्य पाठकों के लिए साधारणीकृत रूप में आस्वाद्य होकर भी अपनी विशिष्टता में उत्कृष्ट ही नहीं बल्कि अपनी भिन्न पहचान भी रखता है। इसीलिए हर साहित्यकार की रचना साहित्य होकर भी उसकी 'अपनी' होती है, वह संज्ञावाचक होकर भी गुणवाचक और व्यक्तिवाचक तीनों साथ-साथ होती है जिससे उसकी भाववाचकता की सार्थकता सिद्ध होती है। इसीलिए किसी एक दृष्टि से साहित्य का आस्वादन अध्ययन-मूल्यांकन एकांगी ही नहीं खण्डित भी होता है, अतः पक्षपात पूर्ण और मताग्रही भी। जीवन और जगत

का कितना यथार्थ उसकी अनुभूति की पकड़ में आकर अभिव्यक्त होता है, यह उसकी प्राणवत्ता पर निर्भर करता है तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्राणवत्ता उसके साहित्य की उत्कृष्टता के स्तर को निर्धारित करती है। जीवन और जगत् का सम्पूर्ण यथार्थ न केवल किसी महान् साहित्यकार की अनुभूति में अपनी विराटता के कारण अपनी सम्पूर्णता में नहीं समा सकता बल्कि जितना कुछ उसकी अनुभूति की पकड़ में आ जाता है उसे भी उसकी पूर्णता में, भाषा की शक्ति की सीमा के कारण, पाठक की ग्रहणशीलता की सीमा के कारण, अभिव्यक्त एवं संप्रेषित करना सम्भव नहीं होता। कालिदास 'रघुवंश' में **"जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ"** के लिए उपमा के रूप में **"वागार्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये"** कहकर "उपमा कालिदासस्य" को ही सार्थक नहीं करते बल्कि "वागर्थ" के पार्वती परमेश्वर की तरह उनके असीम-अनन्त एवं सृष्टि का मूल होने का भी संकेत देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा की व्यंजनाशक्ति का ऐसा विलक्षण प्रयोग किसी अन्य कवि ने नहीं किया।

निराला में कबीर के बनारसी रंग का अक्खड़पन नहीं बल्कि वेदांत के "सोऽहम्" की रसात्मक अनुभूति, मात्र बौद्धिक नहीं, की महाप्राणता है जो उनकी "तुम और मैं" शीर्षक कविता में ही केवल अभिव्यक्त नहीं हुई है बल्कि उनकी सम्पूर्ण रचनावली में अनुस्यूत है। भारतीय वेदांत-साधना-परम्परा में विकसित यह साक्षी-भाव **"जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ"** (रघुवंश) के रचयिता को उनके शृंगार को **"अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति"** (कुमारसंभव, ५-५३) के रूप में अभिव्यक्त करने की दृष्टि और शक्ति प्रदान करता है। इसी दृष्टि और शक्ति के कारण निराला 'जुही की कली', 'सरोज-स्मृति', 'जागो फिर एक बार', 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसीदास' जैसी रचनाएँ ही नहीं बल्कि 'गरीब की पुकार', 'विधवा', 'भिक्षुक' या 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताएँ रच सके। इन सबसे उनकी महाप्राणता का यह प्रमाण प्राप्त होता है कि कालिदास, तुलसीदास और जयशंकर प्रसाद की तरह उनकी अनुभूति कितनी व्यापक और गहरी थी तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उनकी भाषा-शक्ति जीवन के यथार्थ के कितने निकट थी।

'निराला रचनावली' का उसकी सम्पूर्णता में आस्वादन और मूल्यांकन 'प्रसाद वाङ्मय' का उसकी सम्पूर्णता में आस्वादन के बिना अपर्याप्त ही नहीं बल्कि अधूरा और एकांगी रह जाता है। प्रसाद और निराला महान् समकालीन ही नहीं एक दूसरे के व्यक्तित्व-कृतित्व के पूरक भी थे। 'प्रसाद' के अतिरिक्त निराला आधुनिक हिन्दी के एकमात्र ऐसे साहित्यकार थे जिनकी

उपनिषद् और वैदिक संहिता तक पहुंच थी। भारतीय नवजागरण की मूल विशिष्टता का यह पक्ष प्रसाद और निराला के साहित्य में ही रचनात्मक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, वल्लातोल और इक़बाल की रचनाओं में भारतीय नवजागरण के विविध पक्ष जिस रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, उनकी पृष्ठभूमि में वेदांत की मूल धारणा की प्रेरणा जिस रूप में काम करती रही है, उसकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। 'सुधा' के अक्टूबर, १९३७ के अंक में 'कामायनी' की जो 'महाकाव्य परीक्षा' निराला ने लिखी थी उसमें केवल यही नहीं लिखा कि "हिन्दी के युगांतरकारी साहित्य के जो तीन प्रजापति हैं उनमें प्रसाद जी एक 'श्रद्धा देवो वै मनुः' हैं।" बल्कि 'कामायनी' की आरम्भिक आठ पंक्तियों को उद्धृत कर यह मार्मिक टिप्पणी भी की है कि "कवि ने कामायनी का सारतत्त्व इन पंक्तियों में रख दिया है—उसे जड़ कहो या चेतन......... 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का पूरा तत्त्व कविकुल-गुरु कालिदास ने जैसे 'या सृष्टिः स्रष्टु राधा' वाले पद्य में बाँध दिया है, वैसे ही वर्तमान युग के प्रवर्त्तक कवि श्रेष्ठ प्रसाद जी ने मानवसृष्टि-तत्त्व की अपूर्व रचना 'कामायनी' की व्याख्या-सी कर दी है।" मैं यहाँ इन पंक्तियों को इसलिए उद्धृत कर रहा हूं कि इससे प्रसाद और निराला की जीवन-दृष्टि के मूल प्रस्थान-बिन्दु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

निराला की रचना की दो प्रसिद्ध मार्मिक पंक्तियां हैं—'स्नेह निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है।' यहाँ व्यक्त अवसाद-भाव उनकी दुर्बलता नहीं बल्कि उनके सजग यथार्थ-बोध को व्यक्त करता है। 'मैं अकेला / देखता हूं, आ रही / मेरे दिवस की सान्ध्य-वेला' भी कवि की अवसाद-मिश्रित सजगता का ही प्रमाण है क्योंकि 'गीत गाने दो मुझे तो / वेदना को रोकने को' से यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि इन रचनाओं पर मानसिक विक्षिप्तता की कोई छाप नहीं है बल्कि ये पंक्तियां जीवन के यथार्थ के नये पक्ष और भिन्न स्तर की अनुभूति को व्यक्त करती हैं।

'सान्ध्यकाकली' में संकलित रचनाओं के सम्बन्ध में श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लिखा है—'निरालाजी की ये अन्तिम कविताएँ अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनके विचारों, आस्थाओं और विचारों के सम्बन्ध में नहीं, उनके मानसिक असंतुलन की उग्रता के सम्बन्ध में भी लोगों में बड़ा मतभेद है।' उन्होंने आशा की थी कि 'इन अन्तिम कविताओं से इन विवादग्रस्त विषयों पर विचार करने में सहायता मिलेगी।' पर ऐसा कोई समाधान अब तक नहीं मिल पाया क्योंकि एक तो उनके साहित्य को समग्रता में नहीं आँका गया

और दूसरे अलग-अलग खेमों के अलग-अलग आग्रहों के कारण उन्हें अपनी-अपनी भावना (विचार) के अनुरूप देखा और पाया गया।

'सांध्यकाकली' की दो पंक्तियों, जो संभवत: अपूर्ण रचना है—'ध्वनि में उन्मन-उन्मन बाजे, अपराजित कंठ आज लाजे' के आधार पर यदि यह कहा और माना जाये कि निराला ने 'उन्मन' की स्थिति प्राप्ति कर ली थी तो शायद कुछ ही लोगों के लिए यह ग्राह्य हो क्योंकि रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य के गम्भीर अध्येता, 'तुम और मैं' के रचयिता की जो विद्रोही छवि अंकित की जाती रही है उसके साथ शायद यह मेल नहीं खाती। निराला की प्रगतिशील छवि के साथ 'एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों' (महाराज शिवाजी का पत्र) और 'उर के आसन पर शिरस्त्राण / शासन करते हैं मुसलमान', जैसी पंक्तियों का मेल बैठा पाना जैसे कठिन हो जाता है वैसे ही 'वह आता—दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता' या 'कुकुरमुत्ता' की पंक्तियों के साथ या 'यह और न था कुछ, था बस हाहाकार' (विधवा) की पंक्तियों के साथ 'भारति, जय, विजय करे' तक तो ग़नीमत है पर क्या 'वर दे, वीणावादिनि वर दे' की ये पंक्तियां—'काट अंध-उर के बन्धन-स्तर / बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्भर / कलुष-भेद तम-हर प्रकाशभर / जगमग जग कर दे' जैसी उनकी आरम्भिक रचना की पंक्तियाँ उनके अन्तिम काव्य-संग्रहों की रचनाओं का आभास नहीं देतीं? 'गीतिका' की उनकी रचना की प्रथम पंक्ति है—'हूं दूर-सदा मैं दूर' ('मतवाला' में १९२३ में प्रकाशित) की जो स्थिति निराला के आलोचकों ने उनकी रचनाओं के आस्वादन के लिए बना रखी है उसके विसर्जन की बेला अब आ गयी है। जन्म-शती से ऐसे आग्रह का अन्त होना ही चाहिए तभी निराला-साहित्य के माध्यम से न केवल उनकी महाप्राणता बल्कि साहित्य की शक्ति का भी श्रेष्ठ पक्ष एवं जीवन का समग्र यथार्थ अपनी सम्पूर्णता में पाठक को प्रेरणा दे पायेगा।

'काव्य-साहित्य' शीर्षक अपने एक निबन्ध में (माधुरी, दिस० १९३०) निराला ने साहित्यालोचन में बढ़ती 'संकीर्ण और एकदेशीय' प्रवृत्ति के प्रति चेतावनी देते हुए लिखा था—'साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है।' उनकी चेतावनी के बावजूद 'अपने साहित्य का उद्देश्य सार्वभौमिक' करने की दिशा में इन सात दशकों में कितनी वृद्धि हो पाई है? क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'प्रार्थना' की इन पंक्तियों की तरह निराला की चेतावनी भी 'स्नेह निर्भर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है' जैसी ही इन पंक्तियों की भी स्थिति नहीं हो गयी है?—'चित्त येथा भयशून्य, उच्च येथा शिर, ज्ञान येथा मुक्त····भारते रे

सेई स्वर्गे करो जागरित।' भारत ही नहीं संसार के किसी भी भू-भाग में आज क्या ऐसी स्थिति है जहां चित्त भयशून्य हो, ज्ञान जहाँ मुक्त हो और जहां सिर ऊँचा कर चला जा सके ?

साहित्य निराला का हो या किसी और का, वह मात्र मनोरंजन या वाद-विवाद के पोषण के लिए नहीं बल्कि आस्वादन के लिए रचा जाता है। निराला या कोई भी रचनाकार केवल रचयिता ही नहीं पाठक-आस्वादक भी होता है। इसीलिए साहित्यकार की कारयित्री और भावयित्री (राजशेखर) प्रतिभा परस्पर विरोधी नहीं बल्कि परस्पर सहयोगपूर्वक ही रचना और आस्वादन दोनों में प्रवृत्त होती है। साहित्य की रचना या अध्ययन-अध्यापन में इसका विस्मरण कर देने से साहित्य की उत्कृष्टता तो उद्घाटित-आस्वादित होने से ओझल रह ही जाती है, आस्वादक-आलोचक भी उत्कृष्ट साहित्य के सहज-स्वाभाविक प्रभाव से वंचित रह जाता है। यही कारण है कि एक ओर आधुनिक युग में साहित्य के पाठको की सख्या में अप्रत्याशित रूप में वृद्धि हो रही है। (संसार की सभी भाषाओं में करोड़ों की संख्या में जब पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं तो पाठकों की सख्या के लिए और किस प्रमाण की आवश्यकता है ?) फिर भी आधुनिक मनुष्य का चित्त न तो भयशून्य हो रहा है, न ज्ञान मुक्त हो रहा है और न वह सिर ऊँचा उठाकर चलने की स्थिति में है। ऐसा इसलिए कि साहित्य के अध्यापक साहित्य में डूबने, रस-निमग्न होने की प्रक्रिया के बदले परीक्षोपयोगी प्रक्रिया का प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। जिनमें स्वाध्याय की सहज प्रवृत्ति होती है वे ही आज साहित्य के रसज्ञ-मर्मज्ञ पाठक रह गये हैं।

"निराला : आत्महंता आस्था" की भूमिका में दूधनाथ सिंह ने लिखा है—"..........यह मात्र प्रशस्ति-वाचन या निन्दा नहीं है, बल्कि निराला की रचनाओं तक पहुंचने के लिए एक निजी और नया द्वार भी है..........."। वस्तुत: हर पाठक को "निजी और नया द्वार" गढ़ना-ढूंढ़ना होता है और हर आलोचक का दायित्व पाठक के इस कार्य को सहज-सरल बनाना होता है।

महाप्राण निराला मे प्रबल जिजीविषा थी, अदम्य आस्था थी। पर उनकी आस्था को "आत्महंता" कहना उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की मूल प्रकृति को समझने में सहायक नहीं होता, भले ही इस उक्ति से आधुनिक अर्थ में नवीन प्रयोग का चमत्कार पैदा होता हो क्योंकि पुस्तक के आरंभ में ही लेखक को अपने इस प्रयोग के लिए स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। हर प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को, चाँद तक पहुंचने की आकांक्षा रखने वाले हर व्यक्ति को, साधना करनी पड़ती है, सघर्ष करना पड़ता है। पर इसकी

अभिव्यक्ति वह अपनी परम्परा और परिवेश के सन्दर्भ में करता है। निराला ने इसे उस रूप में नहीं लिया जिस रूप में लेखक ने प्रस्तुत किया है। अंतिम दिनों में रचित निराला की इन पंक्तियों को देखिये—"मर्यादा के बाँध सागरिक / बाँधे, साधे साधु नागरिक / सत्य उक्ति से फले साम-ऋक् / घर-घर पावन स्तव पवन भरे।" यह "आत्महंता आस्था" की नहीं बल्कि "आत्मस्थ आस्था" की वाणी है और यह निराला की साहित्य-साधना की अपनी प्रकृति का मूल स्वर है।

'चैत्या' की 'मात्र संकेत' शीर्षक भूमिका में श्री नरेश मेहता ने कहा है कि "काव्य तिरस्कार नहीं संस्कार करता है समस्त जैविकता का।" निराला की सम्पूर्ण "रचनावली" इसी "साम-ऋक्" की उदात्त अनुभूति के "सत्य" की उक्ति है जो अपनी उत्कृष्टता के कारण विश्व-साहित्य की कालजयी कृति के रूप में स्थापित हो चुकी है। 'प्रसाद-वाङ्मय' के साथ परस्पर पूरक आस्वादन-अध्ययन से दोनों की कालजयी रचनाओं की विशिष्टता अपनी सम्पूर्ण सौन्दर्यबोधीय चेतना एवं संस्कार-क्षमता के साथ अभिनव रूप में आस्वाद्य है। निराला-जन्मशती से इसका आरंभ होना चाहिए।

निराला-जन्मशती-वर्ष में एक और बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। यह है लोक-रुचि के निर्माण में गीत जैसे सशक्त माध्यम का समुचित उपयोग। हिन्दीभाषी प्रदेश की लोक-रुचि का निर्माण आज भी या तो भजन (भक्ति-संगीत) कर रहे हैं या चित्रपट संगीत। दूसरी तरफ बांगला संगीत भजन-कीर्तन, बाउल संगीत से होता हुआ रवीन्द्र-संगीत और नज़रुल-गीति की एक लम्बी यात्रा तय कर चुका है। हिन्दी से दो युगप्रवर्त्तक कवियों—'प्रसाद' और निराला ने हिन्दी-संगीत को आधुनिक युगानुरूप भावनाओं के निकट लाने के लिए जो ऐतिहासिक कार्य किया वह लगभग व्यर्थ ही गया, ऐसा इसलिए कहना पड़ता है कि हिन्दी में प्रसाद-संगीत और निराला-गीति जैसी लोक-रुचि का निर्माण करने वाली परम्परा स्थापित नहीं हो सकी। 'परिमल' और 'गीतिका' की भूमिका में इस प्रश्न पर जिस गहराई से विचार किया गया है उसकी न तो चर्चा की जाती है और न उससे संकेत लेकर अब तक उस दिशा में कोई सार्थक प्रयास ही किया गया है। 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने वैदिक मंत्रों के आधार पर छंद के स्वरूप पर जो तात्त्विक विचार किया है वह आज भी न केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखता है बल्कि इस पर लिखी गयी उच्चतम कोटि की स्थापना है। उनकी मूल स्थापना है—'वैदिक साहित्य—काव्य में, इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि

को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अंदाज लगा लेते हैं।' उनकी दूसरी स्थापना है—"..................भिन्न तुकांत (ब्लैंक वर्स) का श्रीगणेश पहले-पहल हिन्दी में प्रसिद्ध कवि बाबू जयशंकर प्रसाद जी ने किया है।" भिन्न तुकांत छंद से जुड़ी 'स्वच्छन्द दृष्टि' और मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति' के वैदिक साहित्य से सम्बन्ध का लगभग विस्मरण कर दिया गया है जिसके फलस्वरूप निराला के चिंतन की पृष्ठभूमि ही लुप्त होती जा रही है।

'गीतिका' की भूमिका में उनकी स्थापना है—"गीत-सृष्टि शाश्वत है। समस्त शब्दों का मूल कारण ओंकार है। इसी अशब्द संगीत से स्वर-सप्तकों की भी सृष्टि हुई है। समस्त विश्व स्वर का ही पुंजीभूत रूप है। अलग-अलग व्यष्टि से स्वर-विशेष—व्यक्ति या मौन।" "....स्वर-संगीत स्वयं आनंद है। आनंद ही इसकी उत्पत्ति, स्थिति और परिसमाप्ति है।" "...आर्यजाति का सामवेद संगीत के लिये प्रसिद्ध है, यों इस जाति ने वेदों में जो कुछ भी कहा है, भावमय संगीत में कहा है। संगीत का ऐसा मुक्त रूप अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। गायत्री की महत्ता आज भी आर्यों में प्रतिष्ठित है। इसके नाम में ही संगीत की सूचना है। भाव और भाषा की ऐसी पवित्र झंकार और भी कहीं है, मुझे मालूम नहीं। स्वर के साथ शब्द, भाव और छंद तीनों मुक्त हैं।" 'परिमल' की भूमिका की छंद-मुक्ति की भावना 'गीतिका' की भूमिका में स्वर के साथ शब्द, भाव और छंद तीनों की मुक्ति की अनिवार्यता को स्थापित कर देती है। इस स्थापना की पृष्ठभूमि में निराला की दूसरी स्थापना है—"मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की अच्छी-अच्छी सौंदर्य भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी। उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है।" आधुनिक हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवियों ने इसके लिए क्या किया ? इस सम्बन्ध में निराला का कथन है—"खड़ी बोली में भी गीतों के प्रथम सृष्टिकर्ता "प्रसाद" जी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नये गीत हैं।...उनके अत्यंत सुन्दर पद—

> **"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर**
> **प्रलय चल रहा अपने पथ पर,**
> **मैंने निज दुर्बल पद-बल पर**
> **उससे हारी-होड़ लगायी।"**

का मैं कई जगह उद्धरण दे चुका हूं।"

निराला की मूल स्थापनाओं पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इन स्थापनाओं में व्यक्त उनकी भावनाओं का स्मरण आज इसलिए आवश्यक है कि पाश्चात्य सांस्कृतिक आक्रमण का शोर मचाकर नहीं बल्कि प्रसाद

और निराला के द्वारा निर्दिष्ट रचनात्मक विकल्प को राष्ट्रीय संकल्प का रूप प्रदान कर ही भारतीय अस्मिता की जीवन्तता को समृद्ध किया जा सकता है। प्रकृति की प्रकृति है कि रिक्तता उसे असह्य है। हिन्दी-संगीत के भजन-संगीत की परिधि को 'प्रसाद' और निराला ने जो युगानुरूप स्वरूप प्रदान किया या तो उसे स्वीकार करना होगा या इस रिक्तता को पाश्चात्य संगीत भर देगा।

निराला इस बारीकी तक गये कि "ब्रजभाषा के पद गानेवालों के लिए साफ उच्चारण के साथ इन गीतों का गाना असंभव है। वे इतने मार्जित नहीं हो सके।" इस क्षेत्र में बाद में कोई प्रयास शायद किया गया हो, फिर और प्रयोग की बात उठाना ही बेकार है।

निराला ने अपने प्रयास की एक और मौलिक विशेषता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है—"प्राचीन गवैयों की शब्दावली, संगीत की रक्षा के लिए, किसी तरह जोड़ दी जाती थी; इसलिए उनमें काव्य का एकांत अभाव रहता था। आज तक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है।"

हिन्दी-संगीत को 'प्रसाद' और निराला ने वैदिक साम-संगीत के उस धरातल पर ले जाने का प्रयास किया जहां काव्य और संगीत एकाकार हो जाते हैं। रवीन्द्र-संगीत और नजरुल-गीति से प्रसाद-संगीत और निराला-गीति का यह अन्तर विशिष्टता के साथ उसे अपूर्व भव्यता से भी मंडित करता है। संस्कृत और हिन्दी भाषा की प्रकृति के अन्तर को यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है और इसी में, इसी कारण, हिन्दी संगीत की मौलिकता अविस्मरणीय है। पर आज की स्थिति में तो इनकी उपेक्षा ही अविस्मरणीय बन गयी है।

साहित्यकार पाठक को जीवन और जगत् के मानव सम्बन्धों की जो चेतना सम्प्रेषित करता है, जो बोध प्रदान करता है, जिस जीवन-दृष्टि को उन्मीलित करता है, वह स्थिर नहीं हो सकता है। इसीलिए कालजयी साहित्य की विशेषता यह है कि हर पाठक के लिए उसकी प्रासंगिकता सदा बनी रहती है। इस सम्बन्ध में 'प्रसाद' की कालजयी पंक्तियां हैं—"प्रकृति के यौवन का शृङ्गार, करेंगे कभी न बासी फूल।" (कामायनी) और फिर निराला की यह पंक्ति "रूखी री यह डाल, वसन वासंती लेगी।" (गीतिका) 'प्रसाद' और निराला जैसे कालजयी कलाकारों की विराट् चेतना के स्तर पर यौवन का शृङ्गार और बासी फूल, रूखी डाल और वासंती वसन के चित्र उसी प्रकार साथ-साथ उभरते हैं जिस प्रकार कालिदास के शिव-दहन और पार्वती-ग्रहण, तुलसीदास के राम के राजतिलक और वन-गमन की तैयारी के युग्म चित्र। मैं यहाँ इसलिये इसकी चर्चा कर रहा हूं कि महाप्राण निराला के साहित्य को

"दलबंदियों के भाव" (परिमल की भूमिका) से जिस रूप में व्याख्यायित किया जाता रहा है, कवि के अग्रजों और अनुजों दोनों के द्वारा, उससे उनकी यह आकांक्षा अभी तक अधूरी रह गयी है कि "इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बंधकर उठनेवाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जलकण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायेंगे, और लक्ष्यभ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होंगे।" (परिमल की भूमिका)

निराला की आस्था का 'जीवन का उदार महासागर' (रवीन्द्रनाथ का 'मानवेर महासागर') का तब तक निर्मित होना संभव नहीं होगा जब तक साहित्य के पाठक-वर्ग का इसमें सक्रिय योगदान न हो। परीक्षोपयोगी अध्ययन-अध्यापन, लेखन-प्रकाशन, इनकी बनती-बिगड़ती 'दलबंदियों' के भाव—इन सबने मिलकर साहित्य के स्वस्थ-सहज आस्वादन को असंभव नहीं तो कठिन अवश्य बना दिया है। यदि यह कहा जाय कि 'दलबंदियां' कब और कहाँ नहीं रहीं तो यह भी मानना पड़ेगा कि साहित्य का अपेक्षित प्रभाव कब नहीं बाधित हुआ जिसके कारण कालजयी साहित्यकारों की कल्पना कब नहीं साकार होने से रह गयी ? निराला के प्रिय कवि तुलसीदास ने लिखा था—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कँह हित होई।" जब सब तक "भनिति" पहुँचेगी ही नहीं तो सब का हित कैसे होगा ? निराला-शती-वर्ष में सब तक निराला के साहित्य को पहुँचाने के प्रयास को ही उनके शती-वर्ष-समारोह की पूर्णाहुति कहा जायेगा। जीवित निराला को जब समाज भौतिक सुख-सुविधाएँ न दे पाया तो अब उनका भौतिक स्मारक खड़ा करने का क्या तुक है ? यह पाश्चात्य प्रवृत्ति की नकल है क्या ? साहित्यकार का सच्चा स्मारक उसके साहित्य का सुधी पाठक तैयार करना है। इसका विस्मरण नहीं किया जाना चाहिए कि जब बादशाह अकबर किले पर किले बनवा रहे थे तब उनके समकालीन तुलसीदास 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' की रचना कर रहे थे। आगरा के किलों के रख-रखाव पर आज भी करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे है पर तुलसी-साहित्य के लिए तो एक नये पैसे की आवश्यकता नहीं है। हाँ, आवश्यकता है ऐसे "सहृदय" की जिसका "मनोमुकुर काव्यानुशीलन से विशदीभूत" (अभिनवगुप्त) हो गया है। "यत्र विश्वं भवति एक नीडम्" (यजुर्वेद) का विश्वबंधुत्व साहित्य से ही विकसित होगा, विश्व-व्यापार के घटते-बढ़ते चक्र से नहीं।

निराला साहित्य के अध्ययन के लिए ऐसी दृष्टि विकसित करना क्यों अनिवार्य है ? "गीतिका" की भूमिका में समस्त शब्दों का मूल कारण ध्वनि-

मय ओंकार बताया गया है। ओंकार के सम्बन्ध में "प्रश्नोपनिषद" (५.२) में कहा गया है—'एतद्वै सत्यकाम परं चापर च ब्रह्म यदोंकार:। 'वाक्यपदीयम्' में भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।।"

निराला ने साहित्य-साधना को शब्द-ब्रह्म की उपासना के रूप में ग्रहण किया था जिसका स्मरण रखे बिना उनके साहित्य के मर्म को कैसे पाया जा सकता है? इस सम्बन्ध में मैत्रायणी उपनिषद् (६.२२) में जो कहा गया है उसे महाभारत (शांति पर्व २७०.२) में भी पाया जाता है—हे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति।" इससे यह स्पष्ट है कि शब्द (अक्षर) की ब्रह्म रूप में उपासना अध्यात्म साधना की तरह साहित्य साधना के क्षेत्र में भी ग्राह्य थी। प्रसाद और निराला दोनों ने अपने को इस समृद्ध परंपरा से जोड़कर हिन्दी की शब्द-शक्ति-साधना को वागर्थ के अभिनव लावण्य से मंडित किया।

यह "चमत्कार" (रस गंगाधर पंडितराज जगन्नाथ) कैसे सभव हुआ? छांदोग्य उपनिषद् (७.१३.२३) में कहा गया है—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।" प्रतिकूल परिस्थितियों के थपेड़ों के बावजूद प्रसाद और निराला दोनों ने सदा "भूमा" की "विजिज्ञासा" की, "अल्प" की नहीं। अत: निराला-साहित्य (या प्रसाद-साहित्य या साहित्य मात्र) का पाठक (आलोचक) यदि "भूमा" की "विजिज्ञासा" न कर "अल्प" की करने लगता है तो यह बहते स्नेह-निर्झर में डूबने के बदले "रेत ज्यों तन रह गया" में डुबकी लगाने जैसा है।

अभी निराला-साहित्य के पाठकों की ओर से इस संक्षिप्त निवेदन के बाद लेखनी को विराम देना उचित प्रतीत होता है।

बन शरण का उपकरण मन : निराला

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

वही चरण शरण बनें।
कटें कलुष गहन घने।
लगे हे तुम्हीं से मन,
उर-नूपुर-मधुर रणन
तुम्हारे अजिर आँगन
मंगल के गीत गने![१]

निराला की कातर प्रार्थना है कि प्रभु के चरण ही अब मेरी शरण बनें, जिससे जीवन के घने गहन कलुष कट जायें। हे प्रभु तुम्हीं से मेरा मन लगे, मेरे हृदय में तुम्हारे नूपुरों की मधुर ध्वनि गूँजती रहे, तुम्हारे ही आँगन में मैं मंगल के गीत गाता रहूँ! इन पंक्तियों में कवि निराला ने संसार की उपलब्धियों से मुँह मोड़कर प्रभु का आश्रय प्राप्त कर अपने जीवन को निष्कलुष बनाकर उन्हीं को समर्पित हो जाने की अभीप्सा प्रकट की है। शरणागति की यह भावना उनके उत्तरकालीन काव्य की प्रमुख प्रेरिका है। १९५० से १९६१ तक रचित इन कविताओं का संकलन अर्चना, आराधना, गीतगुंज और सान्ध्यकाकली में हुआ है।

निराला की काव्य सर्जना के इस चरण से बहुतेरे आधुनिकतावादी और मार्क्सवादी आलोचक हताश हुए हैं। मार्क्सवादी आलोचक तो वस्तुतः क्षुब्ध हो उठे हैं उनके इस रूप से। कुकुरमुत्ता (१९४२) बेला (१९४३) और नये पत्ते (१९४६) के कवि के रूप में वे निराला को प्रगतिवादी घोषित कर चुके थे। उसके बाद निराला का यह भक्ति विभोर शरणागत रूप उनके लिये अप्रत्याशित था। अपनी खीझ को प्रकट करते हुए उन्होंने निराला पर पलायनवादी होने का, पीछे लौट जाने का आरोप लगाया। जो अपने बौद्धिक अनुशासन में ईश्वर को मार चुके हैं या उसे पूर्णतः फैंटेसी घोषित कर चुके हैं, उनके लिए तो किसी मानवेतर दिव्यतत्त्व की सत्ता पर विश्वास करना मध्यकालीन बोध मात्र है, जिससे उनकी दृष्टि में निहित स्वार्थों और स्थापित सत्ता का संरक्षण ही होता है। यह देखकर सचमुच कष्ट होता है कि डॉ० रामविलास शर्मा जैसे प्रबुद्ध और निराला के अत्यन्त सहृदय आलोचक ने इन गीतों की विवेचना 'आत्म-

प्रवंचना' के अन्तर्गत करते हुए अपनी हठधर्मिता के कारण लिखा है, "निराला काल्पनिक इच्छापूर्ति, आत्मप्रवंचना और रहस्यवादी रूढ़ियों के कवि भी हैं। उनके साहित्य में इस तरह की प्रवृत्तियाँ उनकी साम्राज्य विरोधी क्रान्तिकारी चेतना, उनके यथार्थोन्मुख मानवतावाद के आड़े आती हैं, उसे कमज़ोर बनाती हैं।"[२] निराला के वेदान्त निरूपण और रहस्यवाद के प्रति अपनी विरूप टिप्पणी के उपरान्त उनके भक्ति गीतों पर सीधा हमला करते हुए उन्होंने लिखा है, "एक स्तर भक्ति का है जहाँ प्रभु से या शक्ति की देवी से ऐसी प्रार्थना की गयी है, जिसका विफल होना अनिवार्य है। निराला के विनयगीत दो तरह के हैं। एक गीत ऐसे जहाँ उनके दुःख और संघर्ष की तीव्र अभिव्यक्ति है, दूसरे वे जहाँ उनके आराध्य प्रभु या देवी संसार के दुख-सुख से दूर अपना चिन्मय प्रकाश फैलाए रहते है अथवा कवि की प्रार्थना मानकर बहुत आसानी से उनके जीवन को आनन्द और प्रकाश से भर देते हैं।"[३] इसी क्रम में उन्होंने निराला के भक्ति गीतों को 'छायावादी काव्य की पलायन वृत्ति' ही घोषित किया है। आश्चर्य है, जो रामविलास शर्मा तुलसी की भक्ति को उच्चकोटि का मानवतावाद मानते हैं वे ही निराला की भक्ति को मानवतावाद के आड़े आने वाली बात बताते हैं। शायद यह भी मार्क्सवादी आलोचना की रणनीति हो या डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय के शब्दों में 'टैक्टिकल क्रिटिसिज्म' हो! डॉ० नामवर सिंह ने कई व्याख्यानों में निराला की उत्तरकालीन भक्ति कविता को 'अस्वस्थ तन-मन की देन' बताया है। डॉ० नन्दकिशोर नवल के अनुसार निराला का इस चरण का धार्मिक काव्य "हमें उद्विग्न करता है, आध्यात्मिक शान्ति नहीं प्रदान करता। यह शान्ति निराला को कभी मिली भी नहीं क्योंकि इस लोक से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा....."[४]। मैं इन मतों को मार्क्सवादी आलोचना की स्थूलता और विफलता का उदाहरण मात्र मानता हूँ। मार्क्सवादियों के भरसक विरोध के बावजूद आध्यात्मिकता और भक्तिचेतना हिन्दी के प्रतिनिधि काव्य में निराला, पन्त, दिनकर, बच्चन, अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, कुँवरनारायण जैसे वरेण्य कवियों की कृतियों में प्रतिफलित होती रही, उनके क्षोभ का वास्तविक कारण यही है। आध्यात्मिकता और भौतिकता के पारम्परिक टकराव और जीवन तथा काव्य में उनकी भूमिका का विस्तृत विवेचन करने का अवकाश यहाँ नहीं है। अतः मैं अपने को इस लेख में निराला के उत्तरकालीन काव्य की विशेषताओं की विवेचना तक ही सीमित रखना चाहता हूँ।

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि निराला का उत्तरकालीन काव्य उनकी काव्ययात्रा का सहज विकास था, पीछे लौटना' या विपथगामी

होना नहीं। आस्तिक संस्कारों में पले तुलसी-भक्त निराला रामकृष्ण विवेकानन्द के साहित्य तथा स्वामी प्रेमानन्द, माधवानन्दजी के साहचर्य के प्रभाव से नव्य वेदान्ती दृष्टि को अपना कर कर्मक्षेत्र में उतरे थे। यह नव्य-वेदान्त एक तरफ ससार को माया मानता था अतः मोक्ष को परम पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण करता था दूसरी तरफ श्रीरामकृष्णपरमहंस देव के निर्देशानुसार जगत् के जीवों को शिव मानकर उनकी सेवा को व्यावहारिक साधना के रूप में स्वीकारता था।[५] इसीलिये विवेकानन्द ने रामकृष्ण मठ के संन्यासियों का आदर्शवाक्य घोषित किया था 'आत्मनः मोक्षार्थं जगद्धिताय च' (अपने मोक्ष के लिए और जगत् के हित के लिये की जाने वाली साधना का व्रत हम ग्रहण करते हैं।) इसी जगत हित की प्रेरणा का प्रतिफलन निराला की बादल राग (६) विधवा, भिक्षुक, सेवा प्रारम्भ, तोड़ती पत्थर जैसी कविताओं में हुआ है। यह स्मरणीय है कि निराला ये कविताएँ मार्क्सवादियों के सम्पर्क में आने के पहले ही लिख चुके थे। अतः निराला की साम्राज्य विरोधी मानववादी चेतना भी मूलतः विवेकानन्द की देन है, हाँ, मार्क्सवादियों के सम्पर्क ने उस पर थोड़ी बहुत मात्रा में अपना रंग भी चढ़ाया, इसे मैं स्वीकार करता हूँ।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति, देशभक्ति, मानव-कल्याण आदि के साथ-साथ अध्यात्म चेतना भी निराला की कविताओं में आरम्भ से ही अभिव्यक्त होती रही। यह क्रम अविच्छिन्न रूप से उनकी काव्यसर्जना के अन्तिम दौर तक चलता रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० नन्दकिशोर नवल ने इस सत्य को स्वीकारा है। उनकी उक्ति है, "आम तौर पर यह समझा जाता है कि निराला के काव्य का तीसरा चरण उनके दूसरे चरण के यथार्थवादी काव्य से भिन्न है क्योंकि इसमें वे पुनः भक्ति और अध्यात्म के गीत रचने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि वे 'कुकुरमुत्ता' (प्र० सं०) और 'नये पत्ते' की रचनाओं के दौर में भी भक्ति और अध्यात्म के गीत रच रहे थे जो कि 'अणिमा' और 'बेला' में संकलित हैं।"[६] इसके बाद भी वे निराला की कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर यह मन्तव्य प्रकट करते हैं, "जो कवि इस लोक को माया समझेगा, वह यह कभी नहीं चाहेगा कि साहित्य और विज्ञान दोनों का उपयोग उत्पादन-वृद्धि और फिर उससे होने वाले कल्याण के लिए हो। मार्क्स ने लिखा है, 'धार्मिक वेदना एक साथ ही वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति और वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी है।' निराला के इस चरण के काव्य को हमें इसी आलोक में देखना चाहिए।"[७] इस उक्ति से मार्क्सवादी आलोचना की दयनीयता ही उजागर होती है। श्री नवल प्रस्तुत सन्दर्भ में सच्चाई को नकार भी नहीं सकते, पूरी तरह स्वीकार

भी नहीं सकते अतः मार्क्स का उद्धरण देकर वे इन कविताओं की विकृत व्याख्या करने का प्रस्ताव करते हैं। मैं उनकी जानकारी के लिए यह जोड़ सकता हूं कि संसार को माया मानते हुए भी रामकृष्ण मिशन के स्कूल-कॉलेजों में न केवल विज्ञान की शिक्षा दी जाती है बल्कि उसके अनेक संस्थानों में उत्पादन-वृद्धि के लिए विद्यार्थियों को तकनीकी शिक्षा भी दी जाती है। अपना मोक्ष और जगत का हित दोनों जिनका काम्य है उनके लिए भक्ति और उत्पादन वृद्धि के प्रयास पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। निराला इसी परम्परा को साहित्य में आगे बढ़ाते हैं।

एक बात और है। श्री नवल ने निराला के भक्ति गीतों की अविच्छिन्नता को तो रेखांकित किया है किन्तु वे पूर्ववर्ती दौर के भक्ति काव्य से निराला के अन्तिम दौर के शरणागति काव्य में विद्यमान गुणगत अन्तर को लक्षित नहीं कर पाये हैं। यदि उन्होंने इस अन्तर पर ध्यान दिया होता तो वे यह नहीं कह पाते कि इन गीतों की रचना करते समय निराला को आध्यात्मिक शान्ति नहीं मिल पायी। यह सच्चाई स्वीकारनी चाहिए कि निराला के पूर्ववर्त्ती भक्ति काव्य में लोक की मान्यता का अंकुश है। गीतिका की भूमिका में इस तथ्य की सहज स्वीकृति है। निराला ने उसमें लिखा है, "कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना में आधुनिक से आधुनिक के मनोनुकूल होते हुए भी भाषा-साहित्य-संस्कृति में जैसे अमार्जित हैं वैसे ही सूर तुलसी आदि भाषा-संस्कार रखते हुए भी कृष्ण और राम की सगुण उपासना के कारण आधुनिकों की रुचि के अनुकूल नहीं रहे।" ८ भक्ति आधुनिकों या प्राचीनों की रुचि के अनुकूल नही की जाती अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल की जाती है। 'लोक लाज कुल शृंखला' से ऊपर उठकर यदि स्वभाव के अनुरूप भक्ति नहीं होगी तो वह कुंठाग्रस्त होगी। निराला भक्ति पूर्वक श्री रामचरितमानस का पारायण किया करते थे, मनोहरा देवी से सुना तुलसी का प्रसिद्ध भजन 'श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन' उनका परम प्रिय गीत था किन्तु कविता लिखते समय आरम्भिक दौर में प्रभु के निर्गुण रूप को आलम्बन के रूप में ग्रहण कर भक्ति को रहस्यवाद का पुट दे देते थे, आधुनिक कहलाने के लिए। रवीन्द्रनाथ के लिए ब्राह्म समाजी संस्कार के कारण जो सहज था, निराला के लिए वह आरोपित तत्त्व था, फलतः उनकी प्रारम्भिक भक्ति रचनाएँ इस आन्तरिक विसंगति के कारण दुर्बल हैं। 'अर्चना' के गीतों की रचना के समय तक निराला इस दुर्बलता से मुक्त हो चुके थे। 'अर्चना' की भूमिका 'सत्योक्ति' में निराला की निर्भय स्वीकृति है, "(इन गीतों का) अन्तरंग विषय यौवन से अतिक्रान्त कवि के परलोक से सम्बद्ध है, इसलिए यहाँ सम्मति का फल

निष्काम में ही होगा। रस सिद्धि की परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि *हिन्दी के भाषा साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी* हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशा मात्र है। अतः यहाँ प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि :—

भाव कुभाव अनख आलसहू।
राम जपत मंगल दिशि दसहूं॥"९

इस सत्योक्ति से यह स्पष्ट है कि प्रौढ़ निराला अपना परलोक सुधारने के लिए सम्मति और लोकप्रियता दोनों से निरपेक्ष होकर अपने हृदय के वास्तविक भावों की अभिव्यक्ति इन गीतों में नाम जप की पद्धति से अर्थात् पुनरावृत्ति को दोष की जगह गुण मानते हुए दसों दिशाओं में मंगल अर्थात् प्रभु का अनुग्रह पाने की दृष्टि से कर रहे हैं। क्या इतनी सच्चाई और हृदय की गहराई से रचित शरणयाचना के इन गीतों से निराला को आध्यात्मिक शान्ति नहीं मिली होगी ?

यह ठीक है कि अन्यों की तुलना में श्री दूधनाथ सिंह ने निराला के प्रपत्ति काव्य का विवेचन कुछ विस्तार से किया है किन्तु उनके कुछ निष्कर्ष बड़े अटपटे लगते हैं। उनका यह कहना तो ठीक है कि निराला ने केवल अपने लिए नहीं 'सारे जीवन, सारे मनुष्यों तथा प्रकृति को मुक्त करने' के लिए प्रार्थना की है किन्तु इसके आधार पर यह कहना ठीक नहीं है कि 'इस रूप में निराला भक्ति की उस विचारधारा से अलग दिखाई देने लगते है जिसमें प्रभु के कृपा भाव को भक्त की व्यक्तिगत और निजी उपलब्धि के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। निराला की शरणागति यहीं आकर परम्परा विहित शरणागति नहीं ठहरती।"१० मुझे मालूम नहीं दूधनाथजी किस परम्परा से निराला की शरणागति को अलग बता रहे हैं। रामकृष्ण-विवेकानन्द की परम्परा में 'आत्मनः मोक्षार्थं जगद्धिताय च' की चर्चा मैं कर चुका हूं। तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' हिन्दी में रचित शरणागति काव्य में सर्वोपरि मानी जाती है। उसमें सम्पूर्ण जगत् के मंगल के लिए बार-बार प्रार्थना की गयी है। उद्धृत हैं कुछ पंक्तियाँ :—

दीन दयालु दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुआर पुकारत आरत सब की सब सुख हानि भई है॥

....

उथपे-थपन, उजार-बसावन, गई-बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत-आरतिहर अभय बाँह केहि केहि न दई है।११

सौं धों को जो नाम-लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर ?
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरौं सकल भवभीर ।।[१२]

इसी तरह कवितावली के उत्तरकांड के ९६-९७ संख्यक छन्दों में समस्त पीड़ित जनता की ओर से प्रार्थना करते हुए तुलसी ने कहा है कि बड़वाग्नि से भी भीषण है पेट की आग······मजदूर, किसान, व्यापारी, भिखारी, भाट सब उस आग से जल रहे हैं, हे रामजी आप उस आग को बुझाइये ! सब संकट-ग्रस्तों का उद्धार करने के लिए तुलसी ने विनती की है कि सारी दुनिया को ग्रस लेने वाले दारिद्र्य रूपी रावण का प्रभु वध करें :—

दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी ![१३]

स्थानाभाव अधिक उद्धरण देने की अनुमति नहीं देता अन्यथा भारतीय भक्ति साहित्य से शरणागतों की प्रार्थनाओं के ऐसे बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें सबके मंगल के लिए प्रभु से विनय की गयी है। निस्सन्देह निराला की शरणागति इस दृष्टि से पूर्णतः परम्पराविहित है।

श्री दूधनाथ सिंह ने निराला की एक पंक्ति से 'प्रार्थना की व्यर्थता' का हवाला देकर उन्हें दो बार परम्परा से अलग बिल्कुल आधुनिक चेतना का कवि सिद्ध करना चाहा है।[१४] क्या प्रार्थना की व्यर्थता का यह कथन प्रार्थना को व्यर्थ सिद्ध करने के लिए है ? तो फिर इसके बाद भी निराला प्रार्थना क्यों करते रहते हैं ? सही बात यह है कि प्रार्थना की स्वीकृति में विलम्ब होता देख भक्त और शरणागत बारबार अपनी प्रार्थना की दुर्बलता की या प्रभु की अपने प्रति अवहेलना की कल्पना कर अपनी प्रार्थना को व्यर्थ हुआ सा बताते हैं किन्तु प्रार्थना करना नहीं छोड़ते, उसे बारबार दुहरा कर प्रभु की कृपा पाना चाहते हैं, प्रार्थना की स्वीकृति का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। यह मानसिकता तुलसी, सूर, कबीर सभी में मिलती है। तुलसी ने अपनी प्रार्थनाओं की स्वीकृति में विलम्ब होते देख कैसी गंभीर वेदना का अनुभव किया है, इसका साक्ष्य वहन करती हैं उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ :

यहि बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु नामहुँ पाप न जारो ![१५]
तुलसी प्रभु को परिहर्यो सरनागत सो हौं ।[१६]

इसी पद में तुलसी ने यह भी कहा है : **असमंजस मन को मिटै, सो उपाय न सूझै ।**[१७] इसी मानसिकता की चरम सीमा पर तुलसी का करुण उद्‌गार है :

कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू, मरिबोई रहो है।[१८]
क्या इन पंक्तियों का हवाला देकर कोई तुलसी की शरणागति पर प्रश्न चिह्न लगा सकता है ? काश, हमारे आलोचक अपनी विशाल परम्परा को श्रद्धा के साथ समझने की चेष्टा करते ! दूधनाथ सिंह जी ने तो निराला की आस्था को आत्महन्ता की आख्या दी है। मैं उनकी इस व्याख्या से सहमत हूं कि "महान् और मौलिक सर्जना के लिए यह आत्मबलि शायद अनिवार्य है।"[१९] किन्तु निवेदन यह करना चाहता हूं कि भारतीय परम्परा में आत्मबलि स्तुत्य है, आत्महनन निन्द्य ! ईशावास्योपनिषद् के तीसरे मन्त्र में बताया गया है कि आत्महन्ता तो मरने के अनन्तर आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित असुर सम्बन्धी लोक में जाते हैं। इसको दृष्टिगत रखते हुए निराला की आस्था को आत्महन्ता कहना मुझे तो उचित नहीं लगता !

निराला की शरणागति की भावना और तत्सम्बन्धी काव्य सर्जना को समझने लिए उनकी दृष्टि को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है। निराला ने अनेक कविताओं एवं लेखों में बारबार अद्वैत वेदान्त को अपना सिद्धान्त बनाया है। यह प्रश्न उठ सकता है कि अद्वैत को मानने वाला शरणागति की भूमिका कैसे ग्रहण कर सकता है क्योंकि उसमें शरण्य और शरणागत का द्वैत तो बिलकुल स्पष्ट है। भक्ति में भी भक्त और भगवान के द्वैत को स्वीकारना पड़ता है। निराला ने परिमल में संकलित अपनी लम्बी कविता 'पंचवटी प्रसंग' में इस शंका का समाधान स्वयं श्रीराम से कराया है। वे सीता को भक्ति तत्त्व समझाते हुए कहते हैं, "**भक्ति-योग-कर्म-ज्ञान एक ही है। यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते / एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ / द्वैत भाव ही है भ्रम। / तो भी प्रिये, / भ्रम के ही भीतर से / भ्रम के पार जाना है। / मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति / सोच ली थी पहले ही। / इसीलिए द्वैतभाव-भावुकों में / भक्ति की भावना भरी— / प्रेम के पिपासुओं को / सेवा जन्य प्रेम का / जो अति ही पवित्र है, / उपदेश दिया, / सेवा से चित्तशुद्धि होती है। / शुद्ध चित्तात्मा में उगता है प्रेमांकुर।**"[२०] इसी कविता में अन्यत्र उन्होंने यह भी बताया है कि सेवा परायण लक्ष्मण के शुद्ध चित्त में भगवत् प्रेम का यह अंकुर उगकर भक्ति का रूप धारण कर लेता है तो उन्हें मुक्ति भी तुच्छ लगने लगती है। उनकी भक्ति के आलम्बन हैं सीताराम। भगवती सीता के चरणों में अपनी भक्ति निवेदित करते हुए वे कह उठते हैं, '**बहता हूं माता के चरणामृत-सागर में : / मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।**"[२१] इसका मतलब यह हुआ कि तत्त्वतः अद्वैत को स्वीकारने पर भी व्यवहार के स्तर पर निराला यह मानते हैं कि चित्तशुद्धि

के बिना अद्वैत की अनुभूति और आचरण में उसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। अतः बहुत्व के भ्रम से उबरने के लिए अद्वैत को स्वीकार कर चित्तशुद्धि के अनन्तर भक्ति साधना का अवलम्ब ग्रहण करना श्रेयस्कर है। इसीलिए निराला की काव्य सर्जना में प्रारम्भ से ही भक्ति को प्रधानता प्राप्त हुई है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रभु उनके लिए फैंटेसी न होकर अनुभूतिगम्य वास्तविकता हैं। यह भी साफ है कि कर्म हो या योग, भक्ति हो या ज्ञान किसी भी मार्ग से प्रभु को प्राप्त करने के लिए साधक को अपनी साधना पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बहुतेरे साधकों को लगता है कि सिद्धान्त को समझ लेना फिर भी अपेक्षाकृत रूप से आसान है, उसे बौद्धिक स्तर पर स्वीकार कर लेना भी बहुत कठिन नहीं है किन्तु उसे जीवन में उतार पाना तो बहुत ही मुश्किल है। बिना उसे जीवन में उतारे उसकी सार्थकता ही क्या है, उसका लाभ ही क्या है ? तुलसी ने दो टूक शब्दों में कहा है :

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई।।[२२]

जैसे रात के समय दीप की बातों से घर का अँधेरा दूर नहीं होता, वैसे ही केवल वाचिक ज्ञान में निपुण हो जाने पर कोई संसार सागर के पार नहीं जा सकता। तो फिर क्या किया जाये ? सामर्थ्य भर चेष्टा करने के बावजूद सफल न होने पर ही अभिमान गलित होता है, शरणागति की भावना उभरती है। निराला के आदर्श स्वामी विवेकानन्द को भी ऐसा ही लगा था। अपना पूरा जोर आजमा लेने के बाद भी जब वे स्वीकृत सिद्धान्त को, अद्वैत दर्शन को जीवन में नहीं उतार पाये थे तब श्री रामकृष्ण की शरण उन्होंने ग्रहण की थी। उनका अत्यन्त मार्मिक श्लोक है :

भक्तिर्भगश्च भजनं भवभेदकारि
गच्छन्त्यलं सुविपुलं गमनाय तत्त्वम्।
वक्त्रोद्धृतन्तु हृदि मे न च भाति किञ्चित्
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो।।[२३]

अर्थात् संसार को (जन्म-मरण के चक्र को) तिरोहित कर परम तत्त्व तक ले जाने में समर्थ, भक्ति, आध्यात्मिक शक्ति और अर्चना की चर्चा मैं मुँह से तो बखूबी करता रहता हूं किन्तु हाय ! हृदय में तो वे उतरतीं ही नहीं, अतः हे दीन बन्धु आप ही मेरी एकमात्र शरण हैं। इसी परम्परा में विकसित हुए *निराला यदि प्रभु की शरण ग्रहण करने को अपना परम सम्बल मानते हैं* तो इसे स्वाभाविक ही मानना चाहिए। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शरणागति के लिए अनन्यता (शरण्य के अतिरिक्त अन्य सबों के आश्रय का

त्याग) तथा अकिंचनता (पूर्ण निस्साधनता—अपने किसी भी साधन पर निर्भर न करना) अनिवार्य है। वास्तविक शरणागति तो तभी सधती है जब साध्य और साधन दोनों प्रभु ही हों अर्थात् अभीष्ट हो प्रभु को प्राप्त करना और उसका साधन अपनी कोई साधना न हो कर प्रभु की कृपा ही हो। इसी पीठिका के आधार पर निराला के शरण-गीतों की विवेचना संगत और सार्थक हो सकती है।

निराला के आरम्भिक भक्ति काव्य में पीड़ाकातर प्रार्थनाओं के साथ साथ संयत विवेक एवं पौरुष-दीप्त दृढ़ता की भी व्यंजना हुई है। 'परिमल' की 'खेवा' में यदि **'डोलती नाव, प्रखर है धार / सँभालो जीवन खेवनहार'**[२४] जैसी भय मिश्रित आकुल गुहार है तो उसी की 'प्रार्थना' शीर्षक कविता में **'अंचल सा न करो चंचल क्षणभंगुर / नत नयनों में स्थिर दो बल, अविचल उर / स्वर सा कर दो अविनश्वर, ईश्वर मज्जित / शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर, मन्दर सज्जित'**[२५] जैसी प्रशान्त ज्ञानगर्भ याचना भी है। सैंकड़ों आघात झेलकर भी निराला का आत्मविश्वास इस समय तक खण्डित नहीं हुआ था, तभी वे घोषणा कर सके थे. **'मेरे ही अविकसित राग से / विकसित होगा बन्धु दिगन्त— / अभी न होगा मेरा अन्त'**[२६] 'हमें जाना है जग के उस पार' जैसे गीतों में यदि रहस्यवाद का स्पर्श है तो दुखी भाई की सेवा के कारण आध्यात्मिक 'अधिवास' छूट जाने का भी उन्हें कोई त्रास नहीं है। 'जागो फिर एक बार' (२) में उनकी दृप्त वेदान्ती दहाड़ तो मूर्तिमती तेजस्विता ही है। अनामिका में यदि कहीं, 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन' की हताशा व्यक्त हुई है तो वहीं **'कुछ न हुआ, न हो / मुझे विश्व का सुख, श्री यदि केवल पास तुम रहो'**[२७] जैसी संयत 'उक्ति' व्यक्तिगत विफलता को भी प्रभु कृपा से सार्थकता में रूपान्तरित कर देती है। अपनी अध्यात्म साधना में सबसे बड़ा पाठ निराला ने 'अनामिका' काल में 'वन-बेला' से सीखा है। राजनीति में रूस के अन्धानुकरण और धर्म में संवेदना रहित रूढ़िवादी आचरण से खिन्न निराला जब अपनी अवहेलना करने लगते हैं तो वन बेला उन्हें सचेत करती है कि नगरों के स्वार्थलोलुप परिवेश में आत्मा की निधि कौड़ी के मोल बिकती है और झूठे मानबोध के कारण एक बड़ा और शेष छोटे माने जाते हैं जबकि ज्ञान के क्षेत्र में सभी सुहृद्वर्ग हैं, उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग तुल्य हो जाता है। इसी मान्यता की चरम परिणति है, "जाती हूँ मैं, बोली बेला, 'जीवन प्रिय के चरणों पर करने को अर्पण।"[२८] यह सर्वस्व समर्पण की भावना शरणागति का प्रमुख तत्त्व है। किन्तु अब तक अर्पित करने की अहंता (चाहे विनम्र ही सही) और अर्पणीय वस्तु के प्रति ममता का भाव शेष है। इसी काल में रचित निराला

की अमर कविता राम की शक्तिपूजा से यह स्पष्ट है। अतः अब भी भक्ति की परिधि लाँघकर शरणागति का आरंभ नहीं हुआ है।

गीतिका की प्रार्थनाओं में भाव वैविध्य और कला नैपुण्य का मणिकांचन संयोग हुआ है। निराला के अनुसार इन गीतों का 'भाव प्राचीन होने पर भी प्रकाशन का नवीन ढंग लिए हुए है।'[२९] इसमें एक ओर यदि बड़ी मर्मस्पर्शी वेदनासिक्त वाणी में प्रभु से निराला की जिज्ञासा है :—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?
जग के दूषित बीज नष्ट कर
पुलक स्पन्द भर खिला स्पष्टतर
कृपा समीरण बहने पर क्या
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा ?
मेरे दुःख का भार झुक रहा
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?[३०]

तो दूसरी ओर बड़े संयम, साहस और समर्पण के स्वर में वे भगवती के पदराग रंजित मरण का वरण करने के लिए भी प्रस्तुत दीखते हैं :—

दे, मैं करूँ वरण
जननि, दुखहरण पदराग रंजित मरण !
भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों
आज्ञा, जननि, दिवस निशि करूँ अनुसरण ![३१]

गीतिका में निराला की अपूर्व काव्य क्षमता की मनोहारी उपलब्धियाँ भगवती सरस्वती, भारतमाता, मातृभाषा की वन्दनाओं के रूप में, प्रेम, सौन्दर्य और रहस्यवादी चेतना की अनेकानेक मोहक अभिव्यंजनाओं के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु शरणागति की भावना अब भी क्षीण है। **'अनगिनत आ गये शरण में जन, जननि'**[३२] में व्यक्त आनन्द की भावना शरणागति के प्रति श्रद्धा तो ज्ञापित करती है, किन्तु इससे शरणागति की गहनता व्यक्त नहीं होती। निराला का पौरुष अब भी अप्रतिहत है। किस बाँकपन से संसार की चुनौतियों को अपने ही बल पर स्वीकार करते हुए वे कह उठते हैं —

जीवन की तरी खोल दे रे
जग की उत्ताल तरंगों पर
दे चढ़ा पाल कलधौत-धवल
रे सबल, उठा तट से लंगर।
क्यों अकर्मण्य सोचता बैठ
गिनता समर्थ हो व्यर्थ लहरः
आये कितने, ले गये अर्थ,
बढ़ विषम बाड़वानल जल तर।[३३]

'तुलसीदास' के माध्यम से निराला ने अपने आदर्श कवि रूप का अंकन किया है। उनका वह आदर्श कवि भक्ति समन्वित ज्ञान के उद्धत प्रहार से उन्नति के अवरोधक विषम वज्र द्वार को तोड़कर भारत का अपार भ्रम हरेगा। काम भावना की प्रबलता के कारण अपने अल्पकालिक स्खलन से वह नील वसना शारदा के अनुग्रह से उभर कर जीवनभर जीवनहर आसुरी तत्त्वों से संघर्ष कर अन्त में जग जीवन को दिव्य प्रकाश से देदीप्यमान कर देगा। इस महान् काव्य में ज्ञान-भक्ति-कर्म का अपूर्व समन्वय परिलक्षित होता है पर शरणागति का स्वर इसमें अनुपस्थित सा ही है।

कुकुरमुत्ता, नये पत्ते का जनवादी स्वर निराला के पौरुष को उत्पीडित मानवता के पक्षधर के रूप में प्रस्तुत करता है। निश्चय ही उसका अपना साहित्यिक महत्त्व है, स्वस्थ परम्परा का पुट उसमें भी है किन्तु उसके संग्रामी तेवर से शरणागति की भावना आवृत सी हो गयी है।

पर यह भी उल्लेखनीय है कि इसी काल में निराला की भक्ति भावना शरणागति का रूप ग्रहण कर रही थी। इस सच्चाई की गवाही देते हैं, अणिमा और बेला में संकलित कुछ गीत जो संख्या में कम होते हुए भी भाव सान्द्रता की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। ऐसा तभी सम्भव होता है जब बात हृदय से निकले। वैसे निराला ने तो डंके की चोट पर कहा है :

यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द
तो एक गीत मत गाना तुम।[३४]

अतः इन गीतों में व्यक्त उनकी भावनागत सत्यता को कोई हठाग्रही ही चुनौती दे सकता है। अणिमा का गीत **'दलित जन पर करो करुणा / दीनता पर उतर आये / प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा'** *निराला के सर्वश्रेष्ठ गीतों में* एक है। अपने को दलित और दीन मानकर निराला इसलिए प्रभु की करुणा और अरुणा शक्ति की याचना करते हैं कि—

'देख वैभव न हो नत सिर
समुद्धत मन सदा हो स्थिर
पार कर जीवन निरन्तर
रहे बहती भक्ति वरुणा ?'[३५]

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि निराला एक तरफ बाहर के किसी भी वैभव के सामने न झुकने की शक्ति माँगने के साथ-साथ अपने मन के औद्धत्य को भी नियंत्रित कर मन की स्थिरता प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं। वे चाहते हैं कि उनका समस्त जीवन भक्तिमय हो उठे। अपने मन को जीतने की उनकी कामना उनके शरणागति काव्य में कितनी सघन हो गयी है, इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

'बेला' में निराला ने शरण की ओर उन्मुख होती अपनी मानसिकता का निश्चित संकेत दिया है। **आये नत वदन शरण / जग के उद्धत जनगण**[३६] में यदि उन्होंने 'उद्धत जनगण' के साथ अपने को शामिल कर सिर झुकाकर विनम्र भाव से शरण में आने की बात कही है तो **'नाथ तुमने गहा हाथ, वीणा बजी / विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी'**[३७] गीत में उन्होंने अपनी द्विविधा से उभरने का संकेत भी दिया है क्योंकि प्रभु के द्वारा स्वीकारे जाने का आनन्दमय अनुभव उन्हें केवल निजी तौर पर नहीं विश्व स्तर पर हुआ है। इसी गीत की अगली पंक्तियाँ शरण ग्रहण की उल्लासमय परिणति की द्योतिका हैं :—

खुल गये डाल के फूल, रँग गये मुख
विहग के, धूल मग की हुई विमल सुख;
शरण में मरण का मिट गया महा दुख,
मिला आनन्द पथ पाथ, संसृति सजी।

निराला की काव्य यात्रा के इस संक्षिप्त निरूपण का उद्देश्य यही है कि उनके परवर्ती शरणागति काव्य का वैशिष्ट्य उनकी समग्र काव्योपलब्धि के मध्य अंकित किया जा सके।

निराला के उत्तरवर्ती शरणागति काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता जो किसी भी सचेत पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है वह यह है कि उसमें भाव और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों में स्वाभाविकता, सहजता झलकती है। समसामयिक लोक रुचि के दबाव से मुक्त होने के कारण आरोपित रहस्यवाद के स्थान पर इन गीतों में आन्तरिक विश्वास के अनुरूप सगुण भक्ति भावना मुखर हो उठती है। कला का चमत्कार दिखाने की भावना भी तिरोहित सी हो जाती है यद्यपि कहीं कहीं क्लिष्टता भी है तथापि एक बड़ी सीमा तक शब्द

योजना सरल हो जाती है, कई बार लोक गीतों की धुनें भी स्वीकृति पाती हैं। यह जरूर है कि इसी काल में हुए मानसिक विक्षेप के कारण कहीं-कहीं भाषा कुछ अटपटी भी हो जाती है पर भाव की मार्मिकता बनी रहती है। यह भी दृष्टिगोचर होता है कि निराला अपने को सर्वथा निराश्रित, बेसहारा मानकर प्रभु की शरण में जाते हैं। उनके प्रभु की संकल्पना भी व्यापक है। किसी भी साम्प्रदायिक आग्रह से वे सर्वथा मुक्त हैं। अतः प्रभु के रूप में ब्रह्म, मां, राम, कृष्ण, शिव, सूर्य, हरि सबका समावेश उन्होंने कर लिया है। उनका वेदान्त ज्ञान जैसे उन्हें अपने नाम रूप में आबद्ध नहीं रहने देता वैसे ही प्रभु के किसी विशेष नाम रूप से भी उन्हें नहीं बाँधता। हाँ नाम रूप के माध्यम से अनाम अरूप तक पहुंचने की साधना के क्रम में उपर्युक्त सभी नाम रूपों में वे एक ही प्रभु को गुहारते हैं और उसी का सहारा लेकर भवसागर को पार कर उसे ही प्राप्त करने का सकल्प करते हैं। उन्हें यह भी लगता रहता है कि इसमें सबसे बड़ा बाधक उनका अपना मन ही है, अतः वे बारबार मन को साधने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं, अपने मन को समझाते भी रहते हैं। जगत् की आपात रमणीयता में निहित विकरालता को वे भली-भाँति पहचान चुके हैं और उसके किसी भी आकर्षण से वे अब बँधना नहीं चाहते। मृत्यु के भय से वे सर्वथा मुक्त हो चुके हैं क्योंकि वे अच्छी तरह जान गये हैं कि यह मृत्यु भी उन्हीं के प्रिय प्रभु का रूप है। इन गीतों में विचार, भाव और प्रकाशन भंगिमा के मध्य दरारें नहीं हैं, इसीलिए ये अद्भुत रूप से विश्वसनीय और प्रभविष्णु बन पड़े हैं।

कितनी निश्छल वाणी में निराला प्रभु से शरण की याचना करते हैं,

> **दुरित दूर करो नाथ / अशरण हूँ गहो हाथ।**
> **हार गया जीवन रण / छोड़ गये साथीजन,**
> **एकाकी नैश क्षण / कंटक पथ विगत पाथ,**
> **देखा है प्रात किरण / फूटी है मनोरमण,**
> **कहा तुम्हीं को अशरण-शरण, एक तुम्हीं साथ।**
> **जब तक शत मोह जाल / घेर रहे हैं कराल,**
> **जीवन के विपुल व्याल / मुक्त करो विश्वनाथ !**[३८]

इस गीत को पढ़ते समय मुझे अनायास गुरु तेगबहादुरजी का दोहा याद आ गया।

> **संग सखा सभि तजि गये, कोऊ न निबहिओ साथि।**
> **कहु नानक इह विपति में, टेक एक रघुनाथ।।**[३९]

जीवन रण में पराजित सब साथियों से परित्यक्त निस्सम्बल निराला को लगता है कि इस विपत्ति के घने अंधकार में भी प्रभु कृपा की मनोरमण प्रात-

किरण फूटी है और वे संसार के शत शत मोहजाल रूपी विपुल व्यालों से अपने को मुक्त करने की प्रार्थना उनसे कर उठते हैं। उन्हें लगता है कि वे पतन के गह्वर में पड़े हुए हैं और भवसागर को पार करने में सर्वथा असमर्थ हैं। अतः पुनः प्रभु से प्रार्थना करते हैं, **'भवसागर से पार करो हे, गह्वर से उद्धार करो हे।**[४०] इस गीत में उन्होंने माया का संहार करने की व्याकुल विनय की है क्योंकि वही तो सब कष्टों की जड़ है।

अपने को संसार के अज्ञानमय अन्धकारागार का बन्दी पाकर ज्ञानप्रकाश के स्रोत प्रभु को तिमिरनाशक सूर्य रूप में सम्बोधित करते हुए निराला ने उनसे प्रार्थना की है कि वे पतन को उत्थान की प्राणमयता में बदल दें, जिससे उनकी अवरुद्धता दूर हो, गति तीव्र हो, जगत् कुसुम सुरभित प्रकाशवान् और आनंदमय हो उठे। उनका प्रसिद्ध गीत है :

तिमिर दारण मिहिर दरसो।
ज्योति के कर अन्धकारागार जग का सजग परसो।[४१]

अपनी पीड़ा से व्यथित होकर निराला प्रभु को उपालंभ देते हुए कहते हैं— तुमने मुझे भुला दिया है, इसीलिए मेरी यह दुर्गति हो रही है; तुम्हीं मेरे जीवन-आधार हो, तुम यदि मेरी उपेक्षा करोगे तो मेरी तो जड़ ही कट जायेगी। निराला का भावविह्वल प्रश्न है : **"क्यों मुझको तुम भूल गये हो? काट डाल क्या भूल गये हो।'**[४२] तुलसी ने भी कुछ इसी अन्दाज में रामजी से पूछा था, **'काहे को हरि मोहि बिसारो ?**[४३] शरणागतों की भावना में समानता हो, यही स्वाभाविक है।

यह ठीक है कि निराला ने प्रभु को नाना नाम रूपों के माध्यम से पुकारा है किन्तु यह भी ठीक है कि अपने उत्तर जीवन में उन्हें राम सबसे अधिक स्मरण आते रहे हैं। **'काम के छवि धाम। शमन प्रशमन राम'**[४४] **काम रूप हरो काम। जपूँ नाम, राम राम"**[४५] **'राम के हुए तो बने काम**[४६] **'अशरण शरण राम। काम के छवि धाम'**[४७] **सन्देश शुद्धमुख से निकला दृग बन्द करो लो राम नाम**[48] जैसी पंक्तियाँ प्रभु के रामरूप के प्रति उनका अधिक लगाव उजागर करती हैं। इस सन्दर्भ में यह भी कहना चाहता हूं कि 'अर्चना' की भूमिका में उद्धृत तुलसी की पंक्ति का शुद्ध पाठ है, 'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ। पर अपनी राममयता के कारण निराला ने उसे 'राम जपत मंगल दिसि दसहूं' बना दिया है। श्रीराम का शरणागत वत्सल रूप तुलसी-साहित्य के कारण समस्त हिन्दी भाषी जनता के मन में पैठ गया है। अतः निराला सदृश तुलसी-भक्त के मन पर भी उसकी गहरी छाप पड़ी हो तो इसे उचित ही मानना चाहिए।

शरणागति में सबसे बड़ा बाधक अपना मन ही है। एक तो मन इन्द्रियों के द्वारा निरन्तर विषय सुखभोग के लिए लालायित रहता है, भले इसके चलते उसे असीम दुःख झेलना पड़े, वह अपना हठ नहीं छोड़ता। दूसरे, वह अपने और अपनों के तथाकथित बल का गुमान भी तजना नहीं चाहता। अतः वह न तो अपने को निस्साधन मान पाता है, न अनन्य भाव से प्रभु को पाना ही चाहता है। फलतः सत्संग या सद्‌वृत्तियों के उदय के कारण सामयिक रूप से प्रभु की ओर उन्मुख होकर भी मन पुनः पुनः विषयवासना की ओर मुड़ जाता है या प्रभु से अपनी वासनाओं की पूर्ति की प्रार्थना करने लगता है। ऐसी स्थिति में तो शरणागति सधती नहीं। अतः शरणागति के सभी साधक अपने मन को समझा बुझाकर, जीतकर उसे शरणागति के अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास जितना गंभीर और आन्तरिक होता है शरणागति उतनी ही सच्ची होती है।

इस कसौटी पर भी निराला का शरणागति काव्य इस दृष्टि से खरा उतरता है कि निराला ने भरसक अपने मन को शरणागति के अनुकूल बनाने की चेष्टा की थी। इस लेख के शीर्षक के रूप में मैंने निराला के जिस गीत की पंक्ति उद्धृत की है, इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है वह गीत :—

भजन कर हरि के चरण मन !।
पारकर माया वरण मन।
कलुष के कर से गिरे हैं,
देह क्रम तेरे फिरे हैं
विपथ के रथ से उतरकर
बन शरण का उपकरण मन !
अन्यथा है बन्ध कारा
प्रबल पावस मध्य धारा
टूटते तन से पछड़ कर
उखड़ जायेगा तरण मन ![४१]

निराला इस गीत में पहले अपने मन को समझाते हुए कहते हैं, हे मन, तू माया का आवरण भेद कर हरि के चरण भज। मायावरण पार करने का अर्थ है आपात रमणीय विषय भोगों का और अपने तथा अपनों के मिथ्याबल के गुमान का परित्याग करना। वे मन को बताते हैं कि कलुष (पापाचार) के कारण ही तेरा पतन हुआ है और तू अपने सच्चे लक्ष्य (प्रभु) से विमुख हो गया है। अतः विषय सुख भोग के विपथगामी रथ से उतरकर हे मन, तू शरण का उपकरण, उपयुक्त साधन (यंत्र) बन जा। शरण का उपयुक्त साधन

बनने के लिए मन को विषय लिप्सा और अहंकार की भावना का त्याग कर विनीत भाव से प्रभु का और एकमात्र प्रभु का हो जाना होगा। दूसरे पद में वे मन को डराते हुए कहते हैं कि यदि तू प्रभु की शरण में नहीं जायेगा तो तुझे वन्यकारा अर्थात् प्रचण्ड भवसागर में बन्दी बनने का दुःख भोगना पड़ेगा। (यहाँ वन का अर्थ जल लेना चाहिये, जंगल नहीं) यह भी याद रख कि इस दुःख सागर की उत्ताल तरंगें तो तुझे झेलनी ही पड़ेंगी, प्रबल दुःखरूपी वर्षा ऋतु की झड़ियां भी सहनी पड़ेंगी; उस अपार दुःखसागर की मध्य धारा के वेग से तेरा दुर्बल तन टूट कर पराजित हो जायेगा और उस सागर को तैर कर पार करने का तेरा हौसला पस्त हो जायेगा। परिणामस्वरूप उसी दुःखसागर में तुझे डूबना पड़ेगा। यदि तू चाहता है कि इस दुःखसागर को तू पार कर सके तो शरण का उपयुक्त उपकरण बनकर 'भजन कर हरि के चरण मन !'

निराला ने प्रभु से मन लगाने का स्वयं तो प्रयास किया ही है, प्रभु से प्रार्थना भी की है कि हे प्रभु तुम्हारी कृपा से मेरा मन तुमसे लगा रहे। उद्धृत हैं कुछ प्रासंगिक पंक्तियाँ—**'हरि का मन से गुणगान करो / तुम और गुमान करो, न करो**[५०] **लगें तुम से तन-वचन-मन दूर रहे अनंग'**[५१] **सुख का दिन डूबे डूब जाय / तुम से न सहज मन ऊब जाय, खुल जाय न मिली गाँठ मन की.... सारा जग रूठे रूठ जाय'**[५२] अपनी शक्ति को दुर्बल पड़ता देख कर वे विनती करते हैं कि हे प्रभु **'दो सदा सत्संग मुझको, अनृत से पीछा छुटे तन हो अमृत का रंग मुझको'**[५३] **'मानव का मन शांत मरो हे ! / काम, क्रोध, मद, लोभ, दंभ से / जीवन को एकान्त करो हे !**[५४] **'मन का समाहार/करो विश्वाधार'**[५५]

कभी-कभी निराला को लगता था कि उनका मन प्रभु कृपा से प्रभु से लगने लगा है। उन्हें उन क्षणों में जो दिव्य अनुभव हुए उनका चित्रण भी कुछ गीतों में उन्होंने किया है। प्रस्तुत है ऐसा ही एक गीत :

तुमसे लाग लगी जो मन की, जग की हुई वासना बासी।
गंगा की निर्मल धारा की, मिली मुक्ति, मानस की काशी।

प्रभु से मन लगाने का पहला परिणाम है जग की वासना का नाश ! वासनाओं के नष्ट होते ही मन काशी के समान पवित्र हो उठता है। मुक्ति की *गंगा की निर्मल धारा जब उसमें बहने लगती है तो अनायास ही* भक्ति मिल जाती है इसी गीत का दूसरा छन्द है :

हारे सकल कर्म बल खोकर
लौटी माया स्वर से रोकर
खोले नयन आँसुओं धोकर
चेतन परम दिखे अविनाशी।

वासना रहित निर्मल मन जब प्रभु से लगता है तब कर्मों का बल क्षीण हो जाता है। उस स्थिति में किये गये कर्मों में न तो कर्त्तृत्व का अहंकार रहता है, न उनका फल पाने की लालसा ही रहती है। परिणामतः वे कर्म लिप्त ही नहीं होते अर्थात् वे कर्म शरणागत को बाँध नहीं पाते, उससे हार जाते हैं। तब माया जोर जोर से रोकर लौट जाती है। उसका कोई वश शरणागत पर नहीं चलता। प्रेमाश्रुओं के प्रवाह के बाद जब ज्ञान के नेत्र खुलते हैं तो परम अविनाशी चेतन का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है। इस अविनाशी का वर्णन निराला ने इसी गीत के तीसरे बन्द में किया है :

निःस्पृह, निःस्व, निरामय निर्मम,
निराकांक्ष, निर्लेप, निरुद्गम,
निर्भय, निराकार, निःसम, शम,
माया आदि पदों की दासी !

उस परम तत्त्व का निरूपण या तो मौन से हो सकता है या नेतिवाचक शब्दों से ! सबका निषेध कर देने पर जो बचता है वह वही है। याद आ रही है माण्डूक्य उपनिषद् की आत्मा सम्बंधिनी उक्ति :

नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्। अदृश्यं, अव्यवहार्यं, अग्राह्यं, अलक्षणं, अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यं, एकात्मप्रत्ययसारं, प्रपंचोपशमं, शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेयः।[५७]

माया इसी परम तत्त्व की दासी है। अतः इससे जो युक्त हो जाता है, वह माया के क्षेत्र के परे चला जाता है। अरूप के इस परम अनुभव की उपलब्धि निराला रूप के माध्यम से करना चाहते थे। उनकी अद्भुत पंक्ति है, **"रूप के गुण गगन चढ़कर, मिलूँ तुमसे ब्रह्म, मुझको दो सदा सत्संग !'**[५८] 'रूप के गुण गगन चढ़कर' बहुत अर्थगर्भ कथन है। एक ओर इसमें सगुण साकार की ध्वनि है, दूसरी ओर यह संकेत है कि जिस तरह पतंग डोर के सहारे आकाश पर चढ़ती है, उसी तरह राम, कृष्ण, शिव, सूर्य आदि प्रभु के व्यक्त रूप के गुण (डोर) का आश्रय लेकर माया के परे ज्ञान के आकाश में हे ब्रह्म मैं तुम से मिलूँ। यह सतत सत्संग से ही संभव है अतः हे प्रभु तुम मुझे सदा सत्संग दो।

इस ऊँची स्थिति में सृष्टि को देखने की दृष्टि ही बदल जाती है। निराला का अनुभवजन्य निरूपण है :

दुख भी सुख का बन्धु बना—
पहले की बदली रचना।

परम प्रेयसी आज श्रेयसी,
भीति अचानक गीति गेय की,
हेय हुई जो उपादेय थी
कठिन, कमल-कोमल वचना।[५९]

जिसे पहले दुःख समझते थे निराला, अब वह दुःख नहीं रहा। भौतिक कामनाओं का लोप हो जाने के कारण भौतिक अभावजन्य दुःख अब दुःख के स्थान पर सुख के बन्धु बन गये क्योंकि अब मन उन विषय भोगों की ओर आकृष्ट ही नहीं होता। उनका मानसिक परित्याग कर देने पर निराला उनके अभाव को कष्ट का कारण न मानकर सुख का कारण मानने लगे। इस तरह पहले की रचना बदल गयी। जो सृष्टि पहले प्रेयसी थी, प्रेय की ओर आकृष्ट करती थी, अब वह श्रेयसी बन गयी है, परम श्रेयस् तत्त्व की ओर संकेत करने लगी है। कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को समझाते हुए कहा था।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥[६०]

अर्थात् श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं। विवेकी व्यक्ति सम्यक् विचार पूर्वक उन दोनों को पृथक् कर श्रेय को चुनता है और अज्ञानी व्यक्ति योग क्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की और प्राप्त वस्तु के रक्षण की कामना) से परिचालित होने के कारण प्रेय को चुन लेता है। स्पष्ट है कि योग-क्षेम की सांसारिक भावना से ऊपर उठ जाने के कारण निराला अब श्रेय की ओर उन्मुख हैं। इसीलिए सृष्टि उन्हें भोग्या न लगकर स्रष्टा की स्मारिका लगने लगी है, प्रेयसी के स्थान पर श्रेयसी प्रतीत होने लगी है। जो द्वैत जन्य भीति थी (क्योंकि उपनिषदों के अनुसार भय द्वितीय से, अन्य से ही होता है) अब वह अचानक इस परिवर्त्तित मानसिकता में गेय अद्वैत तत्त्व की गीति बन गयी है। जो भोगेच्छा पहले उपादेय (ग्रहणीय) लगती थी, अब वह हेय, त्याज्य हो गयी है। जो वाणी पहले कठिन, कठोर थी, अब वह कमल के सदृश कोमल हो गयी ताकि किसी को भी उससे कष्ट न पहुँचे।

इसी गीत का दूसरा बन्द इस परिवर्त्तन के कारण को स्पष्ट करता है:

ऊँचा स्तर नीचे आया है,
तरु के तल फैली छाया है,
ऊपर उपवन फल लाया है,
छल से छुटकर मन अपना—।

निराला कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हैं कि यह ऊँचा स्तर (शरणागति ग्रहण करने के कारण) उन तक उतर आया है। आखिर विशाल वृक्ष के नीचे पहुँच जाने वाले को घनी दुपहरिया में भी उसके तले की शीतल छाया का सुख सहज सुलभ हो जाता है। यह संभव हो सका क्योंकि अपना मन निश्छल हो गया है, इसीलिए उसे कृतार्थ करने को उपवन फल उठा है।

इस स्थिति में निराला को यदि मृत्यु मधुर लगने लगे तो उसमें आश्चर्यित होने की बात क्या है। निराला के लिए मृत्यु अब भय का कारण नहीं रही क्योंकि वे जान गये हैं कि साधारणजन जिसे मृत्यु या जीवन का अन्त समझते हैं, वह तो प्रभु का स्नेहपूर्ण आमन्त्रण मात्र है। कितनी अद्भुत पंक्ति है : **'मधुर स्वर तुमने बुलाया / छद्म से जो मरण आया।'**[६१] कभी निराला को लगता है कि जगज्जननी ही मृत्यु बन कर आयी है तो वे उसके समक्ष नतमस्तक हो उसी की शरण ग्रहण करने को तत्पर हो जाते हैं :

'चरण पर मस्तक झुकाकर
शरण हूँ, तुम मरण सरिता।
हे जननि तुम तपश्चरिता !'[६२]

कभी-कभी उनको यह भी लगता है कि शरण पाने के लिए कई स्तरों पर मरना भी पड़ता है। क्या एक ही जन्म में हमारे अनेक जन्म नहीं होते ? द्विज संज्ञा दो जन्मों को तो स्वीकार करती ही है। जब साधना में ऊँचे स्तर पर साधक उठता जाता है तो क्या निचले स्तर के लिए वह मर नहीं जाता। निराला डंके की चोट पर कहते हैं :

मरा हूँ हजार मरण / पाई तब चरण शरण ![६३]

अत; उन्हें कभी भयंकर लगने वाली मृत्यु मधुर लगने लगी थी :

मधुर, मधुर, मृत्यु मधुर / सफल जन्म, कम्पित उर ![६४]

क्या यह केवल कवि कल्पना है ? नहीं इसके पीछे गीता की दार्शनिक मान्यता भी है। भगवान् ने दो बार गीता में स्पष्ट रूप से अपने को मृत्यु भी कहा है। 'अमृतंचैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'[६५] (हे अर्जुन ! मैं ही अमृत हूं, मैं ही मृत्यु हूं सत् (व्यक्त) भी मैं हूं और असत् (अव्यक्त, सूक्ष्म) भी मैं ही हूं। फिर उन्होंने कहा, 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'[६६] (मैं ही सर्व संहारकारी मृत्यु हूँ)। जिन भक्तों ने प्रभु के ही एक रूप की तरह मृत्यु को पहचान लिया, उन्हें वह अपनी बाह्य भयावहता में भी मधुर ही लगेगी।

निराला को यह भी लगता है कि जिसके रक्षक राम हों, उसके साथ और सब भी सहज ही जुड़ जाते हैं। लोक धुन में वे गा उठते हैं :

तुम ही हुए रखवाल / तो उसका कौन न होगा ?
फूली फली तरु डाल / तो उसका कौन न होगा ?[६७]

यहीं सहज प्रश्न उठता है, प्रभु हमारी रक्षा करें यानी क्या करें ? शरणागतों की प्रार्थनाओं में रुचि भेद से अपनी रक्षा के लिए की गयी याचनाओं में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता ही है। निराला प्रभु से क्या-क्या पाना चाहते हैं, यह जिज्ञासा उनके इस गीत से काफी हद तक शान्त हो सकती है :

जीवन के मधु से भर दो मन,
गन्धविधुर कर दो नश्वर तन,
मोह मदिर चितवन को चेतन,
आत्मा को प्रकाश से पावन।[६८]

निराला की विवेकयुक्त प्रार्थना है कि हे प्रभु, मेरे मन को जीवन के अमृत से अर्थात् भगवत्प्रेम से भर दो। निराला अपनी इस मानसिकता में मानते थे 'विषय विष बना ज्ञान रहे यह'[६९] अन्यत्र भी उन्होंने कहा है, 'विषय वासना अन्ध'[७०]। विष यदि विषय (भोग) या वासना है तो अमृत निश्चय ही भगवत्प्रेम है। नारद ने भगवद्भक्ति को अमृतस्वरूपा कहा भी है।[७१] इसी तरह वे चाहते हैं कि हे प्रभु तुम मेरे नाशवान शरीर को गन्ध (दुर्गन्ध) से रहित अर्थात् दुर्गुणों से मुक्त कर दो, आसक्ति से दूषित दृष्टि को चेतना की निर्मलता प्रदान करो, मायाग्रस्त कलुषित जीवात्मा को स्वरूप बोध के आलोक से पवित्र कर दो।

अन्धकार के अन्तराल को
दूर करो, तनु आलबाल को
शक्ति सलिल से सींच सींचकर
फेरो अपनी ओर खींचकर।

जीवन में व्याप्त अज्ञान के अन्धकार को हे प्रभु तुम दूर करो। जीवन के बिरवे के छोटे से थाल्हे (आलबाल) को शक्ति के जल से सींचो; इस तरह उस जीवन तरु को परिपुष्ट कर विषयों की ओर आकृष्ट होने की दुर्बलता से मुक्त कर उसका मुँह अपनी ओर फेरो, उसे अपनी ओर खींच लो। प्रभु की ओर उन्मुख होना भी प्रभु कृपा से ही संभव है। इसीलिए भक्त मानते हैं कि भक्ति क्रिया साध्य नहीं, कृपा साध्य है।

जग की दुर्दम बाधाओं से
मुझे बचाओ तुम, नाओं से
जैसे स्रोत भँवर को तरकर
नाविक ले लाते हैं अक्षत

मेरा पथ आलोकित कर दो
प्राणों में नव स्पन्दन भर दो !

हे प्रभु, तुम संसार की प्रबल, प्रचंड बाधाओं से, आन्तरिक और बाह्य रिपुओं से मेरी वैसे ही रक्षा करो, जैसे नाविक अपनी नावों से प्रखर बहाव और उसमें पड़ने वाले आवर्तों को पार कर अपनी नावों को अक्षत रूप से किनारे ले आते हैं। हे प्रभु, मैं अपने जीवन लक्ष्य तक····तुम तक पहुंच सकूँ, इसके लिए मेरे पथ को अपनी कृपा की प्रभा से प्रकाशित कर दो। मेरे प्राणों में नयी धड़कन, नया उत्साह भर दो। शरणागति का मूल आधार है प्रभु की कृपा से प्रभु को प्राप्त करना। इसी भावना के अनुरूप इस कविता में निराला ने दो टूक शब्दों में कहा है, प्रभु तुम्हीं मुझे अपने तक आने की शक्ति भी दो और मैं विपथगामी न हो जाऊँ इसलिए तुम्हीं मुझे अपनी ओर खींच भी लो। यहीं प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच निराला अपने मन को प्रभु और केवल प्रभु में लगा पाये थे ? गीता में प्रभु का स्पष्ट निर्देश है :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।[७२]

अर्थात् मुझ में ही तुम अपना मन लगा दो (रख दो), मुझ में ही अपनी बुद्धि निविष्ट कर दो। तब तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है। यह 'एव' 'ही' की शर्त बड़ी कठिन है। मन प्रभु में बीच-बीच में लगे और फिर दूसरे विषयों की ओर मुड़ जाया करे तो प्रभु में निवास करना प्रभु को प्राप्त कर उनसे अभिन्न हो जाना संभव नहीं होगा। निराला किसी सगुण साकार रूप में पूरी तरह मनोनिवेश नहीं कर सके तो क्या ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मंत्र के अनुरूप उन्होने समस्त जड़ जंगम, चर अचर पदार्थों को एक ही ईश्वर से आच्छादित जान लिया था ? क्या उन्होंने तदनुरूप जीवन जिया था ? निराला और सत्य दोनों के प्रति ईमानदारी बरतने पर इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि उनकी साध तो ऐसी थी किन्तु समुचित साधना के अभाव में उन्हें इसमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी थी।

निराला मूलतः कवि थे। वे गृहस्थ भी थे। संसार के लुभावने आकर्षणों के प्रति, अपने सम्बन्धियों-स्नेहियों के प्रति वे अनुरक्त भी थे। अतः सच यही है कि उनका मन प्रभु और जगत् के उपभोगों के बीच दोलायमान रहता था। उनमें लोकैषणा बहुत प्रबल थी। अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में उन्हें मान्यता प्राप्त हो, उनका यह प्रबल आग्रह उन्हें असन्तुलित बना देता था। आर्थिक कष्टों से भी वे बराबर ग्रस्त रहे, खान-पान में भी वे अतिरेकी रहे। रामकृष्ण मिशन के परिवेश से दूर होने पर अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भक्ति और

शरणागति संस्कार के स्तर पर तो उनके जीवन और काव्य में प्रतिफलित होती रहीं, किन्तु उन्हें सुरक्षित रखकर विकसित करने की विधिवत् साधना की सुरक्षा-प्राचीर न होने के कारण उनका मन विपथगामी भी होता रहा, शरण का निर्भर योग्य उपकरण नहीं बन पाया। तुलसीदास ने मन की इस विभ्रांतता का बहुत मार्मिक चित्रण किया है :

दीन बन्धु, सुख सिन्धु, कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिविध ज्वर करत फिरत बौराई ।।
कबहुँ जोगरत, भोग निरत सठ, हठ बियोग बस होई।
कबहुँ मोह बस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ।।
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत, कबहुँ धरम रत ज्ञानी ।।
कबहुँ देख जग धनमय, रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै ।।[७३]

यदि विरक्त सन्त तुलसीदास का मन कभी-कभी इतना स्वैराचारी हो उठता था तो गृहस्थ निराला के मन के प्रति हमें अधिक सहानुभूति सम्पन्न होना ही चाहिए। तभी हम समझ सकेंगे कि निराला ने शरणागति के इस दौर में भी यह याचना क्यों की थी :

खग को ज्योतिः पुंज प्रात दो,
जग-ठग को प्रेयसी रात दो,
मुझको कविता का प्रपात दो
अविरत मारण-मरण हाथ दो
बँधे परों के उड़ते वर दो ![७४]

लक्षितव्य है कि निराला जग-ठग के लिए प्रेयसी रात भी माँगते हैं और अपने लिए कविता का प्रपात भी। पर माँग वे माँ से ही रहे हैं। बँधे परों की उड़ान ऐसी ही हो सकती है। कितनी ईमानदारी से निराला ने स्वीकारा है :

ठग ठगकर मन को / लूट गये धन को,
ऐसा असमंजस, धिक् / जीवन-यौवन को
निर्भर हूं, वर दो। / सहज-सहज कर दो।[७५]

विषय ठग मन को किस प्रकार ठग लेते हैं, साधना-धन को कैसे लूट लेते हैं, इसका मर्मन्तुद अनुभव निराला को था। कितना कठिन है सहज हो पाना ! सीधी राह पर चलने की कितनी इच्छा थी निराला की, पर कहाँ यह संभव हो पाया। उत्पात और घात उन्हें बार-बार नीचे लाते ही रहे। रोग-भोग से ग्रस्त निराला ने बड़े अफ़सोस से हाथ मलते हुए यही पूछा था, '**जहाँ चिन्मय हैं**

जीवन के क्षण / कहाँ निरामयता संचेतन ?'[७६] जब परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल हों कि जीवन के क्षण ही चिन्त्य हो उठें, भरोसा ही न रहे कि वे रहेंगे भी कि नहीं, वहाँ सम्यक् चेतना से युक्त स्वस्थता की बात सोची भी कैसे जाये !

इस स्तर पर मुझे कहना सिर्फ यही है कि निराला की विवशता की यह पीड़ा भी सत्य है और शरणागति की भावना भी सत्य है, निराला की शरणागति की आकुल-व्याकुल चेष्टा सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकी तो क्या उस चेष्टा को आत्मप्रवंचना कहा जायेगा। ऐसा वे ही कह सकते हैं जिन्हें साधना के 'स' का भी ज्ञान नहीं है। गीता डंके की चोट पर कहती है कि कल्याण मार्ग के पथिक यदि स्खलित भी हो जाते हैं तो भी उनकी साधना नष्ट नहीं होती, उनकी दुर्गति नहीं होती। अगले जन्म में वे फिर वहीं से साधना शुरू करते हैं जहाँ तक पिछले जन्म में वे पहुंचे थे। इस प्रकार प्रयत्नशील योगी जब अनेक जन्मों की अपनी साधना के क्रम में निष्पाप हो जाते हैं तब संसिद्ध होकर परागति को प्राप्त होते हैं :

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।[७७]

निराला इस सत्य को जानते थे, इसीलिए वे अविचलित थे। मौत की आँख से आँख मिलाकर कितनी संयत निष्कम्प वाणी में उन्होंने प्रभु से कहा था :

जय तुम्हारी देख भी ली।
रूप की गुण की रसीली।
वृद्ध हूं मैं, ऋद्धि की क्या,
साधना की, सिद्धि की क्या,
खिल चुका है फूल मेरा
पँखड़ियाँ हो चलीं ढीली ![७८]

निराला इस जन्म में प्रभु के रूप-गुण की जितनी रसीली जय देख सकते थे, देख चुके थे। उन्हें लग रहा था कि उनका अन्तकाल समीप है। शरीर वृद्ध हो चुका है, अब उसके लिए समृद्धि निष्प्रयोजन है। जब साधन रूपी शरीर ही अवश हो जाये तो साधना और सिद्धि की चर्चा से क्या लाभ ? जीवन का फूल जितना खिल सकता था, खिल चुका है, उसकी पँखड़ियाँ ढीली हो गयी हैं, किसी भी समय झड़ जा सकती हैं। उल्लेखनीय यह भी है कि उनकी स्मृति में साधना और सिद्धि अभी तक बसी हुई हैं। इससे उनसे निराला का गहरा सरोकार उजागर होता है। क्या यह भी आत्मप्रवंचना है ?

और उनकी यह अन्तिम कविता। उसके शब्द-शब्द में निहित अटूट आस्था उनकी जीवनव्यापिनी साधना का ही फल है। अपनी स्थिति की निष्कपट विवृति देते हुए निराला ने लिखी थीं ये पंक्तियाँ :

पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है,
आशा का प्रदीप जलता है हृदय कुंज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ्निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र-पुंज में।[७१]

उत्कंठा का एक अर्थ संस्कृत में होता है किसी प्रिय व्यक्ति या वस्तु का लुप्त हो जाना। अतः पत्रोत्कंठित का अर्थ हुआ झरे हुए पत्तों वाला। इन पंक्तियों को लिखते समय निराला समझ चुके थे कि उनके विष दग्ध जीवन में अब कोई नया आरम्भ होनेवाला नहीं है। उनकी शारीरिक शक्ति के साथ-साथ संभावनाओं की पत्तियां भी झर चुकी हैं, उनका जीवन-तरु ठूँठ हो चला है फिर भी उनके हृदय में आशा का प्रदीप जल रहा है, अँधेरे से भरा रास्ता एक आलोक किरण से दिख रहा है, जैसे नक्षत्रों के समूह में दिशा का निर्णय ध्रुव नक्षत्र के द्वारा किया जाता है। किसके लिए जल रहा है यह आशा का प्रदीप, किसका पथ आलोकित कर रहा है यह प्रदीप, हृदय कुंज में किसके पधारने की प्रतीक्षा कर रहे हैं निराला ! इसका रहस्य खुल सकता है यदि शब्दों पर ध्यान दिया जाये। यह मृत्युकाल नहीं है निराला के लिए, लीला का संवरण-समय है। जैसे फूल फलों के रूप में फलकर या बिना फल बने ही पत्तों पर झड़ जाते हैं, वैसे ही निराला का जीवन-फूल झरने वाला है और वे भीष्म की तरह कठिन शर-शैया पर लेटे हुए सिद्ध योगियों या साधारण मानव (?) की तरह उसे देख रहे हैं। यहाँ लीला, सिद्ध योगी जैसे शब्द अनायास नहीं आये है। ये सब साधना से जुड़े हुए शब्द हैं और संकेतित करते हैं कि इस स्थिति में भी निराला प्रभु से मिलने के लिए उत्कंठित हैं, लालायित हैं। वे सिंहावलोकन करते हैं ऋतुओं के माध्यम से अपनी जीवन क्रीड़ा का जो इच्छित फल प्राप्त न कर पाने के कारण अब उन्हें व्रीड़ा……लज्जा-सी लग रही है। पर फिर भी वे निराश नहीं हैं, न सही, इस जीवन में अगले जीवन में सही, उनका उद्घोष है '**पुनः सबेरा एक और फेरा है जी का !**'

निराला शरणागति के पथ पर चलते रहे, भटकते रहे, भटक-भटककर पुनः उसी पथ पर आते रहे। बड़ी सच्चाई क्या है भटकना या फिर फिर उसी पथ पर चलने का प्रयास करना ? दृष्टिभेद से निर्णयभेद होगा ही। मुझे तो इस सन्दर्भ में रवीन्द्रनाथ की ही यह बात ठीक लगती है कि हे प्रभु, तुम स्वयं पथिक हो, अतः पथिकों के सहज मित्र हो। मेरी तो मान्यता है कि

तुम्हारे पथ पर चलना ही तुम्हें पाना है। यात्रा का आनन्द गीत जो गाते हैं, वे कंठ तो तुम्हारा ही गीत गाते हैं—

पांथ तुमि पथिक जनेर सखा हे,
पथे चला सेई तो तोमाय पावा।
यात्रा पथेर आनन्द गान जे गाहे,
तारि कंठे तोमारि गान गावा।[80]

---

१. आराधना ६०
२. निराला की साहित्य साधना, द्वितीय खंड पृ० २१४
३. वही पृ० २१४
४. निराला रचनावली (दूसरा खंड) भूमिका पृ० १६
५. श्री रामकृष्ण परमहंस की प्रसिद्ध उक्ति है 'जीवे दया नय शिव ज्ञाने सेवा'
६. निराला रचनावली (दूसरा खंड) भूमिका पृ० १५
७. वही पृ० १६
८. गीतिका-भूमिका पृ० ३
९. अर्चना : सत्योक्ति पृ० क
१०. निराला : आत्महन्ता आस्था पृ० ३४०
११. विनय पत्रिका पद संख्या १३९ की आरंभिक और समापन पंक्तियाँ; इस पूरे पद में सर्व जनहित की भावना से ही प्रार्थना की गयी है।
१२. विनय पत्रिका १४४/१-२
१३. कवितावली ९७/७-८
१४. निराला : आत्महन्ता आस्था पृ० ३३२,३५३
१५. विनय पत्रिका ९४/१२
१६. वही १५०/१२
१७. वही १५०/९
१८. कवितावली ७/९१/४
१९. निराला : आत्महन्ता आस्था पृ० २ (भूमिका)
२०. परिमल : पंचवटी प्रसंग (४) पृ० २५३-५४
२१. वही, पंचवटी प्रसंग (२) पृ० २४२
२२. विनय पत्रिका—१२३/३-४
२३. श्रीरामकृष्ण स्तोत्रम्-२—हिम्न्स ऐंड प्रेयर्स पृ० १५६
२४. परिमल पृ० ३०
२५. वही पृ० ३४

२६. वही पृ० १२१
२७. अनामिका पृ० ११६
२८. अनामिका पृ० ९१
२९. गीतिका (भूमिका) पृ० ६
३०. वही पृ० ४५
३१. वही पृ० ९७
३२. वही पृ० २०
३३. वही पृ० ५७
३४. गीत गुंज पृ० ३९
३५. अणिमा पृ० १४
३६. वेला पृ० ८६
३७. वही पृ० २३
३८. अर्चना ६
३९. गुरु ग्रन्थ साहब सलोक महला ९/५५
४०. अर्चना ७
४१. वही १६
४२. वही ५४
४३. विनय पत्रिका ९४/१
४४. अर्चना पृ० १००
४५. आराधना पृ० १४
४६. वही पृ० २०
४७. वही पृ० ४८
४८. सान्ध्यकाकली पृ० ५४
४९. अर्चना पृष्ठ ७८
५०. अर्चना पृष्ठ ४४
५१. वही पृष्ठ २१
५२. आराधना पृष्ठ २९
५३. अर्चना पृष्ठ २१
५४. वही ४८
५५. आराधना पृष्ठ ४६
५६. वही पृष्ठ ५०
५७. माण्डूक्य उपनिषद्-७
५८. अर्चना पृष्ठ २१
५९. आराधना पृष्ठ ५२
६०. कठोपनिषद् पृष्ठ १/२/२
६१. अर्चना ८३
६२. वही पृष्ठ १०१
६३. आराधना पृष्ठ ६
६४. गीत गुंज पृ० ५३
६५. श्रीमद्भगवद्गीता ९/१९
६६. वही १०/३४
६७. अर्चना ४९
६८. आराधना ८८
६९. वही ३९/४
७०. अर्चना १०/८
७१. नारदीय भक्ति सूत्र ३
७२. श्रीमद्भगवद्गीता १२/८
७३. विनय पत्रिका ८१/१-८
७४. आराधना ८
७५. अर्चना ६०
७६. आराधना ५७
७७. गीता ६/४५
७८. सान्ध्यकाकली पृ० ८२
७९. सान्ध्यकाकली पृ० ८७
८०. पथेरगान, संचयिता पृ० ५२७

—:०:—

निराला और नवगीत

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर

महाप्राण निराला नवगीत के पुरोधा माने जाते है। हिन्दी नवगीत के उद्‌भव और विकास पर विचार करनेवाले समीक्षकों और शोधकर्त्ताओं ने इन्हें इस काव्य-प्रवृति का प्रस्थान-बिन्दु स्वीकार किया है। इसके कुछ कारण हैं। एक बात तो यह कि छायावाद युग के कवियों में निराला सर्वाधिक प्रयोगधर्मी रहे। कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर, छायावाद मुख्यत: गीतिकाव्य था और मुक्तछन्द के प्रथम प्रयोक्ता होने के बावजूद निराला की छवि मूलत: गीत-कवि के रूप में उभरती है। अतएव, इन्होंने गीत-रचना के क्षेत्र में कई तरह के प्रयोग किये। 'नव-गति, नवलय, ताल-छन्द नव' के आकांक्षी होने के कारण इन्होंने अन्य छायावादी कवियों की गीत-सृष्टि से कुछ अलग हटकर, भिन्न प्रकार की रचनाधर्मिता का परिचय दिया और अपनी सर्जनात्मक यात्रा के क्रमश: विकसित चरण में गीत-विहग को नये से नया स्वर प्रदान किया। निराला को नवगीत का पुरोधा अथवा उन्नायक मानने का दूसरा प्रमुख कारण यह है कि छठे दशक में जिन भावगत और शिल्पगत प्रवृत्तियों के नवोन्मेष के कारण, इस काव्यविधा ने पुराने गीतों से अलग हटकर अभिनव रूपाकार ग्रहण किया, उसके बीज निराला के ही गीतों में प्रस्फुटित हुए थे। नवगीत के एक श्रेष्ठ संकलन ''पाँच जोड़ बाँसुरी'' (१९६९ ई०) की भूमिका में इसके सम्पादक डॉ० चन्द्रदेव सिंह ने इस तथ्य की पुष्टि बहुत अच्छे ढंग से की है : 'छायावाद की प्रचलित लीक को अनुपयोगी, अनावश्यक और भावाभिव्यक्ति के मार्ग मे बाधक सिद्ध करते हुए निरालाजी ने अपने परवर्ती गीतों में अनेक ऐसे प्रयोग किये हैं जो शिल्प और छन्द की ही दृष्टि से नहीं; अनुभूति, भाषा और प्रतीक के रूप में भी उन्हीं के पूर्ववर्ती गीतों की तुलना में एकदम अलग, नये एवं विशेष प्रभावशाली लगते हैं। छायावादोत्तर गीतकारों ने निराला के परवर्ती गीतों से प्रेरणा लेकर हिन्दी गीत-विधा को एक नये आकार, एक नये रूप में प्रस्तुत किया।'' 'अनामिका' (१९२३ ई०) और 'परिमल' (१९२९ ई०) के उपरान्त निराला का तीसरा संग्रह 'गीतिका' (१९३६ ई०) गीतिकाव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके कई गीत छायावादी कवियों के प्रचलित ढर्रे से अलग

दिखाई पड़ते हैं। कालान्तर में प्रकाशित 'अणिमा' (१९४३ ई०) 'अर्चना' (१९५० ई०) और 'सांध्यकाकली' (१९६९ ई०) के कई गीतों में तो निराला नवगीत के बहुत निकट आ गये हैं।

कालक्रम की दृष्टि से निराला और नवगीत एक-दूसरे का संस्पर्श करते हुए दिखाई पड़ते हैं। नवगीत का आविर्भाव छठे दशक में हुआ। श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा 'सम्पादित 'गीतांगिनी' नामक संकलन १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ था जिसके मुखपृष्ठ पर नवगीत की संज्ञा का प्रयोग पहली बार किया गया। अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों के बीच से अंकुरित, नये गीत की जो प्रवृत्ति छठे दशक के आरम्भ से ही रूपाकार ग्रहण करने के लिए प्रयत्नशील थी, नवगीत की संज्ञा में उसे एक सटीक नाम मिल गया। यह कालखण्ड निराला के जीवन का अवसान-खण्ड था। हिन्दी गीतिकाव्य को अपने आलोक से दीप्त करनेवाला 'सूर्य' अस्ताचलगामी हो चला था। वे रुग्ण थे किन्तु उनकी सृजनशीलता का स्रोत सूखा नहीं था। वे इस समय जो रचनाएँ कर रहे थे उनमें मानसिक उद्वेग की कतिपय विसंगतियों के बावजूद गीत के अनेक अभिनव आयाम मुखर हो रहे थे। निराला की मृत्यु १९६१ ई० में हुई और जीवन के अन्तिम प्रहर में रचे गये उनके गीतों का संकलन 'सांध्यकाकली' १९६९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके कई गीतों में, नवगीत अपनी विशेषताओं के साथ रूपायित होता दिखाई पड़ता है। अस्तु, निराला को नवगीत का पुरोधा या पितामह मानने का एक कारण यह भी कि वे छायावादोत्तर गीतिकाव्य के उस शीर्षस्थान पर अवस्थित हैं जहाँ से नवगीत की धारा का उत्स फूटता है।

नवगीत को हिन्दी गीतिकाव्य और इसकी प्रयोगधर्मिता को निराला से अलग करके नहीं देखा जा सकता। मध्यकालीन सन्तों और भक्तों की पदावली अथवा भजनावली से एकदम पृथक् होकर प्रगीत या गीतिकाव्य का आविर्भाव छायावाद-युग में हुआ। वैयक्तिकता का ऐसा आलोक, रागात्मकता का ऐसा उन्मेष और लयात्मकता का ऐसा अनुगुंजन हिन्दी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है। बिम्बात्मकता और भाषिक संरचना की दृष्टि से यह काव्य एक अलंकृत संगीत बन गया। उत्तर-छायावाद में इसे जीवन के सहज स्पन्दन से जोड़ने की चेष्टा की गई किन्तु यह सतही भावुकता और निचाट मांसलता की ओर मुड़ गया। प्रयोगवादी कवियों ने स्फुट रूप से इसे नया संस्कार देने की कोशिश अवश्य की किन्तु उनका ध्यान हिन्दी कविता के छन्द को तोड़ने की ओर ही अधिक था। लेकिन, इन्हीं परिस्थितियों में निराला नवगीत की पृष्ठभूमि तैयार करते रहे। जिस प्रकार, छायावादी गीतिकाव्य को हिन्दी

गीतिकाव्य की परम्परा से काटकर नहीं देखा जा सकता, उसी प्रकार हिन्दी नवगीत को निराला के परवर्त्ती गीतों से पृथक करके नहीं आँका जा सकता। निराला जी द्वारा रचित पाँचवें और छठे दशक के उनके गीत, छठे और सातवें दशक में विकसित नवगीत की आरम्भिक कड़ी प्रतीत होते हैं। उत्तर छायावाद युग में कुछ कवियों ने गीत की जिस रोमानी प्रवृत्ति का विकास किया, जिसकी टेर बहुत मुखर और अभिधामूलक थी, वह कवि सम्मेलनी गीतों के तुकाग्रह पूर्ण साँचे में ढल गई। इसमें छायावाद के खण्डहर पर प्रेमवीणा के टूटे हुए तार बजते रहे। इससे गीतिकाव्य के स्वाभाविक विकास की बड़ी क्षति हुई। सौभाग्यवश, हमारे पास निराला जैसा गीतकार था जिसने छाया-वाद और प्रयोगवाद का अतिक्रमण तथा 'उत्तरछायावाद' की उपेक्षा करके हिन्दी गीतिकाव्य के तारतम्य को बनाए रक्खा।

छठे दशक में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का अस्ताचल की ओर महाप्रयाण और नवगीत का आविर्भाव हिन्दी कविता की ऐतिहासिक घटना है। अस्ताचल की ओर उन्मुख सूर्य क्षितिज की रेखाओं में अनूठे रंग भर देता है। निराला ने गीत के कलेवर को इन्द्रधनुषी तूलिका से सँवार दिया। पाँचवें दशक से मध्य १९४६ ई० में प्रकाशित 'अपरा' नामक संकलन से आमुख में साहित्यकार संसद, प्रयाग के मन्त्री की एक 'बात' अनुस्यूत है : "उनकी आत्मा नई दिशा खोजने के लिए सदा से विकल रही है। ····· अतः यदि, उनकी रचनाओं में रंग-रेखाओं का सम-विषम मेला मिले तो आश्चर्य नहीं। एक ओर उनका दर्शन उन रहस्यमय सूक्ष्म तत्त्वों का साथ नहीं छोड़ना चाहता जो युग-युगों का अर्जित अनुभूति-वैभव है और दूसरी ओर उनकी पार्थिवता धरती के उस गुरुत्व से बँधी हुई है जो आज की पहली आवश्यकता है।" छठे-सातवें दशक में नवगीत विधा को स्थापित करने वाले रचनाकारों में यही ललक और कुछ ऐसी ही आनबान दिखाई पड़ती है। उन्होंने गीत-सृजन के लिए नयी दिशा खोजने, छायावादी और उत्तर छाया-वादी गीतिकाव्य की रेखाओं में नये रंग भरने और सम-विषम छन्दों में नयी लय का विन्यास करने का प्रयास किया। उनके गीतों में जहाँ एक ओर प्रेमानुभूति के सूक्ष्म तत्त्वों की व्यंजना हुई, वहीं दूसरी ओर धरती के गुरुत्वा-कर्षण से बँधकर लोकधर्मी चेतना का भी आविर्भाव हुआ। इस दृष्टि से, नव गीत के उन्नायक गीतकार निराला के पथ का अनुसरण करते दिखाई पड़ते हैं। इनमें ठाकुरप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर, उमाकान्त मालवीय, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, ओम प्रभाकर, नईम और माहेश्वर तिवारी इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्व० रमेश रंजक ने 'हिन्दी नवगीत : सन्दर्भ और सार्थकता' नामक ग्रन्थ में संकलित अपने एक लेख में निराला के कुछ गीतों को नवगीत के उत्स के रूप में रेखांकित किया है। उनके कथनानुसार 'प्रेम की गरिमा जो मंचीय गीत-कवियों द्वारा लिजलिजी भावुकता तक उतर आयी थी, उसे उसका खोया हुआ गौरव दिलाने के ख़याल से नवगीत के उत्स ऐसे प्रेमगीतों में तलाश किये जाने लगे जो जीवन के यथार्थ से जुड़े हुए हों। इस क्रम में निराला के कुछ गीतों ने विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया। चुनांचे निराला के उन्हीं गीतों से नये गीत का विकास मानना उचित ठहराया गया जो छायावादी स्वप्निल और काल्पनिक भाव-भंगिमाओं से अपने अस्तित्व का फरक करते हुए जीवन की ठोस और वास्तविक भूमि पर टिके हैं।' इस दृष्टि से निराला के कुछ ऐसे गीतों का विश्लेषण करना सर्वथा प्रासंगिक होगा जिनमें नवगीत की कुछ प्रवृत्तियाँ अंकुरित होती दिखाई पड़ी थीं। छठे दशक में बहुचर्चित एक गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

"बादल रे, जो तड़पे।
अब अँधियारी ही बढ़ती है,
छाया पर छाया चढ़ती है,
प्राणों के घनश्याम गगन से
बूंदों कभी न बरसे।"

इस गीत में अभिव्यक्त रोमानियत की ताजगी और इसके शिल्प की बुनावट द्रष्टव्य है। इसका रोमांस छिछला और लिजलिजा न होकर उस मर्यादा का बोध कराता है जो पूजा-मन्दिर के द्वार तक ले जाती है। पाँचवें दशक के प्रारम्भ में 'अणिमा' में प्रकाशित निराला का एक अन्य गीत यथार्थ-परक रोमानी भावबोध का द्योतन करता है :

"मैं अकेला,
देखता हूं, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।"

इस गीत में जीवन के उत्तरार्द्ध की सात्विक आत्मरति को वाणी मिली है। इसमें अकेलेपन की त्रासद अनुभूति का भी अंकन है किन्तु यह उत्तर-छायावादी विरह-गीतों से एकदम भिन्न है। नवगीत की आरम्भिक उठान में

अनुभूति और अभिव्यक्ति की ताज़गी से संपृक्त प्रेमगीतों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई। निराला ने इस प्रवृत्ति की अगुआई की थी। पाँचवें दशक के अन्त में 'अर्चना' में प्रकाशित उनका यह गीत कई नव-गीत-संकलनों में उद्धृत किया गया है :

> **बांधो न नाव इस ठाँव बन्धु !**
> **पूछेगा सारा गाँव बन्धु !**
> **यह घाट वही जिस पर हँसकर,**
> **वह कभी नहाती थी धँसकर,**
> **आँखें रह जाती थीं फँसकर**
> **कँपते थे दोनों पाँव बन्धु !**
> **वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,**
> **फिर भी अपने में रहती थी,**
> **सबकी सुनती थी, सहती थी**
> **देती थी सबको दांव बन्धु !"**

इस गीत में किसी सरिता में स्नान करती हुई ग्रामबाला का अपूर्व किन्तु मर्यादित चित्रण किया गया है। इससे कवि की सौंदर्यान्वेषी दृष्टि और उसके प्रेमी हृदय का भी परिचय मिलता है। इसकी परिवेशगत ताज़गी और लोक-धर्मी चित्रात्मकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेम की आत्मिक-एकान्तिक अनुभूतियों का अंकन नवगीत में कुछ इसी परिपाटी पर विकसित हुआ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में एक स्थान पर लिखा है कि कविता जब पंडितों की शास्त्रीय प्रणाली में बँधकर निश्चेष्ट होने लगती है तो उसे प्राणपोषक तत्त्व प्राप्त करने के लिए लोकगीतों की ओर उन्मुख होना पड़ता है। छायावाद का अवसान चौथे दशक में हो चुका था। इसका मुख्य कारण यह था कि उसके शिल्प की अलंकृत प्रणाली रूढ़ हो गयी थी। पाँचवें दशक में इसका पिष्ट-पेषण होता रहा। छायावाद के उदात्त रोमानी भावबोध को उत्तरछायावादी कवियों ने बाज़ारू बना दिया। इसके अलंकृत शिल्प को बोधगम्य बनाने की धुन में, कवि सम्मेलनी गीतों ने नष्ट किया। इसी परिप्रेक्ष्य में नवगीत के उन्नायकों ने गीत को नया संस्कार, नयी प्रतिष्ठा देने के लिए उसे लोकधर्मी चेतना से जोड़ना श्रेयस्कर समझा। अतएव, लोकजीवन के चित्र, लोकभाषा के मुहावरे और लोकगीतों की लयात्मकता के मणिकांचन योग से हिन्दी नवगीत की पहली खेप तैयार हुई। बंगाल की शस्यश्यामला भूमि की छाप निराला के मन पर जन्म से ही थी। अपने पैतृक गाँव गढ़ाकोला

(उन्नाव) से भी उनका सम्पर्क बना रहा। छायावाद का ज्वार उतरने पर उनके कवि-मन में लोक-जीवन की छवियाँ उभरने लगीं। 'अर्चना' के 'बाँधो न नाव' शीर्षक जिस गीत को उद्धृत किया जा चुका है, उसमें प्रतिबिम्बित आंचलिकता और लोकधर्मिता स्पष्ट है। फाल्गुनी प्रकृति का सजीव चित्रण करने वाले एक अन्य गीत का दूसरा (अन्तिम) चरण भी द्रष्टव्य है :

"अँट नहीं रही है
आभा फागुन की तन सह नहीं रही है।
पत्तों से लदी डाल, कहीं हरी, कहीं लाल,
कहीं पड़ी है उर में मन्द गन्ध-पुष्प-माल,
पाट-पाट शोभा-श्री पट नहीं रही है
अँट नहीं रही है ॥"

आधुनिक कविता के विकास-क्रम में, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद और नयी कविता की पीठ पर आनेवाले नवगीत में प्रयोगशीलता के तत्त्व यथेष्ट रूप से प्रकट हुए और इसके द्वितीय उत्थान में यथार्थवादी रुझान के गीत भी लिखे गये। छायावादी कवियों में निराला सर्वाधिक प्रयोगधर्मी रहे हैं। उनके परवर्ती गीतों में कथ्य के संगुम्फन, भाषिक संरचना और बिम्ब-विधान के विलक्षण प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। छठे दशक के एक गीत से यह बात और भी स्पष्ट होती है :

"मेरा फूल न कुम्हला पाये।
जल उलीच का, मूल सींचकर
लौटे तुम तरु-तरु के साये ॥
बँधी नाव हिलती है तट से,
लौटीं ग्राम-वधू पनघट से,
लगा चितेरा अपने पट से
कवि के अग्निप्राण उकताये ॥

इस गीत में व्यक्त विचारों की संगति बैठाना सरल नही है किन्तु इसमें भावान्विति का अभाव नहीं। इसमें जो दृश्य-बिम्ब उकेरा गया, है वह निराला की प्रयोगशीलता का अच्छा उदाहरण है।

व्यक्ति के यथार्थ और सामाजिक यथार्थ में कितना अन्तर है? जो व्यक्ति का सत्य होगा, वही समष्टि का सत्य होगा। 'भिक्षुक', 'विधवा', 'वह तोड़ती पत्थर' इत्यादि रचनाओं में निराला ने अपने सामाजिक यथार्थ का मुखर परिचय दिया है। भावात्मक स्वरूप में व्यक्त वैयक्तिक यथार्थ का सटीक उदाहरण इस गीत में ध्वनित होता है :

"स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—'अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन बह गया है।।"

निराला जी के जिन गीतों का सन्दर्भ नये रोमानी भावबोध, लोकधर्मिता, प्रयोगशीलता और यथार्थवादी रुझान के परिप्रेक्ष्य में यहाँ दिया गया है, उनके सृजन-शिल्प पर ध्यान दिए बिना नवगीत के उत्स का अन्वेषण अधूरा रह जायगा। पहली बात तो यह कि ये गीत आकार में छोटे हैं। अन्तिम तुक मिलने तक गीत को अनपेक्षित विस्तार देने की परिपाटी का इनमें अभाव है। दूसरी बात यह कि इनकी छान्दसिक प्रणाली अनुभूति की आन्तरिक लय का अनुसरण करती है। इनकी लयात्मकता, सीधी टेक और छोटी पंक्तियों के कारण लोकगीतों के निकट प्रतीत होती है। कतिपय गीतों में लोकगीतों के सुगम छन्दों का प्रयोग किया है, जो पूरी तरह गेय हैं। नयी अप्रस्तुत योजना, टटके बिम्ब-विधान और अछूती शब्दावली के चयन के कारण भी ये गीत नवगीत की आधारशिला प्रतीत होते हैं। अस्तु, हिन्दी नवगीत की पृष्ठभूमि तैयार करने और इसकी अगुआई की दृष्टि से महाप्राण निराला का योगदान महत्वपूर्ण है।

भावों की मुखर अभिव्यक्ति : निराला के गीत

डा० सुकीर्ति गुप्ता

भारतीय चिन्तन में मुक्ति को अधिक महत्व मिला है। मनीषी उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं। मुक्ति बन्धनहीनता की प्रतीक है। कविता भी व्यक्ति की मुक्तावस्था की ही अभिव्यक्ति है "हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" निराला विचारधारा को आगे बढ़ाते कहते हैं "साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति प्रयास का पता चलता है।"

निराला के गीत इसी भावना के प्रवाह का सहज विकास हैं। निराला की चिन्ता केवल छन्द-मुक्ति की चिन्ता नहीं है, कविता की मुक्ति की चिन्ता है। कविता की मुक्ति भी उस व्यापक अर्थ में जिस अर्थ में वह मनुष्य की मुक्ति के समकक्ष है। छंद मुक्ति पर विचार करते हुए निराला कहते हैं "मुक्त छंद तो वह है, जो छंद की भूमि में रहकर मुक्त है।" अत: निराला की चिन्ता सिर्फ 'बन्धनमय छन्दों की छोटी राह' से निकलने की नहीं थी, कविता को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखने की थी।

"अक्षरों के अनुप्रास से उत्पन्न होने वाली आकांक्षाओं, संतुष्टियों, विस्मयों का संग्रथन लय है।" वस्तुत: भावात्मक वेगों के अनुरूप प्रयुक्त अक्षरों के पीछे संयुक्त भावुकता एक लय ही है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के पीछे एक भावनात्मक संयोजन होता है जिसे आजकल 'अनुभूति की ईमानदारी' कहा जाता है। प्राय: विचारकों ने कविता को सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ माना है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता होती है।

गीत और कविता दोनों स्वतन्त्र विधायें हैं। गीत में लय और स्वर आवश्यक है जबकि कविता में लय तथा छन्द। छन्द वचन और रचना को आकर्षण प्रदान करता है। किन्तु सभी छन्दयुक्त होने पर भी कविता नहीं हो सकती।

संसार की प्राचीन भाषा छन्द में ही सुरक्षित है। गद्य में मनुष्य की तर्कमयी वैचारिक प्रक्रिया रहती है, जबकि कविता में व्यक्ति की आनन्दमयी मनोवृत्ति प्राप्त होती है। इसीलिए कहा जाता है कि गद्य हमारे प्रयोजनों की

भाषा है, पर काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्रेरक है। काव्य का आनंद प्राप्त कर लेने पर ही व्यक्ति प्रयोजनों की संकीर्ण दुनिया से ऊपर उठता है। यदि काव्य में मधुर संगीत का योगदान हो जाए तो व्यक्ति घण्टों ध्यानस्थ होकर स्वर-लहरी में मग्न रह सकता है। संगीत में शब्दों के अर्थ का महत्व नहीं होता, पर चेतना को झकझोरता है, किन्तु भावपूर्ण गीत संगीत की चेतना को गतिमय करता है। सटीक उदाहरण है—

"तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े - बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥"

निराला ने गीतों को गायन के लिए आवश्यक माना है। गीतों में शब्दों के चयन पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने ऐसे शब्दों की शृंखला रखी है जो सहज ही उच्चरित हो सके। खड़ी बोली में कठोर नाद के स्वर 'ण' आदि की ओर संकेत किया है। इनके गीतों में भी कुछ तत्सम शब्द पाए जाते हैं जिनका गायन कठिन है यद्यपि भाव सुन्दर है—

"सखि, बसन्त आया।
भरा हर्ष बन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।"

यहाँ गायन के लिये 'नवोत्कर्ष' शब्द कष्टप्रद है। कुछ और उदाहरण—

"अपने सुख-स्वप्न से खिली
वृन्त की कली।"
"सुख के सारे साज तुम्हारे,
क्षण में अक्षम ही को वारे।"
"अति सुकृत भरे
जो सहज करे,
जल - स्थल - नभ पर
निर्भय विचरे।"

किन्तु तत्सम शब्दों के प्रयोग गीतों में कम होते गये हैं। बाद में गीतों में विशेष रूप से 'अर्चना' 'आराधना' के गीतों में इस तरह के शब्दों का अभाव है। निराला के कविता प्रवाह में खड़ी बोली का ठेठपन उनके गीतों में कोमल मधुर हो उठा। अपने गीतों में स्वर-रचना और शब्द-रचना दोनों के महत्व का ध्यान रखा है—'सुस्वरं सुरसे चैव, मधुरं मधुराक्षर।' यद्यपि स्वर-लिपि उन्होंने नहीं दी है किन्तु शब्दों का नाद सौन्दर्य इस बात की पुष्टि करता है। इसके अनेक उदाहरण हैं—

"नूपुर के सुर मन्द रहे,
जब न चरण स्वच्छन्द रहे।"

□ □ □ □

"बीन की झंकार कैसी,
बस गई मन में हमारी।"

□ □ □ □

"अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा
श्याम तृण पर बैठने को, निरुपमा"

□ □ □ □

"बाँधो न नाव इस पार बन्धु
देखेगा सारा गाँव बन्धु।"

□ □ □ □

"कुछ न हुआ न हो,
मुझे विश्व का सुख श्री
यदि केवल पास तुम रहो।" आदि आदि

छन्द की दृष्टि से निराला के गीतों में विशेष रूप से सममात्रिक सान्त्यानुप्रास, विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास और स्वच्छन्द छन्द प्राप्त होते है। मात्रिक छन्द के प्रयोग की अधिकता के कारण ही निराला गीतों की लय पर विशेष ध्यान देते हैं। अपने कुछ गीतों को उन्होंने ताल विशेष में बाँध कर तालिका द्वारा चित्रित किया है।

लय संतुलन के लिए विशेष अक्षरों को स्वरों के आलाप द्वारा ताल भरने का निर्देश दिया है। लय युक्त स्पन्दन आरोग्य और सहजावस्था की निशानी है। असम स्पन्दन या लय-भंग उद्वेग, परेशानी, दुख के चिह्न हैं। लयमयता कला का या सौंदर्य का एक मूल गुण है। संगीत को शुद्ध लय की मुखर अभिव्यक्ति कहा जाता है। अस्तित्व ही लय है, जिसकी अपार व्यंजना में गीत-काव्य उत्पन्न होता है। निराला के गीत उनकी सगीतात्मक विचारधारा ही हैं। लयात्मकता उनके सम्पूर्ण काव्य के छन्दबद्ध-छन्दमुक्त में दिखाई देती है। यही निराला के कवि-व्यक्तित्व का स्पन्दन है जो उन्हें प्रेरणा और आनन्द देता है। गति और लय की इस अवस्था में हृदय की वासना दब जाती है और "चेतना का उज्ज्वल वरदान" उभर आता है।

काव्य संगीत से गति, छन्द, लय, स्वर का माधुर्य लेकर अपने अन्तस का शृंगार करता है। संक्षेप में, संगीत यदि स्वरों का साहित्य है तो काव्य शब्दों का संगीत। इसीलिए काव्य कला संगीत कला के निकटतम है। संगीत की ध्वनियाँ अपने में पूर्ण होती हैं उनमें भाव व्यंजना की अधिक आवश्यकता नहीं,

किन्तु काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का अर्थ अपने में पूर्ण नहीं होता। यही कारण है कि शब्दों की तीन शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना मानी गई हैं, जो काव्यगत सौन्दर्य में मूलतः सहायक है।

निराला ने अपने गीतों में इन शब्द-शक्तियों का समुचित प्रयोग किया है। गीतों में अभिधा से अधिक लक्षणा और व्यंजना का ही प्राधान्य अधिक है। लक्षणा का सम्बन्ध मानवीकरण अलंकार से भी है। 'प्रिय यामिनी जागी' में लक्षणा के माध्यम से कवि ने यामिनी का मानवीकरण किया है। कविता की सीमा वाच्यार्थ से परे है। शब्द को नया अर्थ केवल लक्षणा से प्राप्त नहीं होता। शब्द का परिवेश भी अर्थ को नया रूप देता है। निराला के काव्य में यह विचलन की प्रक्रिया अधिक प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए 'स्नेह निर्झर बह गया है' की पंक्तियाँ देखिए—

> **"अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा**
> **श्याम तृण पर बैठने को अनुपमा**
> **बह रही है हृदय पर केवल अमा।"**

यहाँ 'तृण' का विशेषण 'श्याम' शब्द है। तृण श्याम नहीं होता किन्तु अंधकार के समय तृण 'श्याम' ही दीखता है। एक उदासीन वातावरण की सृष्टि में यह सहायक होता है।

निराला ने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल शैलीगत बन्धनों को स्वीकार नहीं किया है। यह 'शैलीय विचलन' विविध रूपों में प्राप्त होता है। संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि का भिन्न रूपों में प्रयोग कर उन्होंने अपने गीतों की सम्प्रेषणीयता प्रखर की है। समास रचना में नए यौगिक शब्दों का निर्माण भी किया है। इसी कारण उनके गीतों में अभिव्यक्ति की मितव्ययिता का सुन्दर रूप मिलता है। बड़ी कुशलतापूर्वक 'अर्थ-लय' और 'नाद-लय' का समुचित प्रयोग किया है। उदाहरण है—

> **"सुमन भर न लिए, सखि बसंत गया।**
> **हर्ष - हरण हृदय नहीं निर्दय क्या ?"**

निराला की इस शैलीगत विशेषता के कारण काव्य भाषा को सम्बल प्राप्त हुआ है। कवि ने संस्कारगत रूढ़िवादी अभिजात शैली से मुक्ति दिलाकर नई कविता का मार्ग प्रशस्त किया।

साहित्य स्थूल जगत से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ ही उसके शरीर है और अर्थ द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्र में उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। संगीत इसमें और अधिक योगदान करता है। भाषा में

छंद, झंकार, लोच, वक्रता आवश्यक है जो अर्थ में आवेग भरती है। संगीत का छन्द इस आवेग का सुन्दर वाहन है। अनुप्रास अलंकार भावावेग के, नृत्य का छंद है। गीत में जब एक ही पंक्ति दुहराई जाती है तो भावनात्मक आवेग का अधिक प्रभाव पड़ता है उदाहरण—

"गीत गाने दो मुझे तो,
वेदना को रोकने को।"

"एक अच्छे हारमोनियम की गुंजाइश भी मेरे लिए नहीं हुई। मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती हैं....।" यह कथन संगीत के प्रति निराला का अपरिमित लगाव स्पष्ट करता है। काश, कवि इतना अभावग्रस्त न होता तो उन्होंने भी संगीत के क्षेत्र में अपने गीतों की अमूल्य स्वर लिपि प्रस्तुत की होती। वे अपने गीतों का गायन कभी-कभी सुधी जनों के सम्मुख हारमोनियम पर प्रस्तुत किया करते थे, पर उनके गायन का कोई स्मृति चिह्न आज नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि रवीन्द्रनाथ टैगोर की तरह हिन्दी के साहित्यिक गीत गायन की परम्परा निराला प्रारम्भ कर सकते थे। निराला की रचनाओं में संगीत और काव्य का अभूतपूर्व सम्मिलन है। संगीत की राग-रागनियों और ताल का सम्यक् ज्ञान था। यद्यपि गीतों का गायन किन राग-रागनियों में किया जाए इसके लिए गायक के स्वतंत्र निर्णय को आवश्यक माना है।

कुछ विशेष गीतों के उदाहरण आवश्यक हैं जिनमें कवि ने गीत, राग-रागिनियों के सम्बन्ध में भाव अभिव्यक्त किए हैं—

"स्वर के सुमेरु से झरझर कर
आये हैं शब्दों के शीकर।"
....
"कलरव के गीत सरल शत शत
कहते हैं जिस नव में अविरत
नाद की उसी वीणा से हत
होकर झंकृत हो जीवन-वर॥"
....
कैसे गाते हो? मेरे प्राणों में
आते हो आते हो!"
....
"इमन बजा'
स, रि, ग, म, प, ध, नि सं सजा सजा।"
....

"स्नेह की रागिनी बजी,
देह की सुर बहार पर,
वर विलासिनी सजी
प्रिय के अश्रुहार पर।"

साहित्य और संगीत का सहयोग प्राचीनकाल से चला आ रहा है। साहित्य और संगीत की आराध्य देवी सरस्वती को हम एक साथ ही वीणा धारिणी व पुस्तक धारिणी के रूप में पाते हैं। आदिम वेद 'ऋग्वेद' में संगीत के तत्त्व मिलते हैं। भारतीय संस्कृति के विद्वान साहित्यकार संगीत के कुशल ज्ञाता थे। मान्यता है कि संगीत का आदिम राग, भैरव, भगवान शिव के अघोर मुख से उत्पन्न हुआ और साहित्य की वर्ण माला महादेव के पदचाप से उद्‌भूत हुई। संगीत का नाद सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है। साहित्य और संगीत दोनों का मूल नाद में है, इसका विवरण प्राचीन संगीत-ग्रन्थों में पाया जाता है।

अस्तित्व ही लय है, जिसकी अपार व्यंजना में काव्य उत्पन्न होता है। कार्लायल ने काव्य को "संगीतात्मक विचार" कहा है। "संगीतात्मक, क्योंकि जीवन्त है, और इसीलिए अनिवार्यतः लयात्मक।" लयात्मक छन्द बद्धता सम्पूर्ण सृष्टि में दिखाई देती है। यही जीवन का स्पन्दन रचनाकार को आनन्द देता है। लय में निर्माण करने की क्षमता है। संगीत में भी गायक लय की समान गति में स्वरों का छन्द बनाते हुए नई रचना करता है।

कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि "वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता है, परन्तु जब वह तिरछी भंगिमा में खड़ा होकर गतिशील हो उठता है तो साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी अनेक बातें प्रकाशित करता है।" इस अतिरिक्त वस्तु को या अनुभव को 'रस' की संज्ञा दी गई है। इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। छन्द वाणी के आवेग द्वारा समझने में सहायता करता है। निराला ने अपने गीतों में संवेग को अपनी आन्तरिक स्वर साधना और भावनात्मक अभिव्यक्ति दी है। उनके गीत की विधा में संगीत भावना की सार्वभौमिकता है और लयान्विति, गम्भीर स्वाभाविकता उसके नियामक रूप में दिखाई देती हैं।

निराला के गीतों को स्थूल रूप से ५ भागों में बाँटा जा सकता है। (१) प्रार्थना प्रधान (२) वस्तु प्रधान (३) सौन्दर्य प्रधान (४) भक्ति या अद्वैतवादी दर्शन प्रधान (५) अनुभूति प्रधान।

'वरदे, वीणावादिनी वर दे' प्रार्थना में भी उन्होंने सर्वाङ्गीण नवीन प्रयोग का सार्वजनिक वरदान मां शारदा से माँगा है।

"नव गति नव लय, ताल - छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग - वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे।"

वस्तु प्रधान गीतों में 'सखि वसन्त आया' का उदाहरण दिया जा सकता है। इस गीत में वसन्त ऋतु के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन है। निराला के गीतों में वसन्त ऋतु और वर्षा ऋतु का विशेष रूप से चित्रण प्राप्त होता है। 'रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी' में भाव और शब्द का माधुर्य वर्तमान है। निराला के लिए बादल तो स्वयं उनके व्यक्तित्व का प्रतिरूप ही था। कविता में बादल का वस्तुपरक चित्रण भी है और उसके माध्यम से अपनी ओजपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति भी है। 'बादल राग' शीर्षक में ६ कविताएँ हैं। जिनमें खंड-खंड कर भावनाओं की अभिव्यक्ति है। नादानुकृत शब्द योजना से बादलों के भिन्न-भिन्न रागों का मन्द्र संगीत है। कवि की विचार-धारा बादल से पूर्ण तादात्म्य करती है। कहीं बादल राग से विप्लवी भावना का आदान, कहीं भारतीय संस्कृति का सत्य प्रकट होता है। "कहीं स्वर का आरोह-अवरोह, आघात-प्रत्याघात, मधुर-मन्द्र राग में उमड़ पड़ा है। बादल का कही कठोर रूप, कहीं क्रीड़ारत नयन रंजन श्याम छवि अंकित है। कहीं वज्र हुंकार का पारावार प्लावित है।" कुछ गीत बहुत सुन्दर हैं।

"घन गर्जन से भर दो बन
तरु - तरु पादप - पादप - तन।"

शृंगार और प्रेम से सम्बन्धित निराला के कुछ गीत तो हिन्दी साहित्य को विशिष्ट उपलब्धि है।

"वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बंद कर पाँखें।"

"कुछ न हुआ न हो, मुझे विश्व का सुख श्री।" "बाँधो न नाव इस ठाँव-बन्धु।" ये महत्वपूर्ण गीत हैं।

कुछ गीतों में प्रेम की सीधी अभिव्यक्ति है—

"आँख लगायी
तुमसे जबसे, हमने चैन न पायी।"
....

"अट नहीं रही है
आभा फागुन की तन
सट नहीं रही है।"
....

"यह जी न भरा तुमसे मेरा,
फिर-फिर तृष्णा ने आ घेरा।"

निराला के गीतों में सूक्ष्म और स्थूल भाव का अद्भुत सम्मिश्रण है। इन्द्रिय परक गीत उनके अनुभव के सोपान हैं जिनकी परिणति अन्त में दिव्य प्रेम में होती है। भवानी प्रसाद मिश्र का कथन है कि "कविता किसी अनुभव की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि अनुभव करने की एक प्रक्रिया है।" मनुष्य कार्य-कारण की श्रृंखला खोजता है। काव्यजन्य अनुभूति इस बात का पक्का प्रमाण है। निराला के गीत उनके काव्य जीवन की प्रगति में सहायक है, आत्म मंथन करते हुए कर्म के प्रति सचेत करते हैं। गति और अगति, मुक्ति और अवरोध, आनन्द और पीड़ा सबका सामंजस्य निराला के गीतों मे मिलता है।

निराला का झुकाव आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिंतन की ओर प्रारम्भ से ही था। वैदिक काल से लेकर आज तक की भक्ति सम्बन्धी सुदीर्घ परम्परा से निराला का निकट परिचय था। भक्ति धारा की वैचारिक और भावात्मक भूमिका का व्यापक प्रभाव निराला की भक्तिपरक रचनाओं पर पड़ा है। भौतिक जीवन का दुर्दम सघर्ष और उसकी पीड़ा उन्हें संशयशील और आस्थारहित कर देती है, पर वे इस आत्मजर्जरता से शीघ्र छुटकारा पा लेते हैं और एक भक्त की तन्मयता में भाव-विभोर हो जाते है। उनकी बाद की रचनाओं मे तर्करहित आस्था तीव्र हो गई है। एक सच्चे भक्त की तरह निराला भी शरणागति को प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं—

"उन चरणों में दो मुझे शरण
इस जीवन का करो मरण।"

....

"अशरण - शरण राम,
काम के छवि - धाम।"

निराला की मृत्यु कामना सामान्य नहीं है। यह हृदय के निर्वाण की अवस्था है जिसमें करुणामय लोक संग्रह का आधार और कर्म की प्रेरणा है। प्रथम काव्य संग्रह 'अनामिका' से लेकर अंतिम काव्य संग्रह 'साध्य काकली' तक भक्तिभाव की श्रृंखला प्राप्त होती है। 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में भक्ति-भाव की रचनाएँ नहीं हैं।

गीत अनुभूति के प्रतीक चित्र होते हैं। अभिधामूलक अभिव्यंजना के स्थान पर सांकेतिकता की सबसे अधिक आवश्यकता गीत मे होती है। इनमें छोटी-छोटी मानसिक प्रतिक्रियाओं की तीखी अनुभूतियाँ होती हैं। निराला

के गीतों में भावना की सूक्ष्म अनुभूतियों की प्रखर अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए देखिए—

मेरे प्राणों में आओ !
शत शत, शिथिल, भावनाओं के
उर के तार सजा जाओ !
गाने दो प्रिय, मुझे भूलकर
अपनापन - अपार जग सुन्दर
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती जल नित बरसाओ।"

....

"तुम्ही गाती हो अपना गान,
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।"

....

"तुम्हें ही चाहा सौ - सौ बार,
कण्ठ की तुम्ही रहीं स्वर - हार।"

'परिमल' में जिन भावनाओं का बीज रोपा था उस शैली का विकास होता गया। कवि की मूल भावनाओं का विकास 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में है। सुधाकर पांडे के अनुसार—'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में भावना की जिस तन्मयता का दर्शन होता है वह आधुनिक हिन्दी गीतकारों में गम्भीरता की दृष्टि से किसी भी कवि में नहीं मिला।" ध्वनि, गति, ताल, लय और स्वर की शास्त्रीय साधना में अर्चना, आराधना तथा गीतगुंज के गीत गीतिका से आगे हैं। गीतिका में कवित्व अधिक है जबकि इनमें तन्मयता अधिक है। गीतिका के गीतों को स्वयं निराला ने भी कठिन बताया है। किन्तु अर्चना, आराधना एवं गीतगुंज के गीतों में नैसर्गिक गेय गुण है। इनमें समास शैली भी परिष्कृत रूप में प्राप्त होती है।

गीतिका की भूमिका में निराला ने कबीर और सूर की गीतात्मकता की तुलना की है। कबीर के गीत उनके आदर्श नहीं हैं बल्कि सूर और मीरा के गीतों की रचनात्मकता और उनकी अनुभूति क्षमता उन्हें अधिक सार्थक लगी है। संगीत को गीतों में महत्व दिया है किन्तु यहाँ भी शास्त्रीय बन्धन को स्वीकार नहीं किया है। समपर आने के हाव-भाव पर गवैयों पर कटु व्यंग्य किया है। भूमिका से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य की शब्दावली और उसके उच्चारण को संगीत से अधिक महत्व दिया है। गीत के छन्दों को विभिन्न तालों द्वारा निर्देशित करते तालिका भी प्रस्तुत की है।

निराला के अनेक गीतों में विराट् सत्य का दर्शन भी है, जो लोक-जीवन के उन चित्रों का है जहाँ सावन का हरा-भरा वैभव ही नहीं है अपितु हरी ज्वार की परियाँ, 'अरहर' फैली उड़द मूँग के पात का भी चित्रण किया है। इनमें कवि के सीधे सादे सरल उद्‌गार प्राप्त होते हैं जिनमें 'नव गीत' के बीज अंकुरित हैं। गीति-काव्य पर 'आत्मपरक', 'व्यक्तिनिष्ठ' होने का आरोप लगाया जाता है। पर मुक्तिबोध ने इसका खंडन करते हुए कहा है—'यह धारणा गलत है कि आत्मपरक काव्य व्यक्तिवादी काव्य है। भारतीय संस्कृति द्वारा विकसित की गई परम्पराओं में एक परम्परा आत्मपरक काव्य की है। आत्मपरक काव्य में प्रगतिशील जीवन-मूल्य भी प्रकट होते हैं और होते रहते हैं।'

निराला के प्राय: दो दर्जन नवगीत उनकी शुद्ध जनवादी भावना के प्रतिरूप हैं। प्रथम नवगीत-संकलन 'गीतांगिनी' में सम्मिलित 'निराला' का यह गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ—

"मानव जहाँ बैल - घोड़ा है,
कैसा तन - मन का जोड़ा है।"

सामाजिक विकास के प्रसंग में मानवीय वैषम्य का मार्मिक चित्रण है। इसी भाव-भूमि पर एक और गीत है—

"ऊँट बैल का साथ हुआ है,
कुत्ता पकड़े हुए जुआ है।"

कुछ नवगीतों में लोकगीतात्मक सौंदर्य-बोध है। चौमासे की पृष्ठभूमि पर नवगीत है, परम्परागत छन्द भी नवीनता लिए प्रस्तुत है—

"फिर भरा भादों, धरा भींगी, नदी उफनायी हुई,
री, पड़ी जी की, प्राण पी की सुधि न जो आई हुई।"

....

"छाये काले-काले बादल, न आये वीर जवाहर लाल।"

इन जनबोधी गीतों में लोक-सम्पृक्त, आंचलिक परिवेश और स्थानीय रंग का सुन्दर समन्वय है।

निराला के गीतों में विषय और शैली की विविधता है। सब तरह की विषय वस्तुओं पर कविताएँ लिखी हैं। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने निराला को 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' कहा है। यह रूप और बनावट की विविधता के लिए है। वस्तुत: निराला ने कविता की मुक्ति गीत में ही खोजना उचित समझा है।[1]

चेतना और बाह्य सत्ता का द्वन्द्व

श्रीनिवास शर्मा

निराला की कविता का पाट विस्तृत तथा गहरा है। उनके काव्य मे हिमालय की ऊँचाई और सागर का विस्तार है। ऊँचाई और विस्तार के बीच का फ़ासला सपाट न होकर तिर्यक है। कविता की जमीन ऊबड़-खाबड़ तथा प्रकृति द्वन्द्वात्मक है।

निराला का सृजन-काल भारतीय स्वाधीनता संग्राम के काल से आरम्भ होकर चौथे-पांचवें दशक तक चलता है। तत्कालीन भारतीय समाज, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, संस्कृति से सम्बन्धित सवालों का चित्रण उनके काव्य-साहित्य में व्यापक फलक पर हुआ है। विषय और भावों की विविधता छायावाद के किसी भी अन्य कवि में निराला की तरह नहीं है।

बड़ा रचनाकार बनी बनायी लीक पर नहीं चलता। अपनी लीक बनाता है। जरूरत पड़ने पर उसे मिटा देता है। कोई भी वस्तु जड, स्थिर नही होती। समाज, जीवन, मूल्य सभी गति के अधीन हैं। गतिशीलता की प्रकृति द्वन्द्वात्मक होती है। निराला बार-बार अपने को तोड़ते हैं, अपनी बनायी लीक मिटाते हैं तथा इस क्रम में स्वयं को अतिक्रमित करते हैं।

यातना, करुणा, शक्ति, संघर्ष उनकी कविता के केन्द्रीय भाव हैं। यातना दृष्टि देती है, करुणा संवेदना का विस्तार है। वेदना यथार्थवाद का केन्द्रीय भाव है। रचनाकार यातना में ही द्रष्टा होता है। निराला स्रष्टा और द्रष्टा दोनों हैं। वे बुतशिकन है, बुतपरस्त नहीं, रूढ़ि भंजक हैं, रूढ़ि पूजक नही। निराला का यथार्थवाद किताबी, सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक तथा गतिशील है। निराला क्रान्तिकारी यथार्थवाद के कवि हैं। उनकी दृष्टि सत्यदर्शी तथा सत्यान्वेषी है। रहस्यवादी, दार्शनिक कवियों की भाँति निराला कविताओं में सपनों का जाल नहीं बुनते। यथार्थ पर पड़े असत्य के आवरण को परत-दर-परत उघारते चलते हैं।

यथार्थवादी चिन्ताधारा के एक छोर पर प्रेमचन्द हैं और दूसरे छोर पर निराला। प्रेमचन्द ने 'जमाना' में लिखा था—"आने वाला ज़माना किसानों-मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है।" निराला ने वर्ण आदर्श की नैतिकता पर चोट करते हुए लिखा था "तुम से कुछ न होगा,

भारत का उद्धार शूद्र जातियां ही करेंगी।" तथा "शूद्र शक्तियों से यथार्थ भारतीयता की किरणें फूटेंगी। वे ही भविष्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, और ब्राह्मण आदि जातियाँ शूद्र। खुदाई सजा ऐसी ही होती है। चिर-काल तक लड़ कर ब्राह्मण-क्षत्रिय पस्त हो गए हैं। उनका कार्य अब वे जातियाँ करेंगी जो अब तक सेवा करती आयी है।" प्रेमचन्द और निराला दोनों की दृष्टियाँ भविष्योन्मुखी हैं।

बाह्य जगत की सत्ता से निरन्तर द्वन्द्व आधुनिक हिन्दी साहित्य की विशेषता है। निराला के काव्य-साहित्य में चेतना और बाह्य सत्ता के बीच द्वन्द्व का सातत्य है। यह द्वन्द्व द्विस्तरीय है—बाह्य तथा आंतरिक। निराला का आत्म संघर्ष मुक्ति के द्वार खोलता है। आत्म संघर्ष वस्तु जगत के संघर्षों के साथ एकाकार हो उठा है उनकी कविताओं में। छायावादी काव्य काफी हद तक रोमानी था। बाह्य सत्ता से छायावादी कवियों का सरोकार कम था। प्रसाद में इतिहास और संस्कृति बोध था। प्रसादजी अतीतोन्मुखी थे। पंत-काव्य की भावभूमि रोमांटिक, सौन्दर्यात्मक थी। महादेवी की पीड़ा आत्म केन्द्रित और ओढ़ी हुई थी। महादेवी को पीड़ा की खोज है। ('पीड़ा में तुमको ढूंढा, तुममें ढूढूंगी पीड़ा')। निराला काव्य-साहित्य की कई भाव भूमियां है। एक साथ कई संसार उभरते हैं उनकी कविताओं में। निराला वेदना के कवि है। उनका यथार्थवाद दार्शनिक दृष्टि से विकासवाद में विश्वास करता है।

निराला जीवन के प्रत्यक्ष संघर्ष में शामिल थे। अनुभवों, विचारों की धारदार अभिव्यक्ति जीवन-संघर्षों में ही संभव है। संघर्ष, यातना निराला के जीवन का अनिवार्य पहलू है। संघर्षशील रचनाकार ज्ञानात्मक, संवेदनात्मक स्तर पर स्थितियों-परिस्थितियों को महसूस करता है। मानवीय तड़पन, जातीय उत्पीड़न, सामाजिक वैषम्य, सामंती शोषण निराला की कविताओं को रचनात्मक नेतृत्व प्रदान करता है।

मिथक निराला की कविताओं का स्रोत ही नहीं, आधार भी है। वे चिन्तक व दार्शनिक कवि हैं। उनकी रचनादृष्टि रहस्यदर्शी दार्शनिक रचना-कारों से सीधे टक्कर लेती है। निराला एक ऐसे वस्तुपरक संसार का निर्माण चाहते हैं, जिसमें मनुष्य 'जिन्स' न होकर श्रम सम्पदा का वास्तविक हक़दार हो।

परिवेश और लेखक का रिश्ता द्वन्द्वात्मक होता है। परन्तु सभी लेखक एक जैसे नहीं होते। परिवेश का प्रभाव लेखकों की मानसिकता और जीवन-दृष्टि के अनुरूप पड़ता है। लेखक तीन प्रकार के होते हैं—१. यथास्थितिवादी, २. पलायनवादी ३. विद्रोही। निराला विद्रोही कवि हैं। प्रतिरोध कविता का मूल स्वर है। प्रतिरोध और संघर्ष कविता के बीजभाव हैं। उनकी

कविताएँ जीवन से मुठभेड़ करती हैं। कठोर जीवन यथार्थ निराला के चिन्तन को क्रान्तिकारी, यथार्थवादी संदर्भों से जोड़ता रहा है। प्रकृति-वर्णन में भी आधुनिक जीवन-यथार्थ के दबावों को लक्षित किया जा सकता है। उत्तरार्द्ध की कविताएँ साक्ष्य हैं।

संस्कृति, परम्परा, इतिहास, समाज के प्रति निराला का रुख द्वन्द्ववादी है। आधार और अधिरचना के अन्तर्विरोधों का तल्ख़ और तुर्श चित्रण निराला की कविताओं में मिलता है। निराला की इतिहास दृष्टि भारतीय इतिहास, पुराण और कर्मकाण्ड के आतंकों से भयभीत मनुष्य को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य तथा ज्ञान-विज्ञान के आलोक में परंपरा और इतिहास के पुनर्परीक्षण, पुनर्मूल्यांकन पर बल देती है।

भारत में दो प्रक्रियाएँ मुख्य रूप से चलती रही हैं—संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण की। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया भारत में नवीन नहीं है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया भारतीय इतिहास के सभी कालों में, भारत के सभी प्रदेशों में कमोबेश गतिशील रही है। वर्ण का आदर्श भारत के सभी प्रदेशों में मिलता है। जाति व्यवस्था का वर्ण आदर्श भारतीय इतिहास में वैदिक काल से आरंभ हुआ था। महाभारत काल तक जातिवाद का वर्ण आदर्श जटिल हो गया था। इसके कई सोपान विकसित हो गये थे। निराला ने पहली चोट वर्ण आदर्शों की इसी अवधारणा पर की थी। उनका स्पष्ट मत था कि सवर्णों की भूमिका इतिहास में समाप्त हो चुकी है। आने वाले समय में सवर्णों की भूमिका प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी होगी। और इतिहास प्रतिक्रियावादियों का साथ नहीं देता।

सवर्णों की निर्मलता और जातीय अहमन्यता पर प्रहार करते हुए निराला प्रश्न करते हैं—'क्या तुम निर्मल, वही अपावन'? 'स्फटिक शिला' में निराला की पंक्तियां हैं—

> **"मैंने देखा, बड़ा मैला**
> **मन उसका समाज से**
> **चोट खायी हुई वह रामजी के राज से**
> **शूद्रों को मिला नहीं**
> **जिनसे कुछ भी नहीं।"**

हिन्दी साहित्य के इतिहास में निराला गोस्वामी तुलसीदास के बाद सबसे बड़े तथा युगान्तरकारी कवि माने गये हैं। निराला तुलसी से अधिक क्रान्तिकारी हैं। तुलसीदास वर्णाश्रमी नैतिकता के क़ायल थे, जबकि कबीर उनसे काफी पहले ही वर्णाश्रमी समाज की नैतिकता पर आघात कर चुके थे। भक्त

कवियों ने आध्यात्मिकता के स्तर पर जातिगत भेदभाव को नकारा था ; लौकिक व्यवहारों में नहीं। भेदभाव का विचार किसी न किसी रूप में सभी धर्मों में है, परन्तु हिन्दू धर्म में अमानवीयता के स्तर तक पहुंच गया है। यही कारण है कि 'भिखारी', 'महंगू महंगा रहा', 'झींगुर डट कर बोला' 'वह तोड़ती पत्थर,' 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताओं तथा 'देवी', 'चतुरी चमार', 'कुल्ली भाट' जैसी कृतियों में उन्होंने दलितों, उपेक्षितों, शोषितों का ज़ोरदार पक्ष लिया है।

ब्राह्मणों की जातीय अहमन्यता पर निराला 'सरोज स्मृति' में व्यंग्य करते हैं।—

"ये कान्यकुब्ज-कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद
इनके कर कन्या अर्थ-खेद
इस विषय-बेलि में विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल नहीं सुजल"

अंग्रेजी राज के फलस्वरूप भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति मिली थी। स्वाधीनोत्तर भारत में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई थी। संस्कृतिकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं में गुणात्मक अंतर था। एक का संबंध भारतीयता से था, दूसरे का पश्चिम से। संस्कृतिकरण के प्रयास निचले तबकों को छू नहीं पाये थे। आधुनिकीकरण देश और समाज को प्रभावित कर रहा था। पश्चिमीकरण साम्राज्यवादी अभियान था, आधुनिकीकरण का सम्बन्ध विज्ञान, तकनीक के आलोक में समाज को आधुनिक बनाना था। निराला पश्चिमीकरण और संस्कृतिकरण दोनों के विरुद्ध लड़ रहे थे। संस्कृतिकरण में समाज व्यवस्था को बदलने की गुंजाइश थी। परन्तु सामंतीय प्रभाव बाधक थे। संस्कृतिकरण के पुरोधा उच्च वर्ग के थे। वे सामंतीय मूल्यों के क़ायल थे। सामंतवाद ऊपरी स्तर का परिवर्तन तो स्वीकारता है, पर बुनियादी परिवर्तनों से कतराता है। संस्कृतिकरण और आधुनिकीकरण का सम्बन्ध (भारत के संदर्भ में) आज भी द्वन्द्वपूर्ण है।

निराला आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में समाजार्थिक, सांस्कृतिक बदलाव चाहते थे। जाति-पाँति, वर्ण-आदर्श, वर्ग, आर्थिक विषमता निराला की दृष्टि में आधुनिक भारत में बाधक थे। हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था वाले वर्ण आदर्श को वे अभिशाप और मनुष्यता का कलंक मानते थे। सामाजिक रूढ़ियों, कर्मकाण्डी पाखंड पर प्रहार हेतु उन्होंने बहुत बार व्यक्तिगत स्तर पर ऐसे भी कार्य किये थे जो कुलीन वर्ग की दृष्टि में अवांछित, अनैतिक थे। उद्देश्य नैतिकता के सामंती स्तूपों का ध्वंस था। उनके काव्य-साहित्य का

एक पक्ष अद्वैतवादी दर्शन है तो दूसरा पक्ष सनातन रूढ़िमय धर्म के विरोध से सम्बन्धित है। लिखते हैं—"हम साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सब में व्यक्त अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई, स्वतंत्र किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन, जन्मदात्री सर्वशाखाओं की तरह अगणित प्रसाद से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिरकमनीय है।"

भावी समाजार्थिक, सांस्कृतिक रूपांतरण में दलितों, उपेक्षितों की महत्वपूर्ण कारक भूमिका से निराला अनभिज्ञ नहीं थे। उनकी सचेत इतिहास दृष्टि में सवर्णों की भूमिका समाप्त हो चुकी थी। आधुनिक भारत के निर्माण में सवर्णों की भूमिका नकारात्मक तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध हो रही है। सवर्ण स्वयं के अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हैं।

निराला धार्मिक पाखण्डों, सामंती मान्यताओं पर प्रहार से नहीं चूकते। 'बिल्लेसुर बकरिहा' में बिल्लेसुर के माध्यम से अध विश्वासों, सामंती मूल्यों पर करारी चोट है। 'निरुपमा' का कुमार समाज से लड़ता है। विरोध के सामने घुटना नहीं टेकता। विलायत पास होकर भी शहर में जूता पालिश करता है, परन्तु स्वाभिमान पर आँच नहीं आने देता। बिल्लेसुर और कुमार दोनों के व्यक्तित्व में कहीं न कहीं निराला है।

विवेकानन्द भारतीय नव जागरण की एक प्रमुख सांस्कृतिक कड़ी थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति को नए सिरे से व्याख्यायित किया था। शंकराचार्य से भिन्न स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त की जो व्यावहारिक व्याख्या की थी—निराला अपने को उनके काफी क़रीब पाते थे। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और विवेकानन्द का नव्य वेदान्त, ये दोनों निराला के महत्वपूर्ण सांस्कृतिक अस्त्र थे।

भारतीय दर्शन में 'मोक्ष' की परिकल्पना आध्यात्मिक संदर्भों में है। मोक्ष की यह अवधारणा व्यक्ति केन्द्रित तथा अलौकिक है। बुद्ध दर्शन में संसार दुःखमय तथा शंकर के मत मे 'मायामय' है। भव की माया और लौकिक दुःखों से मोक्ष ही छुटकारा दिला सकता है। मोक्ष भव-बंधन और पुनर्जन्म से मुक्ति का मार्ग है। बुद्ध ने लौकिक दुखों से मुक्ति के लिए कुछ 'आर्य सत्यों' की उद्भावना की थी। उन्होंने मध्यम मार्ग पर बल दिया था। शंकर का दर्शन निवृत्तिमार्गी था। लौकिकता की दृष्टि से 'मोक्ष' की यह अवधारणा अमूर्त है। इससे समाज और संसार का कोई कल्याण संभव नहीं। सामाजिक उत्पीड़न, आर्थिक शोषण, दलितों का दमन जैसे प्रश्नों से जूझने के लिए शंकर के पास समय कहाँ था ? निराला मोक्ष की आध्यात्मिक धारणा

पर चोट करते हैं। उनके काव्य-साहित्य में अमूर्त, वायवी विचारों के लिए कोई स्थान नहीं। मुद्रा की सत्ता पर आधारित समाज के प्रश्न ठोस समाधान की अपेक्षा रखते हैं।

समाज में रहकर समाज-निरपेक्षता की बात निराला की दृष्टि में बौद्धिक मक्कारी है। परंपरा, संस्कृति, धर्म, भाग्य, कर्मफल के नाम पर बहुसंख्यकों को उपेक्षित और पराधीन बनाए रखने की कोशिश एक साज़िश है। निराला सत्ता और सामाजिक संरचना के उस मायावादी स्वरूप को बार बार चुनौती देते हैं जो वर्ण, वर्ग के नाम पर मनुष्य की हैसियत को छोटा करती है। ऐसा समाज, ऐसी अर्थ व्यवस्था "बन्दीगृह" सदृश है जिसे वे तोड़ने का आह्वान करते है। वे अपने को, सम्पूर्ण भारतीय समाज को उस "बन्दीगृह" में क़ैद पाते हैं। उनकी बेचैनी इस कारा को तोड़ने की है। (संदर्भ, "तोड़ो-तोड़ो कारा" कविता) निराला काव्य-साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक जीवन सामाजिक विसंगतियों, आर्थिक शोषण, वर्गीय उत्पीड़न जैसे लोक जीवन के उत्पीड़क संदर्भों का आईना है।

आधुनिक और समकालीन हिन्दी कविता मुक्तिबोध से अधिक निराला की ऋणी है। निराला और मुक्तिबोध की काव्य चेतना की बनावट और बुनावट भिन्न है। मुक्तिबोध आधुनिक भावबोध के बुद्धिवादी कवि हैं, निराला आधुनिकता के साथ परम्परा और संस्कृति के कवि हैं। निराला काव्य साहित्य में परम्परा, संस्कृति आधुनिकता का द्वन्द्वात्मक चित्रण है। मुक्तिबोध में आधुनिकता का दबाव और तनाव अधिक है, निराला में समाज और संस्कृति का द्वन्द्व।

कोई सांचा, कोई प्रतिमान मनुष्य से बड़ा नहीं होता। साँचा, प्रतिमान मनुष्य के लिए है, मनुष्य साँचे और प्रतिमानों के लिए नहीं। साहित्य, संस्कृति के प्रतिमान जड़ नहीं होते। युग सबसे बड़ी कसौटी है, समय सबसे बड़ा प्रतिमान है। साँचे, प्रतिमान, देश-काल के अनुरूप बदलते हैं। निराला स्वनिर्मित साँचों को तोड़ने से नहीं हिचकते। साँचा तो तोड़ने के लिए ही बनता है। समाज और साँचा का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है। सामाजिक वर्जनाओं, काव्यगत रूढ़ियों को तोड़ने में निराला से अधिक साहस किसी ने नहीं दिखाया।

आततायी समाज व्यवस्था पर निराला बेहिचक प्रहार करते है। मानव-द्रोही समाज व्यवस्था निराला को असह्य है। सामंतवाद और जातिवाद दोनों इतिहास विरोधी तथा अनाधुनिक हैं। निराला को तो अपना ब्राह्मण होना भी खलता है। वर्ण आदर्शों का विरोध उनके यहाँ आजकल के प्रगति-

शीलों, जनवादियों, मार्क्सवादियों की तरह फैशन के स्तर पर केवल सैद्धान्तिक नहीं है। दूधनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'निराला आत्महंता आस्था' में ठीक लिखा है "इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शूद्रों की उनकी यह पक्षधरता महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार की परिकल्पना के प्रभाव स्वरूप उनकी रचनाओं में नहीं आयी है। शूद्रत्व उनकी अपनी व्याख्या है और मात्र छुआछूत का बहिष्कार कर देने से इस जन साधारण को इतिहास में वह स्थान नहीं मिल सकता, जो उसका अधिकार है। इसीलिए निराला की उपेक्षित के उन्नयन की परिकल्पना उनके अपने संस्कारों और जन-सामान्य के प्रति उनकी सहज निष्ठा का प्रतिफल है।" संत रविदास के प्रति उनकी पंक्तियां हैं—

"छुआ पारस भी नहीं तुमने, रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार
चरण छू कर कर रहा मैं नमस्कार।"

वेदना और दुःख निराला के यथार्थवाद का महत्वपूर्ण आयाम है। उनका दुखवाद ओढ़ा हुआ नही है। अपने दुःख से अधिक निराला पर दुःख कातर है—

"देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे
झट उमड़ वेदना आई।"

वर्णभेद भारत के राजनीतिक, समाजार्थिक और सास्कृतिक पराभव का प्रमुख कारण रहा है। डा० अम्बेदकर ने कहीं लिखा है कि युद्धों में भारत की हार का जाति भेद भी महत्वपूर्ण कारक रहा है। युद्धों में आम जनता की सक्रिय भागीदारी का कोई उल्लेख इतिहास मे नही मिलता। सामाजिक उपेक्षा, जातिगत भेदभाव, तटस्थता कारण थी। मेहनतकश, गरीब और उपेक्षित देश की जनता राजनीतिक हलचलों के प्रति उदास, तटस्थ रहती थी। शासक बदलते थे, पर सत्ता का स्वरूप वही रहता था। राजतत्र और सामंतवाद को जनता की गरीबी, उसकी सामाजिक हैसियत से कोई सरोकार न था। मध्ययुग के अधिकाश युद्ध रियासती स्वार्थो के लिए होते थे। कुछ युद्धों के केन्द्र मे तो 'नारी' थी। राजतत्र और सामंतशाही मे जनता का समाजार्थिक, सास्कृतिक स्तर निरंतर गिरता ही चला गया था। स्वाधीनता-पूर्व तथा स्वाधीनोत्तर भारत में भी आम जनता, दलित और उपेक्षित थी। उनकी दशा मे कोई गुणात्मक परिवर्तन नही हो सका था। नेता, व्यवसायी, नौकरशाहों के स्वार्थपूर्ण सम्बन्धो के चलते भारत का बहुसख्यक वर्ग उपेक्षित ही रहा। एशिया का सबसे प्रमुख और होनहार देश होने के नाते भारत के नये राज-

नीतिक मानचित्र, नयी समाजार्थिक संरचना में जनता को जिस सक्रिय हिस्से-दारी की उम्मीदें थीं, वह अधूरी ही रहीं। राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति भले ही हो गयी हो, आर्थिक सत्ता चंद लोगों के हाथों सिमट कर रह गयी। भारत में अंगरेजी राज का सामंतवाद तो अवश्य टूटा, पर भीतर से पूंजीतंत्र का प्रभाव विस्तृत हुआ। फलस्वरूप, स्वाधीनोत्तर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की जनभावना और सद्भावना खण्डित होने लगी थी। आजाद भारत में सामाजार्थिक संरचना की द्वन्द्वात्मकता प्रबल होने लगी थी। इस बात को आचार्य नरेन्द्र देव, सहजानन्द सरस्वती, डा० राममनोहर लोहिया, राहुल, प्रेमचन्द, यशपाल, रेणु और निराला जैसे इतिहास-दृष्टि सम्पन्न रचनाकार बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहे थे।

सांस्कृतिक सचेतनता के साथ ही निराला में प्रखर इतिहास-दृष्टि थी। उनकी इतिहास-दृष्टि वर्तमान तक सीमित न रहकर भविष्योन्मुखी है। उनकी परिकल्पना का समाज वर्ग, वर्ण-विहीन समाज है। भावी भारतीय समाज की ऐसी ठोस परिकल्पना छायावाद के किसी भी कवि में नहीं मिलती।

बहु आयामी चेतना के कवि निराला विभिन्न स्तरों पर संघर्ष करते हैं। नैराश्य, हताशा कविता के संचारी भाव हैं; शक्ति, संघर्ष, विद्रोह, स्थायी भाव। वे भारतीय कविता की उस दूसरी परम्परा के कवि हैं, जो हिन्दी में 'सरहपाद' से आरम्भ होकर कबीर, मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शील, त्रिलोचन से होती हुई प्रगतिशील और जनवादी काव्य धारा में विस्तार पाती है।

संस्कृत में भी समानान्तर दो काव्य परम्पराएँ रही हैं। अभिजात वर्ग की तथा राजतंत्र, सामंती जीवन-मूल्यों के विरोध की। दुर्भाग्यवश आचार्यों, आलोचकों की दृष्टि उन पर नहीं गयी या जान बूझ कर उसे दबाने के प्रयास हुए थे।

नए, क्रान्तिकारी विचारों का विरोध इतिहास में नयी बात नहीं। धारा के विपरीत चलने वाले उपेक्षित हुए हैं, परन्तु उन्होंने नया इतिहास भी रचा है। संस्कृत कविता की दूसरी धारा लोक-धर्मी कविता की है। इसकी चिन-गारियाँ वेदों में भी दर्शनीय हैं। किन्तु पुष्कल रूप में यह विद्याधर के ग्यारहवीं सदी के 'सुभाषित रत्नकोश' और श्रीधरदास के बारहवीं सदी के 'सदुक्तिकर्णामृत' में सुरक्षित है। डा० नामवर सिंह के अनुसार "इस कविता का अपना काव्यशास्त्र भी है। इस धारा के प्रमुख कवि 'योगेश्वर' हैं। योगेश्वर की कविता में कृषक, हलवाहे, खेत-मजदूर, घर-आँगन, गाँव-गिरांव तथा किसानों की आर्थिक विपन्नता का चित्रण है। डा० राधावल्लभ

त्रिपाठी के मतानुसार संस्कृत की इस लोक काव्य धारा में 'घर परिवार' गृहिणी, दाम्पत्य, काम-धन्धों में लगे लोग, किसान-मजदूर, हलवाहे, लाचार बटोही ये सब अपने परिवेश के साथ प्रस्तुत हैं। यह कविता गाँवों में, खेत-खलिहानों में, गली-मुहल्लों में रमती है, यहाँ प्रासाद, सौध, हर्म्य या राजमार्ग का विश्व नहीं है। यहाँ ग्रीष्म अकाल का प्राणान्तक ताप लेकर उपस्थित होता है, वर्षाएँ अगणित विभीषिकाओं और बाधाओं की बाढ़ का उफान लेकर चलती हैं, शीत की बर्फीली हवाएँ असह्य होती हैं। यहाँ अपनी हीनता और भुखमरी से जूझता वह पूरा मनुष्य उठ खड़ा होता है जिसकी आकांक्षायें स्वप्न, संघर्ष मरते नहीं हैं' ('कविता की दूसरी परम्परा'—नामवर सिंह, आलोचना' ८३)। निराला की कविताओं में भी महिषादल (बंगाल) तथा गढ़ाकोला (अवध) के सामंतीय परिवेश का तल्ख भरा चित्रण है। यहाँ भी पत्थर तोड़ने वाली, भिक्षुक, विधवा, कुल्ली भाट, चतुरी चमार, देवी, सरोज स्मृति, कुकुरमुत्ता और बिल्लेसुर बकरिहा हैं। यही वजह है निराला छाया-वाद के होकर भी छायावाद से बाहर हैं, वैसे ही, जैसे मुक्तिबोध नयी कविता के होकर भी उससे बाहर हैं।

निराला वेदान्ती कवि नहीं हैं। उनमे दार्शनिक रचनाकारों की तटस्थता नहीं है। उनकी काव्य-चेतना में वर्ग और वर्ण दृष्टियो का विरोध है। निराला के यहां रचना एक युद्ध कौशल है और भाषा उसका अस्त्र। भाषा का तेवर और मिजाज कथ्य और विषय के अनुरूप बदल जाता है। 'निरुपमा', 'प्रभावती' 'अप्सरा,' 'देवी' 'बिल्लेसुर बकरिहा' की भाषा एक जैसी नहीं। कविता की भाषा बहुरंगी है। 'कुकुरमुत्ता' 'गर्म पकौड़ी,' 'महँगू महंगा रहा' तथा 'जुही की कली', 'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' की भाषिक संरचना के अलग-अलग आयाम है। सौंदर्य बोध और यथार्थ के अलग-अलग चित्र है। ऐतिहासिक रूप से निराला की कविताएँ वस्तुजगत के प्रति सचेत रहते हुए मानव-जीवन की विभिन्न भूमिकाओं से गुजरती हुई काव्य का ऐसा संसार रचती हैं, जिसमें एक ही साथ जीवन के कई अक्स परत दर परत उभरते चले जाते है।

वर्ण विरोधी चेतना निराला काव्य-साहित्य का अन्यतम वैशिष्ट्य है। वर्ण-व्यवस्था की अमानवीयता विद्रोही कवि को विचलित कर देती है। वर्ण-भेद की कठोरता पर निराला खिन्न हैं और रह रह कर उस पर चोट करते हैं। केवल चोट ही नहीं करते, व्यावहारिक स्तर पर उसे तोड़ते भी हैं। भाग्य रेखा को बदलने हेतु उन्होंने पुनर्विवाह नहीं किया था। यज्ञोपवीत उतार फेंका था। चतुरी चमार के लड़के को पढ़ाने के लिए घर लाये थे, अछूत के हाथ

भोजन किया था। भगवान सिंह ने लिखा है—"ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के बावजूद निराला ने ब्राह्मणवाद के प्रति जरा भी मोह नहीं दिखाया। चतुरी चमार के लड़के को पढ़ाना, अछूत का छुआ खाना बहुत क्रान्तिकारी कार्य न लगे, पर वर्णभेद की कठोरता से अभिज्ञ व्यक्ति के लिए निश्चय ही "तेरे लिए छोड़ी, ब्राह्मण की पकायी। मैंने घी की कचौड़ी" जैसे कार्य मूलगामी प्रकृति के नहीं हैं। यहाँ 'ब्राह्मण' और 'घी' दोनों ही आभिजात्य के प्रतीक हैं, जिन्हें सामान्य जन को अपनाने हेतु छोड़ने के लिए निराला आजीवन प्रयासरत रहे। 'कुल्लीभाट' में शूद्रों के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए निराला की प्रतिक्रिया है—"इनकी ओर कभी किसी ने नहीं देखा है। ये पुश्त दर पुश्त सम्मान देकर नतमस्तक ही संसार से चले गये हैं। संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नहीं। ये नहीं कह सकते, हमारे पूर्वज कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणाद थे, रामायण-महाभारत इनकी कृतियाँ हैं, अर्थशास्त्र कामसूत्र इन्होंने लिखे हैं। अशोक, विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन, पृथ्वीराज इनके देश के हैं।" भारतीय इतिहास में वर्ण-व्यवस्था की भूमिका के प्रति निराला की इतिहास दृष्टि अचेत नहीं थी। 'प्रभावती' उपन्यास में, जिसका कथानक पृथ्वीराज और जयचन्द के समय का है, वे देश की दुर्दशा के लिए उच्च वर्ण वालों को दोषी ठहराते हैं। क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने मिलकर नीची जातियों पर जो अत्याचार किए हैं, उसे लक्ष्य करते हुए यमुना कहती है—"क्षत्रियोंमें स्पर्द्धा से दबाने का जो भाव बढ़ा हुआ है, यह उन्हें ही दबाकर नष्ट कर देगा, यह प्राकृतिक सत्य है।·········वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा में बौद्धों पर विजय पाने वाले क्षत्रिय कदापि इस धर्म की रक्षा न कर सकेंगे क्योंकि साधारण जातियाँ इनके तथा ब्राह्मणों के घृणा भावों से पीड़ित हैं। यह आपस में लड़कर क्षीण हो जायेंगे।" भारतीय समाज की विडम्बना रही है कि आधुनिकता, नव जागरण के बावजूद, सामाजिक, सांस्कृतिक स्तूप ध्वस्त न हो सके। सामंतीय अवशेष यथापूर्व कायम है। पश्चिमोत्तर भारत में तो सामंतीय मान्यता और घनीभूत हो गयी है। भारतीय समाज का यह विरोधाभास विश्व-समाजों में विरल है। सिद्धान्त और व्यवहार का यह द्वैध भारतीय समाज का सबसे बड़ा संकट है।

डॉ॰ राजेश्वर सक्सेना ने लिखा है—"आजादी के बाद भारत का इतिहास आजादी के पूर्व के भारत के इतिहास की अपेक्षा अधिक द्वन्द्वपूर्ण, यथार्थ और संघर्षमुखी रहा है।" आजादी के बाद आर्थिक संघर्षों में वर्ग संघर्ष और सामाजिक संबंधों में वर्ण संघर्ष तीव्र हुआ है। परिणामस्वरूप, आर्थिक सत्ता, सामाजिक सत्ता और जन सत्ता के सम्बन्ध तनावपूर्ण हुए हैं। निराला की रचनाएँ

इसका साक्ष्य हैं। निराला के काव्य-साहित्य में मूल्य तथा रचना के अंत: संबंध और अन्तर्विरोधों की पहचान भारतीय समाज संरचना (विशेषकर हिन्दू समाज) और आर्थिक सत्ता के स्वरूप की समझ के बिना असंभव है। निराला चेतन-अवचेतन स्तरों पर भी अपने युगभ्रमों से मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं। सामाजिक यथार्थ के साक्षात्कार हेतु वे सदा बेचैन हैं। यही कारण है कि निराला की कविताएँ कलात्मकता और कलाबाजी का शिकार नहीं होतीं। उनके काव्य को क्रान्तिकारी, यथार्थवाद अथवा द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक यथार्थवाद का काव्य कहा जा सकता है। निराला की कविताएँ अपने समय की विपरीतताओं से टकराती, सामाजिक रूढ़ियों से लड़ती एक भविष्योन्मुखी समाज की परिकल्पना करती हैं। यह समाज द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों पर आधारित न होकर अध्यात्म और भौतिकता के समन्वय पर आश्रित है।

यह कहना कि निराला अराजक, आत्महंता और स्वच्छन्दतावादी थे, ग़लत है। निराला छायावादी संदर्भ में स्वच्छन्दतावादी नहीं हैं। दर्शन और काव्य के स्तर पर भी वे कहीं-बँधते नहीं। उनका कोई सुचिन्तित दर्शन नही प्रतीत होता। नामवर सिंह ने ठीक लिखा है कि निराला का कोई सुसंगत दर्शन नहीं था। उनकी कविता जीवन जगत के अनुभवों, भावबोध पर निर्भर कविता है। फिर भी निराला वाद, प्रतिवाद और संवाद के कवि हैं। उनकी कविताएँ जीवन का प्रतिवाद ही नहीं, जीवन से संवाद भी हैं। अराजकता उनके काव्य-साहित्य का लक्ष्य नहीं। बेशक वे राग के साथ विराग के भी कवि हैं। परन्तु काव्य-साहित्य में कहीं न कहीं संगति भी अवश्य है।

निराला रूसो की तरह प्राकृतिक स्वच्छन्दता, जो कि अंतत: अराजकता में बदल जाती है, का समर्थन नहीं करते। निराला अनुशासन की सीमा में रह कर अनुशासन तोड़ते हैं। छंद की सीमा में रहते हुए उन्होंने छन्दों को तोड़ा था। वे कविता की मुक्ति चाहते है, पर छन्दों के अनुशासन को स्वीकारते हुए। काव्य-रूढ़ियों को हमेशा तोड़ा गया है। निराला ने भी काव्य की रूढ़ियों का विरोध किया था। मात्राओं को वे एक प्रकार का साहित्यिक कर्मकाण्ड मानते थे।

वर्ग और वर्ण का संघर्ष भारतीय समाज का सबसे बड़ा छलावा है। इसीलिए निराला को पूरा समाज 'बन्दीगृह' या कारागार की तरह लगता है। यह ऐसा सामाजिक बंधन है जिसे तोड़ने के लिए निराला मनसा, वाचा, कर्मणा बेचैन हैं। भारत में नया समाज बना ही नहीं। अलबत्ता, अंग्रेजी राज के फलस्वरूप नौकरशाहों, नौकरी पेशा वालों का एक नया वर्ग अवश्य उत्पन्न हुआ। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ठोस सामाजिक परिणाम नहीं निकला।

सत्तावादी राजनीति के चलते सामंतीय मूल्य संस्थाबद्ध अवश्य हो गए। राबर्ट बेल्लाह ने लिखा है—'जहाँ आधुनिकीकरण का अर्थ लक्ष्य निर्धारण प्रक्रिया के अधिक बुद्धि संगत होने के बजाय केवल लक्ष्य प्राप्ति से अधिक प्रभावी होता है वहाँ बड़ी गम्भीर विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।" औद्योगिक विकास के साथ जिस तकनीक का विकास हुआ उसके अपेक्षित दूरगामी परिणाम अनुकूल नहीं निकले। कारण अर्थ व्यवस्था और राजनीति की मिली भगत थी। आधुनिकीकरण सामाजिक असंतुलन का कारण बना। इसने भारतीय समाज के वैमनस्यपूर्ण संबंधों को तीव्र ही किया। निराला भारतीय समाज और जिन्दगी के यथार्थ को समझते थे। वाह्य सत्ता के निरन्तर विकसित हो रहे वैमनस्यपूर्ण सामाजिक रिश्तों के खिलाफ उन्होंने संघर्ष किया। वे वस्तुजगत के धरातल पर खड़े होकर भारतीय संस्कृति के वैमनस्यपूर्ण विपरीतों को धारदार शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे थे। 'सरोज-स्मृति' 'कुकुरमुत्ता' जैसी लम्बी कविताओं में व्यक्तिगत जीवन के साथ ही सामाजिक जीवन की वास्तविकताएँ भी उभरी हैं। साहित्य संस्कृति का ही एक तत्व है जिसका जीवन और जगत से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। "साहित्य चाहे जिस सामाजिक समूह या व्यक्ति के मूर्त्त या अमूर्त्त, निर्गुण या सगुण अनुभवों पर आधारित हो, सच्चा साहित्य कहलाएगा, अगर उसमें वास्तविक अनुभवो पर आधारित विषय, माध्यम एवं अभिव्यक्ति के बीच तालमेल हो।" भाव, विचार और व्यवहार के स्तर पर भी निराला के काव्य-साहित्य में अभिव्यक्ति के बीच तालमेल की यह प्रक्रिया अन्ततः गतिमान रही है। निराला की पैनी दृष्टि अपने समय, समाज, संस्कृति और राजनीति की दुरभिसंधियों पर थी। उन्होंने सांस्कृतिक ह्रास का व्यावहारिक, बुद्धिवादी तथा सामाजिक विषमताओं का मानववादी, न्याय संगत समाधान ढूँढने का प्रयास किया था।

बड़ा रचनाकार केवल अन्धकार का वर्णन कर चुप नहीं बैठ जाता। प्रकाश की किरणें भी बिखेरता है। निराला की रचनात्मक प्रखरता का यह विधायक पक्ष है। उनके भीतर की बेचैनी रचनाओं में "कैटेलिस्टिक वायर" उत्प्रेरक तार का काम करती है। इस बेचैनी का स्वरूप द्वन्द्वात्मक है।

निराला में एक छटपटाहट, बेचैनी है। वे समाज के टूटे-बिखरे तारों में कहीं न कहीं अन्तःसूत्र कायम रखना चाहते हैं। निराला केवल संघर्ष, विद्रोह के कवि नहीं, आशा, विश्वास के कवि हैं। 'राम की शक्तिपूजा' इस दृष्टि से अन्यतम रचना है। निराला का यथार्थ भी आदर्श रहित नहीं हैं। उन्नत भारत, उन्नत भारतीय समाज का सपना निरन्तर उनकी आँखों में कौंधता रहता था। विल्वर मार्शल ने अपनी चर्चित पुस्तक "Beyond Realism and Idealism"

में लिखा है—"*Realism and Idealism are both necessary life-forms of the human reason. In a sense they are intellectual transmutations of the will to life itself.*"

बौद्धिक उन्नयन के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नयन निराला काव्य-साहित्य का लक्ष्य है। उनकी रचनाओं में गतिशीलता, सक्रियता की सतत् निरंतरता है। गति अथवा परिवर्तन को वे जीवन का गीत मानते थे। निराला 'चरैवेति चरैवेति' के पक्षधर हैं। कहीं रुकना नहीं जानते। क्योंकि ठहरना मृत्यु है, चलना जीवन है। ठहरा समाज रुग्ण और जड़ हो जाता है।

निराला के बारे में नामवर सिंह का अभिमत है "और मैं समझता हूं कि निराला का सुसंगत जीवन दर्शन जिसे कहते हैं वह कोई था नहीं। न उन्होंने पूरा मार्क्सवाद अपनाया कभी, न उन्होंने रामकृष्ण और विवेकानन्द को पूरा पूरा अपनाया। इस मामले में दूधनाथ सिंह का मत अराजकतावादी होते हुए भी सही लगता है। कुछ कविताओं में संभव है नव वेदान्त की झलक मिले लेकिन मूलत: उनकी कविता अपने जीवन जगत के अनुभवों, भावबोध पर निर्भर कविता है। वे कभी नहीं किसी से बँधे। बँधे बधाए जीवन दर्शन से कभी नहीं बँधे।"

राजनैतिक, सामाजिक स्तर पर निराला अर्थ केन्द्रित व्यवस्था और वर्ण केन्द्रित समाज के घोर विरोधी हैं। सांस्कृतिक स्तर पर निराला काव्य-साहित्य का सन्देश है कि मनुष्य को नष्ट किया जा सकता है, पराजित नहीं। उसमें फिनिक्स की अदम्य जिजीविषा है, शक्ति, संघर्ष और विप्लव उसका वैशिष्ट्य।

निराला-काव्य के मूल्यांकन की समस्या

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

'निराला' छायावादी काव्यधारा के सर्वाधिक सशक्त, संघर्षशील, स्वातंत्र्यचेता, बहुवस्तुस्पर्शी, प्रातिभ, मर्मी और कला के प्रति सजग कवि हैं। उन्होंने १९२० ई० से कविता लिखना आरम्भ किया था और जीवन के अन्त तक (अक्टूबर १९६१ ई०) इसी साधना में लगे रहे। कविता के अतिरिक्त उन्होंने निबन्ध, आलोचना-जीवनी, कहानी, उपन्यास, तथा रेखाचित्र आदि गद्य-विधाओं की रचना भी समान अधिकार और निपुणता से की है। उनका यह पूरा साहित्य हिन्दी की अमूल्य एवं अक्षय निधि है। 'निराला' और उनका साहित्य एक दूसरे के पर्याय हैं। आधुनिक हिन्दी का शायद ही कोई दूसरा रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से ठीक उसी रूप में सामने आता हो जिस रूप में 'निराला' अपनी सम्पूर्ण विलक्षणता के साथ हमारे सामने आते हैं। हमें खेद है कि हम आज तक 'निराला' के विराट् कवि-व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं कर पाये हैं, इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि हमने आज तक उनके साहित्य को सही सन्दर्भ में नहीं देखा है। उनका कद हर समीक्षक से इतना ऊँचा रहा है कि वह उन्हें समग्रता में देख ही नहीं पाया है। उनकी रचना को उचित सन्दर्भ नहीं दे सका है। उनकी ऊँचाई तक उठने की बजाय अपनी दृष्टि-परिधि के भीतर उन्हें खींचकर फिट करने की कोशिश अधिक हुई है।

मोटे तौर पर निराला-साहित्य की समीक्षा के तीन दौर माने जा सकते हैं। प्रथम दौर निराला की उपेक्षा और विरोध का है। यह उपेक्षा उन्हें बँगला भाषी और हिन्दी-भाषी दोनों क्षेत्रों से प्राप्त हुई। निरालाजी की बँगला भाषा और साहित्य में गहरी पैठ थी वहाँ उनकी उपेक्षा इसलिए हुई कि वे हिन्दी भाषी क्षेत्र के थे। वे बँगला भाषा की कमियों को जानते थे। वे जानते थे कि "जिस भाषा के 'आ'कार का उच्चारण बिलकुल अनार्य है, जिसमें ह्रस्व-दीर्घ का निर्वाह होता ही नहीं, जिसमें युक्ताक्षरों का एक भिन्न उच्चारण होता है, जिसके 'स'कारों और 'न'कारों के भेद सूझते ही नहीं, वह भाषा चाहे जितनी मधुर हो, साहित्यिकों पर उसका जितना भी प्रभाव हो, यह कभी भारत की सर्वमान्य राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती।" वे अपनी बात बँगला-

भाषियों के बीच बिना लाग-लपेट के कहते थे। बंगाल में उनकी उपेक्षा के लिए इतना बहुत था। हिन्दी भाषी क्षेत्र के साहित्यकारों के बीच उनकी उपेक्षा इसलिए हुई कि वे बंगलाभाषी क्षेत्र से यहाँ आ धमके थे। उनकी काव्य चेतना तत्कालीन हिन्दी रचनाकारों की स्थूल नैतिक आग्रहों के दायरे में आबद्ध रचनाशीलता के दायरे से परे और मुक्त थी। 'निराला' आरम्भ से ही प्रयोगधर्मा रचनाकार थे, रूढ़ि-विरोधी थे। उनकी काव्य-प्रतिभा अप्रतिम थी। वे किसी का अनुसरण कर ही नहीं सकते थे। परिणाम यह हुआ कि लम्बी अवधि तक वे हिन्दी-भाषियों के बीच 'आउट साइडर' बने रहे। सन् १९४६ ई० के पूर्व निराला के अध्ययन का कोई संघटित प्रयत्न नहीं हुआ था जबकि इस अवधि तक 'निराला' की 'अनामिका' (१९२३ ई०), 'परिमल' (१९२९ ई०) 'गीतिका' (१९३६ ई०), 'द्वितीय अनामिका' (१९३९ ई०), 'अणिमा' (१९४३ ई०), 'कुकुरमुत्ता' (१९४३ ई०) आदि काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना के उच्चतम शिखर तक पहुंचे हुए 'निराला' के कवि-व्यक्तित्व के आकलन के नाम पर अभी तक 'भारत' में प्रकाशित आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के कुछ लेख, डॉ० रामविलास शर्मा के कुछ स्फुट प्रयत्न और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में प्रकाशित निराला का संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय ही हिन्दी जगत के सामने था। यह ध्यान देने की बात है कि 'निराला' की तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण कविताएँ—'तुलसीदास' (अनामिका में संगृहीत), 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति पूजा' (द्वितीय अनामिका में संगृहीत)—इसी अवधि में प्रकाशित हुई थीं। इन कविताओं के प्रकाशित होने के दस वर्ष बाद 'निराला' की ओर मात्र दो समीक्षकों का ध्यान गया। डॉ० रामविलास शर्मा और बच्चन सिंह। बच्चन सिंह ने उनके क्रांति-कारी व्यक्तित्व को पहचानने की कोशिश की। डॉ० शर्मा की दो सीमायें रही हैं। एक तो वे 'निराला' के इतने निकट थे कि उनके विषय में पूर्णतः तटस्थ रहकर लिख ही नहीं सकते थे। दूसरे उनकी समीक्षा-दृष्टि मार्क्सवादी थी। 'निराला' चाहे जितने बड़े क्रान्तिकारी रहे हों और उनका साहित्य हमारे सामाजिक संगठन की असंगतियों, रूढ़ियों और अन्तर्विरोधों को उजागर करने में चाहे जितना समर्थ हो, यह निर्विवाद है कि उनका विराट् व्यक्तित्व किसी भी 'वाद' की सीमा में बँध नहीं सकता। कुछ भी हो, सन् १९४६-४७ तक आते-आते 'निराला' की उपेक्षा और विरोध का दौर समाप्त हो गया। जनवरी सन् १९४७ की वसंत पंचमी को आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रेरणा से काशी में 'निराला स्वर्ण-जयन्ती समारोह' मनाया गया। इसके बाद से निराला के प्रति श्रद्धा का दौर प्रारम्भ होता है। 'निराला' युगाराध्य हो

जाते हैं। सन् १९४८ में गंगा प्रसाद पाण्डेय की 'महाप्राण निराला' पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें पाण्डेयजी ने 'निराला' के जीवन की ऐसी अनेक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनका ऐतिहासिक महत्व है किन्तु सब मिलाकर इस पुस्तक में मूल्यांकन कम 'निराला' के महिमामय व्यक्तित्व का उद्घाटन अधिक हुआ है। सन् १९५३ मे ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ ने 'निराला' को कलकत्ता में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया। इसमें 'निराला' के कलकत्ता जीवन पर अनेक मूल्यवान संस्मरण हैं किन्तु अभिनन्दन तो अभिनन्दन ही है। सन् १९६१ में 'निराला' दिवंगत हुए। इस अवधि तक 'निराला' के प्रति श्रद्धा स्निग्ध मूल्यांकन का दौर समाप्त हो जाता है।

मूल्यांकन के तीसरे दौर में दो प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आती हैं। एक ओर हरिवंशराय बच्चन, इन्द्रनाथ मदान, विश्वम्भर मानव और स्वयं आचार्य वाजपेयी जैसे आलोचक और रचनाकार निराला के काव्य का अवमूल्यन करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर डॉ० रामरतन भटनागर, डॉ० रामविलास शर्मा, दूधनाथ सिंह और धनञ्जय वर्मा जैसे समीक्षक 'निराला' के कवि-कवित्व के महत्व को पूरी तरह स्वीकार करते हुए अपनी-अपनी धारणा भूमियों के अनुसार उनके काव्य-विकास की व्याख्या करते दिखाई देते हैं। 'निराला' के अवमूल्यन से खीझकर डॉ० रामरतन भटनागर लिखते हैं—"निराला के निधन के बाद एक वर्ष तक वह अतिवादी आशंका के पात्र रहे परन्तु इधर एक वर्ष में जो कुछ आया है वह चिन्ता का विषय भी हो सकता है। 'बच्चन', 'मानव' (विश्वम्भर), मदान (डॉ० इन्द्रनाथ) और स्वयं वाजपेयी जी के द्वारा कवि का नया मूल्यांकन सामने आया है। यह मूल्यांकन हमें किधर ले जा रहा है ? 'बच्चन' ने निराला के व्यक्तित्व को पंत के विरोध में पल्लवित किया है और उनमें कवियों में सौम्य संत पंत के प्रति तीव्र राग द्वेष और पराजित मनोवृत्ति एवं कुण्ठा की प्रतिष्ठा की है। 'मानव' उनमें सामान्यतम मनुष्यों की क्षुद्रतम वृत्तियाँ ही देखते हैं और उनके साहित्य में भाषा, छन्द, भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र में बड़े-बड़े प्रमाद खोज लेते हैं। वह 'निराला' के व्यंग्य-काव्य को खीज मानते है और अंतिम दस वर्षों की रचनाओं को निराला के काव्य-व्यक्तित्व से जोड़ने में हिचकते हैं। डॉ० मदान उनमें आद्यंत विसंगतियाँ विरोध, असंतुलन और दुर्ग्राह्य वैविध्य की स्थापना करते हैं। कठिनाई उनकी यही है कि निराला क्या नहीं हैं और उन्हें कहाँ से पकड़ा जाये। वाजपेयी जी ने उन्हें अपने निबंध में विकास-सूत्रों में बाँधना चाहा है और आठ कविताओं की विशद चर्चा उठाई है। 'बीसवीं शताब्दी' में संकलित निराला सम्बन्धी निबन्ध की कुछ स्थापनाओं से इन नई स्थापनाओं का विरोध पड़ता है और

कवि की कुछ श्रेष्ठतम रचनाएँ पीछे डाल दी जाती हैं। स्थिति बहुत कुछ अराजक हो गयी है। इस अराजक स्थिति से अलग जिन समीक्षकों ने 'निराला' का गम्भीर मूल्यांकन किया है उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि अनेक कारणों से 'निराला' का मूल्यांकन कठिन है। इन आलोचकों की आत्म-स्वीकृतियों के अतिरिक्त इनके निर्णय भी इस बात का अहसास कराते हैं कि निराला का विराट् व्यक्तित्व इनकी धारणाभूमि में पूरी तरह अट नहीं पाया है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार—"निराला की रचना-प्रक्रिया का स्रोत है उनका भावबोध। यह भावबोध उनकी विचारधारा से सम्बद्ध है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब नहीं है। 'निराला' का स्वाधीनता प्रेम उनके साहित्य में अप्रत्याशित नये-नये रूपों में व्यक्त होता है। उनकी आस्था के प्रतीक अनेक हैं, उनका अधिष्ठान एक है। उनकी दार्शनिक मान्यतायें अनेक अन्तर्विरोधों को पार करती हुई नारी और प्रकृति के मोहक चित्रों के साथ साहित्य में व्यक्त होती हैं। नये 'मानवतावाद' के प्रतिष्ठापक 'निराला' के साहित्य में मनुष्य वीर, क्रांतिकारी योद्धा, कवि, निरन्तर संघर्षशील, साथ ही अन्तर्द्वन्द्व, ग्लानि और पराजय से पीड़ित साधारण मनुष्य भी है। निराला सौंदर्य और उल्लास के कवि हैं, दुःख और मृत्यु के भी।" तात्पर्य यह कि 'निराला' ने अपने साहित्य के माध्यम से एक नए मानवतावाद की स्थापना की है जिसमें मनुष्य अपनी शक्ति और दुर्बलता के साथ सहज रूप में विद्यमान है। डॉ० रामरतन भटनागर 'निराला' को मूलतः सांस्कृतिक परम्परा का कवि मानते हैं। उनके अनुसार "निराला सांस्कृतिक परम्परा के कवि हैं और उन्होंने भारतवर्ष की सहस्रों वर्षों की आध्यात्मिक संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण की है।" इस संस्कृति से प्रेरणा लेकर 'निराला' ने अपनी व्यथा को काव्य-साधना का बीजभाव बनाया है। डॉ० भटनागर के अनुसार—"निराला की व्यथा ही उनकी रचनाओं को एका-न्विति देगी। यह व्यथा अध्यात्म, भाषा, सौंदर्यसाधना और व्यक्तित्व के भीतर से संतत्व और निःसंगता की साधना को लेकर है।" दूधनाथ सिंह 'निराला' को एक ऐसे साधक कवि के रूप में देखते हैं जिसने प्रतिक्षण अपने को होम करके अपने काव्य का सृजन किया है। कला के प्रति एकान्त समर्पण ने उन्हें आत्महन्ता बना दिया है। उनके अनुसार—"निराला की हर रचना एक सम्पूर्ण स्वतंत्र जीवन-दृष्टि है। × × उनका काव्य अर्थ-प्रसार से एक सनातन मौन की ओर ले जाता है। डा० धनञ्जय वर्मा के अनुसार—"हम उनके काव्य में एक सांस्कृतिक निष्ठा और महानता की गरिमा देखते हैं और हमारा विश्वास है कि दार्शनिक काव्य की भारतीय परम्परा में उनका स्थान शीर्ष कोटि का है।" उपर्युक्त समीक्षकों के 'निराला' के सम्बन्ध में दिए गए

निष्कर्षात्मक वक्तव्य उनकी अलग-अलग विशेषताओं को प्रकट करने वाले हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि निराला का समग्र काव्य-व्यक्तित्व समीक्षकों की पकड़ से परे है।

कहना न होगा कि निराला-साहित्य के मूल्यांकन में सबसे अधिक श्रम डॉ० राम विलास शर्मा ने किया है। अपनी आत्मकथा में डॉ० शर्मा ने स्वीकार किया है कि निराला की कविताओं की संरचनात्मक जटिलता भी उनके मूल्याङ्कन में बाधा उत्पन्न करती है। वे कहते हैं—"एक और कठिनाई थी निराला की कला के विश्लेषण की। उनकी कला में ऐसी खूबियाँ दिखाई दे रही थीं जिनकी तरफ मेरा ध्यान पहले नहीं गया था। 'राम की शक्ति पूजा' जैसी रचनाओं के भावों का उतार-चढ़ाव, संरचना के मूल तत्त्व, इनका स्थापत्य सौन्दर्य, निराला की चेतना के अनेक स्तर, भावों के स्तर, इन्द्रियबोध के स्तर, विचारों के स्तर ये आपस में कैसे सम्पर्क रखते हैं, कैसे टकराते हैं, कहाँ इनमें सामञ्जस्य है, निराला की सचेत रचना-प्रक्रिया, उनकी सहज स्वतः स्फूर्त उद्भावनाएँ—इन पर लिखने में मुझे काफी परिश्रम करना पड़ा।" प्रश्न यह है कि काफी परिश्रम के बाद 'निराला' की 'विचार धारा', 'भावबोध' और 'कला' का जो मूल्याङ्कन डॉ० शर्मा ने किया है, उससे 'निराला' का वास्तविक रूप हमारे सामने प्रत्यक्ष हो सका है ? इस सम्बन्ध में हम मार्च, १९९३ के 'दस्तावेज' (गोरखपुर) में प्रकाशित श्री महेश्वर सिंह की टिप्पणी प्रस्तुत करना चाहेंगे। श्री महेश्वर सिंह लिखते हैं—"आलोचना की अपनी महिमा और मर्यादा होती है। वह पाठक में साहित्य की परम्परा और परिवेश की पारस्परिकता की समझ विकसित करके ही सार्थक बनती है। डॉ० शर्मा का 'निराला' सम्बन्धी काव्यालोचन यह नहीं कर सका है। डॉ० शर्मा ने निहित प्रयोजनवश तथ्यों को तोड़-मरोड़कर, उनका आधा-अधूरा यादृच्छिक उपयोग कर, उनका उत्पादन कर निराला का भ्रामक रूप पाठकों के समक्ष रखा है।" श्री महेश्वर सिंह ने उपर्युक्त निष्कर्ष निराला की कुछ कविताओ की डॉ० शर्मा द्वारा की गई व्याख्या को उदाहृत करके प्रस्तुत किया है। श्री सिंह का आरोप है कि डॉ० शर्मा ने निराला की कविताओं की भ्रामक व्याख्या करके उनसे मनमाना निष्कर्ष निकाल लिया है। श्री महेश्वर सिंह का उपर्युक्त आरोप चाहे पूरी तरह सत्य न हो, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि डॉ० शर्मा की चिन्तन-भूमि, अपनी उदारता और सदाशयता के बावजूद, मार्क्सवाद की परिधि का अतिक्रमण नहीं कर पाती। इसमें सन्देह नहीं कि 'निराला' की गहरी सहानुभूति दुःख सहने वालों के साथ है और दुखियों को सताने वालों के प्रति उनके मन में आक्रोश का भाव प्रबल है किन्तु समाज को उत्पीड़न और

शोषण से मुक्त करने का उपाय क्या है? 'निराला' ने इस मुक्ति के लिए विवेकानन्द के नव वेदान्त चिन्तन को ही आधार बनाया है। उसी से शक्ति और प्रेरणा ली है। स्वामी जी ने स्पष्ट कहा था—"मेरे जीवन का परमध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है, जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से विहीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" स्वामी जी के अनुसार सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं पाप है।" 'निराला' ने इसी नव वेदान्त को बीज मन्त्र की तरह अपने भीतर धारण कर लिया था। 'निराला' की क्रांति चेतना का बीजाधार विवेकानन्द का नव-वेदान्त है। इससे अलग होकर उनके कवि-व्यक्तित्व का मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। निराला के लिए दर्शन, धर्म, प्रकृति, देश, मनुष्य समाज, तथा मानवीय समस्यायें एक दूसरे से अलग और निरपेक्ष नहीं है। उन्हें समझने के लिए दर्शन को जीवन से जोड़ना होगा। उनके देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम, नारी-प्रेम में ही नहीं काव्य की भाषिक संरचना के आधार-तत्त्वों के संयोजन में भी दार्शनिक ऊर्जा कार्य करती रही है। समाज को बदलने के लिए व्यक्ति को भी बदलना होगा। यह बदलाव भीतर और बाहर दोनों स्तरों पर होगा। भीतर की शक्ति ही बाहर के अन्याय का प्रतिरोध कर सकती है। 'राम की शक्ति-पूजा' में दृढ़ आराधन के बल पर राम जिस शक्ति को जागृत करते हैं वह उनकी आत्म शक्ति ही है। आस्था के भीतरी केन्द्र के बिना बाहर के प्रहारों को झेलना संभव नहीं है। 'निराला' के काव्य-विकास का आकलन करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"पिछले दस वर्षों में 'छायावाद' के अनेक प्रसिद्ध लेखक काल्पनिक साहित्य की रचना से मुँह मोड़कर समाज के यथार्थ जीवन की ओर झुके और साहित्य में एक नई प्रगतिशील के अगुआ बने। × × इन कवियों में 'निराला' और पंत का कार्य मुख्य है।" (निराला, १९४६ ई०, डॉ० शर्मा) 'निराला' के सम्बन्ध में उपर्युक्त कथन क़त्तई ठीक नहीं है। 'निराला' तो १९२३ में ही 'गरीबों की पुकार' और 'भिक्षुक' जैसी कवितायें लिख चुके थे। समाज के यथार्थ की ओर पन्त ने अवश्य बाद में अपने कदम बढ़ाये थे। 'निराला' ने न तो कभी काल्पनिक साहित्य से मुँह मोड़ा न सामाजिक यथार्थ से। उनके लिए 'गरीबों की पुकार,' 'भिक्षुक,' तोड़ती, पत्थर', 'जल्द जल्द पैर बढ़ाओ', 'चूँकि यहाँ दाना है', महँगू महँगा रहा', 'डिप्टी साहब आये', 'गर्म पकौड़ी, 'कुकुरमुत्ता' आदि कविताएँ जितनी महत्वपूर्ण

हैं, उतनी ही महत्वपूर्ण 'अधिवास', 'धारा', 'आवाहन', 'कण', 'यमुना के प्रति' 'जागो फिर एक बार', 'जागा फिर दिशा ज्ञान', 'कौन तम के पार' आदि भी। 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'तुलसीदास' 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति' आदि लम्बी कवितायें भी उनके कवि-व्यक्तित्व को मूर्त करने में समान रूप से सहायक हैं। 'बादल राग', 'पंचवटी प्रसंग', 'देवी सरस्वती' आदि कविताओं के साथ ही 'अर्चना', 'आराधना' और 'गीत गुंज' के प्रार्थना-गीत भी 'निराला' की पहचान कराने के लिए अनिवार्य हैं। मानव जीवन की सार्थकता को लेकर 'निराला' की दृष्टि बहुत साफ थी। वे जानते थे—शुद्ध चित्तात्मा में ही प्रेम का अंकुर उदित होता है। चित्त निर्मल नहीं है तो प्रेम मनुष्य को पशुता की ओर ले जाता है। चित्त की शुद्धि के लिए सेवा व्रत अनिवार्य है। कुल्लीभाट जीवन के अंतिम चरण में शुद्ध चित्त होकर ही समाज-सेवा में लीन हुए थे। इसीलिए वे निराला को भा गए थे। चित्त शुद्धि के लिए देवता होना आवश्यक नहीं है। अपनी मानवीय दुर्बलताओं के साथ भी आप सच्चे मन से दलितों और दुखियों की सेवा में लग सकते हैं। मन की शुद्धता के बिना देश सेवा या समाज सेवा ढोंग है। 'निराला' में यह भाव आदि से अंत तक विद्यमान रहा है। जीवन की विडम्बनाओं से वे विचलित भले हुए हों, शक्ति के भीतरी स्रोत को उन्होंने कभी सूखने नहीं दिया है। इसीलिए जीवन के अंतिम दौर में देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी 'निराला' ने जब यह अच्छी तरह देख लिया कि मूल्यहीनता और बढ़ गई है। चारों ओर स्वार्थ की आँधी चल रही है। अँधेरा और घना होता जा रहा है। जिस मानव मुक्ति का स्वप्न वे देख रहे थे, वह और दूर हो गई है। अमीरों की हवेली किसानों की पाठशाला नही बन पाई है। सेठ और भी पुष्ट और समृद्ध होते जा रहे हैं। देश के कर्णधार जनता को ठग रहे है तो उन्होंने अपने को अन्तस्थ कर लिया। अन्तस्थ निराला ने अपनी आस्था को अडिग रखने के लिए प्रार्थना गीत लिखे। इन गीतों ने उनके जीवन के विष को बुझाकर उन्हें मृत्युञ्जय बना दिया।

मेरा निवेदन है कि 'निराला' को समग्रता में देखा जाय। उनका जो चित्र बने वह पूर्ण हो। 'निराला' में हमारे देश की सम्पूर्ण रचनात्मक ऊर्जा केन्द्रीभूत हो गई है। वैदिक ऋषियों, क्लैसिक युग के कालिदास, भवभूति आदि कवियों, मध्यकालीन संतों और भक्तों तथा नवजागरण काल के वेदान्त व्याख्याता मनीषियों की वाणी का सारतत्त्व अभिनव शक्ति और ऊर्जा के साथ 'निराला' में मूर्त हो उठा है। हमें इसी 'निराला' की तलाश करनी होगी। अन्यथा उनके मूल्याङ्कन का सारा प्रयास एकांगी और अधूरा होगा। हमें 'निराला' अन्तर्विरोधों के पुंज प्रतीत होंगे। सामाजिक यथार्थ क्या है?

इस पर भी हमें गहराई से विचार करना होगा। मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता को आर्थिक प्रयत्नों की सीमा में बाँधकर देखने में हमसे कहीं कोई भूल तो नहीं हो रही है? 'निराला' का काव्य हमें इस दिशा में सोचने की प्रेरणा भी देता है।

निराला ने सन् १९२४ में लिखा था—

तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक ?
विंदु ! विश्व के तुम कारण हो,
या यह विश्व तुम्हारा कारण ?
कार्य पंच भूतात्मक तुम हो,
या कि तुम्हारे कार्य भूतगण ?
आवर्तन-परिवर्तन के तुम नायक नीति-निधान
परिवर्तन ही या कि तुम्हारा
भाग्य विधायक है बलवान ?
पाया हाय न अबतक इसका भेद,
सुलझी नहीं ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद !

'निराला' के अध्येता को इस ग्रन्थि को भी खोलना होगा, अन्यथा वह निराला का पूरा साक्षात्कार नही कर सकेगा।

राम की शक्ति पूजा

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

कोई लेखक जो कुछ लिखता है वह सब रचना नहीं हो जाती। श्रेष्ठ लेखक द्वारा भी कभी-कभी ही रचना प्रसूत होती है। कोई भी लिखित वस्तु रचना कब बनती है? यह एक बहुत ही जटिल मनोविज्ञान है। निराला ने भी सैकड़ों कविताएँ लिखीं। लेकिन उनकी कुछेक कविताएँ ही ऐसी हैं जिनसे हम निराला को निराला के रूप में पहचानते हैं। एक कवि को उसकी समूची सामर्थ्य में, उसकी सर्जनात्मकता की केन्द्रीय उपलब्धि के रूप में। जब भी समय का बिन्दु किसी रचना मानस के बिन्दु से मिलता है और जब उसमें देश काल के व्यापक आयामों का समावेश होता है और वह सब अपनी चरम केन्द्रीयता में होता है, तब श्रेष्ठ सर्जना सामने आती है। अपनी समग्रता के साथ निराला ने किन आवश्यकताओं के बीच, किन अनुभवों के बीच, किस चेतना के बीच यह रचना लिखी होगी कि एक छोटी सी रचना महाकाव्य का रूप ले लेती है। वे लोग शायद अन्याय करते हैं जो इसे महज एक लम्बी कविता कहते हैं। यह मात्र लम्बी कविता नहीं, एक महाकाव्य है। लोगों ने बहुत लम्बी-लम्बी कविताएँ लिखी हैं बीस-तीस, पचास पृष्ठों की, लेकिन वे महाकाव्य नहीं हैं। छोटी रचना महाकाव्य तब बनती है जब इसके पास सामग्री तो महाकाव्य की हो लेकिन कवि उसे इस तरह सघन कर देता है, मानो कोई महाकाव्यत्व उस रचना में सिमट गया हो। असल में सर्जना के घनत्व और वस्तु व्यापकता के तनाव में से महाकाव्य जन्म लेता है यानी जहाँ वस्तु तो अपरिमित हो लेकिन उसे बहुत सीमित संरचना में साङ्गो-पाङ्ग रूपायित कर दिया जाए। दूसरे शब्दों में अपने भीतर सघनतम रूप में विराट को रच दिया जाए। 'राम की शक्ति पूजा' निराला ने महाकाव्य के रूपाकार में नहीं लिखी। उन्होंने इस अर्थ में महाकाव्य का सृजन किया ही नहीं। उन्होंने केवल कविताएँ लिखी है। यह भी एक कविता है लेकिन महाकाव्य जैसी। क्योंकि इसके भीतर समूचा देशकाल, संस्कृति की अर्थवत्ता, मनोविज्ञान, मनुष्य का वर्तमान और पारंपरिक संघर्ष जो आने वाले युग का संघर्ष भी है सब एकत्रित, संघनित हो गया है। इसके भीतर निराला के कवित्व के सारे आयाम सहसा फ्लैश की तरह दीप्त हो उठे हैं। यह एक ऐसा क्षण था जिसमें सारा मनोवेग और मनोलोक सिमट आया था। यह क्षण

इतना विराट क्षण था जिसमें सारे अनुभव एकत्र हो गए थे। जब हम किसी काव्य से नये-नये अर्थ निकालते हैं तो ऐसा नहीं है कि ये अर्थ रचना करते हुए कवि के सम्मुख प्रत्यक्ष ही हों। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में वे कहीं न कहीं अवचेतन में रहे होंगे जो चेतना में इस तरह प्रवेश कर गए कि उन्होंने सर्जना का रूप ले लिया। जिसका स्वयं कवि को भी पता नहीं था, लेकिन जो भी चीज सर्जक से निकलती है वह आकाश से टपकी हुई नहीं होती। अन्य बहुत सी अर्जित की हुई चीजों की तरह उसके अवचेतन में पड़ी होती है। सर्जना के क्षणों में वही सब एकत्र हो जाता है और चेतना में बदल जाता है। 'सरोज स्मृति' में एक पंक्ति है—

दुःख ही जीवन की कथा रही।
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।

और 'राम की शक्ति पूजा' में भी है—

'धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध'

तो वह जो 'सरोज-स्मृति' का दुःख था, जो पीड़ा थी, वह यहाँ भी आ गई है। सबसे पहली कविता उन्होंने लिखी थी 'जुही की कली'। इसमें जो रोमांटिक स्पर्श है वह 'राम की शक्ति पूजा' में उस समय आता है जब उन्हें सीता का ध्यान आता है अर्थात् 'लतान्तराल मिलन' की स्मृति में जुही की कली की रोमानियत वेश बदल कर आ जाती है। 'बादल राग' में जो एक गर्जना है जो आवेग है, वह राम की शक्ति पूजा में भी आप देखें—हनुमान के उद्दीप्त क्षण में। निराला 'तुलसीदास' लिखते हैं—तो कहते हैं कि 'भारत के नभ का प्रभा पूर्य, शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य। अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिङ्मंडल' 'भारत के नभ का प्रभापूर्य' जो सांस्कृतिक दिङ्मंडल था, वह आज 'तमस्तूर्य' हो गया है, अंधेरे से भर गया है। इसी अंधेरे का अनुभव वे राम की शक्ति पूजा में भी करते हैं। रावण की शक्तियाँ तमस्तूर्य होती हैं; राम की पराजय इसी सांस्कृतिक सूर्य का तम से आवृत होना है। तो हम देखते हैं कि निराला की इस कृति में कवि व्यक्तित्व के जितने छोर हैं उनका समावेश हो गया है। यहाँ उनका दर्शन भी है जिसको आगे जाकर वे प्रार्थना कविताओं के रूप में लिखते हैं। स्पष्ट है कि निराला जो वैविध्य के कवि हैं उनकी सारी बहुलता यहाँ एकत्र है। कहा जाता है कि तीन कविताएँ उनकी केन्द्रीय कवितायें हैं-- रामविलासजी ने कहा है कि एक 'राम की शक्ति पूजा' दूसरी 'तुलसीदास' और तीसरी 'सरोज स्मृति'। लेकिन मैं समझता हूं कि उनमें 'जुही की कली' जिसमें प्रेम और आवेग है, 'बादल राग' जिसमें उनका शोषण और अन्याय के

विरुद्ध बहुत प्रखर स्वर है; 'जागो फिर एक बार' जिसमें राष्ट्रीयता और राष्ट्र जागरण का आह्वान है; 'कुकुरमुत्ता' जहाँ उनके विद्रोह, उत्कट संवेदन और समय का स्वर है; और अन्त में प्रार्थना के गीत जहाँ उनकी आत्मा की वेदना अनेक तरह से तरल होकर बही है और उनके भीतर की लोक-कामना के स्वर पारम्परिक भक्ति-धारा से उन्हें जोड़ते हैं—इन सबको भी उनके काव्य-विकास में रेखांकित करना चाहिए। ये सब निराला के एक ही मन के अलग-अलग आयाम हैं जो 'राम की शक्ति-पूजा' में एकत्र हो गए हैं। निराला की दर्शन-चेतना को भी उनके काव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। निराला पर भारतीय वेदान्त रामकृष्ण और विवेकानन्द का गहरा प्रभाव था। भारतीय दर्शन के एक समन्वित रूप को उन्होंने अपनी आत्मा में साधा था। शैव, शाक्त दर्शनों का भी उन पर प्रभाव था। 'राम की शक्ति पूजा' में योग, वेदांत, शैव, शाक्त दर्शन को एक साथ देख सकते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पहला ही सूत्र है—प्रकृति स्वतंत्र है, वह विश्व सिद्धि का हेतु है, सबका कारण। शाक्त दर्शन शक्ति या प्रकृति को ही कारणभूत मानता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला कहते है कि 'शक्ति की मौलिक कल्पना करो'। यह मौलिक कल्पना विराट प्राकृतिक आयोजन है। क्योंकि सारी प्रकृति चैतन्य है और शक्ति रूपा है। तो उनका दर्शन, उनका काव्य, उनकी अनुभूति, उनका रोमांटिक सृजन, उनका संकल्प, राष्ट्रीय मानवीय चेतना, उनका विद्रोह, उनका संघर्ष, उनकी वेदना और उनका समय—सब कुछ इस रचना में एकाकार होता है तब जाकर यह रचना महाकाव्यत्व का आकार ग्रहण करती है और इतनी सघन होती है। आप देखिये द्वितीय विश्व युद्ध का माहौल था, प्रथम विश्व युद्ध हो चुका था। एक स्तर पर यह 'समकाल' है तो दूसरे स्तर पर 'समय मात्र' है। क्योंकि हम आज और सदैव एक या दूसरे प्रकार के युद्ध में लगे रहते है। संक्रमण दुनिया में चला आता रहा है और चलता रहेगा। एक समस्या आज खत्म होगी तो दूसरी पैदा होगी। आप आज एक तरह से नैतिकता की व्याख्या करेगे। दूसरे जमाने में दूसरी समस्या पैदा होगी और आपको दूसरी तरह व्याख्या करनी पड़ेगी; तीसरे जमाने में तीसरी, यानी संक्रमण का युग मानवता के के साथ चलता हुआ युग है। स्वाधीनता के बाद भी हम लगातार ५० साल से संक्रमण देखते भोगते रहे हैं। मुझे लगता है कि संक्रमण तो इतिहास के साथ जुड़ा हुआ युग-धर्म है। हमेशा शक्तियों का संघर्ष होता है और यह अंधेरा कभी छँटने वाला नहीं है। इस अंधेरे और प्रकाश के सतत युद्ध को, संक्रमण को—आजीवन जब तक मनुष्यता है तब तक बना रहना ही है। जब मनु पहली बार जन्मा था तब भी यही संक्रमण था। कामायनी में भी वही

संक्रमण है। यानी आदि काल में और उसके बाद भी, और हमारे युग में भी यही संक्रमण है, आगे भी इसे जारी रहना है। निराला ने जिस समय यह रचना लिखी, जमाना बारूद के ढेर पर खड़ा था। निश्चित रूप से एक बात बहुत महत्वपूर्ण है रचना के बारे में—कि सबसे पहले लेखक का निजी तौर पर संवेदित होना रचना का केन्द्रीय कारण होता है क्योंकि निकलती तो रचना 'यहीं' से है—मन से। निराला के सृजन की धुरी वेदना है। वही वेदना उनके संघर्ष के शीर्ष पर भी है और इस कविता में भी। आप यदि निराला की रचनाओं को दो-तीन भागों में बाँटेंगे तो लगेगा कि पहली ही रचना "रोमांटिसिज्म" के साथ संघर्ष की रचना है और इसके बाद उनका स्वर नए-नए रूप में बदलता जाता है। अलग-अलग तरह से वे अपने समय को देखते जाते हैं और चित्रित करते हैं। निराला वहीं रहते हैं लेकिन उनके आयाम और उनकी अभिव्यक्ति का स्वरूप बदलता जाता है। राम की शक्तिपूजा के काल में विश्व, युद्ध की दहलीज पर खड़ा हुआ है। न्याय और अन्याय का संघर्ष वहाँ भी हो रहा है। निराला ने किस तरह देखा है क्योंकि हर युद्ध में कोई एक पक्ष न्यायी होता है तो दूसरा पक्ष अन्यायी। हो सकता है दोनों के भीतर कुछ न्याय हो। हो सकता है दोनों के भीतर कुछ अन्याय हो। लेकिन युद्ध का मूल मुद्दा न्याय और अन्याय का संघर्ष है। लेकिन न्याय के युद्ध के साथ युद्ध का विवेक होता है। जो लगातार खोता जा रहा है। संघर्ष तो है, लेकिन संघर्ष का विवेक भी है। वह वास्तव में युद्ध का न्याय; क्योंकि हम आए दिन युद्ध करते रहते हैं; अपने संसार से युद्ध, सच बात के लिए युद्ध, झूठ बात के लिए युद्ध। लेकिन युद्ध का वास्तविक विवेक क्या होता है? संघर्षकाल में निराला की वाणी क्या कह रही है, युद्ध को किस तरह का रूप दे रही है, उसे राम के शस्त्र धारण और शस्त्र संधान की मूल चेतना में देखा जा सकता है। राम अपने तीर के बारे में कहते हैं :—

'जो तेजः पुंज सृष्टि रक्षा का कर विचार
है जिनमें निहित पतन घातक संस्कृति अपार'

सृष्टि रक्षा और पतन घातक संस्कृति है जिनमें :—

'शत - शुद्धि बोध सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक'

राम ने यह युद्ध बिना विवेक के नहीं किया। कोई उत्तेजना, उग्रता नहीं अगर है तो उसका शमन भी है और वह सब यहाँ चरितार्थ भी हुआ है जिसकी चर्चा मैं आगे करूँगा।

शत शुद्ध-बोध सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक
जिनमे है क्षात्र धर्म का धृत पूर्णाभिषेक

क्षात्र धर्म क्या है ? 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में जब दुष्यंत आश्रम के हरिण की ओर तीर का संधान करता है तब तपस्वी कहता है 'आर्तत्राणाय वः शस्त्रम् न प्रहर्तुं अनागसि'।

तुम्हारे शस्त्र आर्त की रक्षा करने के लिए हैं, दुखी की रक्षा करने के लिए हैं, निरपराध को मारने के लिए नहीं हैं। शक्ति तो तुम्हारे पास है लेकिन शक्ति का इस्तेमाल कैसे करोगे ? निराला ने इसमें शक्ति के इस्तेमाल की बात कही है। केवल शक्ति की बात नहीं कही है। देखिए शक्ति तो दोनों के पास है—राम के पास भी शक्ति है और रावण के पास भी है। लेकिन शक्ति का उपयोग कैसे करें ? यही सवाल है। कैसे का अर्थ किस उद्देश्य से ? दुष्यंत से जो यह कहा गया है कि तुम्हें शस्त्र इसलिए थोड़े ही दिए गए हैं कि किसी भी निरपराध को मार डालो। क्षत्रिय की परिभाषा यह है 'क्षतात् किल त्रायते इति क्षत्रियः'। जो दुखी हैं, पीड़ित हैं, आहत हैं, उनकी जो रक्षा करे वही क्षत्रिय होता है। तो राम के तीर में भी वही क्षात्र धर्म है क्योंकि उनके भीतर सृष्टि रक्षा का विचार है—

जिनमें है क्षात्र धर्म का धृत पूर्णाभिषेक
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित।

विचित्र है कि कोई युद्ध में संयम की बात कर रहा है ! Everything is fair in love and war जिस जमाने में यह बात कही जाती थी वहाँ निराला कह रहे हैं—

जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत खण्डित।

राम को इस बात का दुःख नहीं है कि मैं पराजित हूं। राम को इस बात का दुःख है कि युद्ध के सारे विवेक, युद्ध के सारे संयम, युद्ध के सारे न्यायिक आधारों की पराजय हुई है और यह कहते ही इस कविता का आयाम फैल जाता है। यह राम-रावण की लड़ाई नहीं रहती, यह सीता के लिए लड़ाई नहीं रहती, इसका आयाम विश्व व्यापी हो जाता है। एक विराट आयाम—कि यहाँ पराजय उसकी हो रही है जिसके पास विवेक है, संयम है, न्याय है, क्षात्र धर्म है, पतन घातक संस्कृति का विचार है और निश्चय ही यह पराजय भी व्यक्तिगत पराजय से कहीं बड़ी है क्योंकि मनुष्य की पराजय है। यहाँ कवि का करिश्मा देखिए तीर के भीतर विचार। बम के भीतर कोई विचार रखता है भला ? लेकिन यहाँ राम का जो प्रत्येक तीर चलता है उसके भीतर विचार है, दृष्टि है, पतन घातक संस्कृति है—तेज पुंज सृष्टि की रक्षा का विचार, बार-बार विचार, विवेक, संयम, न्याय, क्षात्र धर्म, इनकी बात युद्ध में

कर रहे हैं राम। भला बताइये कि जिस जमाने में युद्ध की नैतिकता ही समाप्त हो गई थी, अंधी लड़ाइयां लड़ी जा रहीं थी उस समय निराला यह कविता लिखते हैं। यह युद्ध काल की कविता है। एक युद्ध वह जो बाहर चल रहा है और दूसरा युद्ध जो कवि के भीतर चल रहा है उस युद्ध के विरुद्ध। यह जो पूरी कविता है। प्रतीक कविता है, और यही प्रतीकवत्ता उसे कालजयी बनाती है। मेरे या आपके या हमारे आपसी झगड़े या आपसी युद्ध जो हमारे आपके छोटे, मोटे स्वार्थों के कारण होते हैं वे कालजयी नहीं होते हैं। कालजयी वह चीज होती है जिसमें व्यापक विचार-विवेक होता है। अगर कोई कवि अपनी ही बात कह रहा है, अपना रोना रोने लगता है अपना गाना गाने लगता है, अव्वल तो वह कविता नहीं होती और अगर होती है तो क्षणजीवी। बड़ी कविता तब होती है जब हम उसको व्यापक आयाम देते हैं। प्रतीक हमेशा चीजों को व्यापक आयाम देते हैं। राम यहाँ किसके प्रतीक हैं? आपने ध्यान दिया होगा इस कविता की अंतिम पंक्तियों पर। राम को कहा गया 'पुरुषोत्तम-नवीन'। देखिए यहाँ नवीन कहा गया है राम को। राम नवीन कहाँ से हो गए। यह निराला का समय बोल रहा है उनके भीतर। तुम आज के पुरुषोत्तम हो, आज ऐसे ही पुरुषोत्तम की जरूरत है। उस पुरुषोत्तम की जिसमें युद्ध का भी विवेक है, जिसको पराजय की वह पीड़ा सालती है, जो उसकी नहीं है, पूरी संस्कृति की पराजय है, न्याय की, ईमानदारी की। पराजय की यह पीड़ा जिसको घेरती है वही पुरुषोत्तम होता है। छोटी-मोटी दया करके कोई गौतम बुद्ध नहीं हो जाता। गौतम बुद्ध तब होता है जब उसके पास विराट करुणा होती है, विराट दया होती है। व्यक्ति पुरुषोत्तम तब नहीं होता जब छोटा-मोटा संघर्ष या किसी का उपकार या भला कर दे। पुरुषोत्तम तब होता है जब उसके मन में पूरी सृष्टि की रक्षा का विचार होता है। अपनी पत्नी के लिए लड़ाई लड़ने के कारण राम पुरुषोत्तम नहीं हैं क्योंकि यह तो मध्यकाल में भी राजा लोग करते ही रहे हैं। बहुत लोग, तमाम लोग करते हैं। घर घर में करते हैं, लेकिन इससे कोई व्यक्ति पुरुषोत्तम नहीं हो जाता है। पुरुषोत्तम तब होता है जब उसके पास विराट दृष्टि होती है, विराट भाव होता है।

अब इस कविता के काव्यत्व को लीजिए। कैसे-कैसे मनोवैज्ञानिक स्पर्श हैं इसके भीतर। अनूठे। राम पराजय भाव से ग्रस्त हैं। इस अवसर की पूरी भाषा भी वैसी ही चलती है।

रवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम रावण का अपराजेय समर।

कविता का पहला हिस्सा इसी भाषा में चलता है। राम पराजित हैं और व्याकुल भी हैं। कवि क्या कहते हैं वहाँ ? उपमा ऐसी लाते हैं कि कपिगण राम के पीछे-पीछे चल रहे हैं जैसे 'स्थविर दल ज्यों विभिन्न'—एक-एक शब्द देखिये। महाकाव्य जिस रचना में होता है उसका एक शब्द भी व्यर्थ नहीं होता, न पर्यायवाची से बदलने योग्य। निराला यहाँ एक एक शब्द, एक एक उपमा, एक एक गति का प्रयोग बड़ी सावधानी से करते प्रतीत होते हैं। जैसे हनुमान की प्रबल हुंकार 'रव' से प्रकट नहीं हो सकती थी कवि की प्रतिभा उसका पर्याय वाची चुनती है। बहुत से लोग क्या करते हैं कि 'सिन्धु' को 'सिन्धू' बनाकर बड़ा करना चाहते हैं। लेकिन वह अस्वाभाविक प्रयोग है। यही बात स्वाभाविक रूप के कैसे लाते हैं निराला। पर्यायवाची या कोष के ढेरों शब्दों में से कवि चुनता है। हजारों शब्द लाखो शब्द होते हैं कोष में। लेकिन कोष के शब्द तो मृत होते हैं। सर्जना में आकर उसको जीवन दिया जाता है। जैसे किसी मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। तो यहां वे 'रव' के पर्याय-वाचियों में से 'राव' शब्द उठाते हैं क्योंकि हनुमान तो 'राव' ही कर सकते हैं। जैसे जब वे 'रव' को 'राव' कहते हैं और उसे भी 'महाराव' जैसा काव्यात्मक शब्द देते हैं तो वह आता भाषा के भीतर से है। अमरकोष में 'रव रावो महारावो' है ही। परन्तु कवि चुनता है पर्यायवाचियों में एक शब्द। अब 'स्थविर दृश्य' का संदर्भ लें। स्थविर दल की पूरी प्रकृति यहाँ है। साथ चल रहे हैं, लेकिन भीड़ नहीं है। वह स्थविर दल है वह नारा लगाता नहीं चल रहा है, फिर भी एक साथ चल रहा है, फिर भी विभिन्न है। अपने-अपने मन में सोच रहे हैं सब, अपने में गुन रहे हैं। तो स्थविर जब चलते हैं एक साथ तो साथ चलते हुए दीखते हैं पर वे एक साथ नहीं होते। सब अपने अपने भीतर तन्मय रहते हैं। सब अपने-अपने चिन्तन में खोए रहते हैं। हम एकसाथ बैठे हैं और अगर अपने अपने मन, अपने अपने चिन्तन में खोए हों तो हम एक साथ होते हुए भी विभिन्न होंगे। यहाँ स्थविर दल ज्यों विभिन्न का अर्थ है—हर व्यक्ति के मन में पीड़ा की अपनी अनुभूति है—अपने अपने स्तर पर सोच रहा है हर कोई। अब यह जो विभिन्न है वह कविता में बहुत दूर जाता है सबके अपने अपने व्यक्तित्व और सोच में रूपायित होकर देखिये।

यहाँ एक पुरुषोत्तम है। अब यहाँ जो हनुमान हैं या जाम्बवन्त हैं या और भी हैं वे मन की विभिन्न स्थितियाँ हैं लेकिन प्रतीकार्थ में वह मन का एक भाव है। जाम्बवन्त कथा का एक व्यक्ति है लेकिन मन का एक भाव है। उसी तरह विभीषण आदि। यहाँ तक कि शक्ति भी। देखिए क्या कहते हैं निराला कि शक्ति की मौलिक कल्पना करो। शक्ति की मौलिक कल्पना क्या होती है ?

शक्ति तो हमारे भीतर है। हम ही इस शक्ति को साधते हैं। यह मौलिक कल्पना है अपनी तरह से शक्ति को साधना। मौलिक कल्पना करने की जरूरत क्यों पड़ी? जब राम ने देखा कि रावण के साथ एक शक्ति है इसलिए वह जीत जाता है। अन्याय के साथ एक शक्ति होने पर भी वह जीत जाता है और मैं न्याय के साथ हूँ मेरे साथ शक्ति नहीं है यानी शक्ति का अवबोधन, शक्ति की प्रतीति, यही कवि कहना चाहता है और यही अवबोधन और प्रतीति जगाना चाहते हैं राम में! युद्धरत व्यक्ति को शक्ति अर्जित करनी पड़ेगी अपने भीतर। उसकी 'मौलिक कल्पना' करनी पड़ेगी और यह सारी सृष्टि, समूची प्रकृति उसमें मदद करेगी। पूरी प्रकृति आपके भीतर शक्ति बनकर अवतरित होगी अगर आप उसकी परिकल्पना कर सकेंगे। क्योंकि गीता साफ कहती है—

मन एव मनुष्याणां कारणं मोक्षबन्धनं

मनुष्य का मन ही मोक्ष का कारण भी है और बन्धन का कारण भी है। आप अगर मन को साध लेंगे तो आप बड़े से बड़े बन जायेंगे और अगर मन को आवारा छोड़ देंगे तो यह जाने किन दिशाओं में भटक जायेगा। मन ही तो केन्द्र है। शक्ति की मौलिक कल्पना असल में अपने भीतर शक्ति संचय की बात है और यह मौलिक कल्पना है क्यों? क्योंकि जो शक्ति दूसरे के पास है उस शक्ति को देखकर आप शक्ति की कल्पना नहीं करें। आप अपनी सारी कल्पनाओं के साथ, सारी सद्-इच्छाओं के साथ अपने लिए उस शक्ति की कामना करें जो आपके सामने खड़े दुर्वृत्त या दुराचारी की हिंस्र और कुटिल शक्ति से भिन्न हो, जो आपकी अवधारणा पर खड़ी हो। उससे अलग तरह की शक्ति आपके भीतर हो। अब राम की शक्ति पूजा के हनुमान को लीजिए। हनुमान हमारे मन की उग्रता हैं जो हमारे लिए पूरी तरह समर्पित है। हनुमान देखते हैं राम के मन की इस व्याकुलता को। दुख की एक प्रतिक्रिया उसकी तीव्रता में होती है, उन्माद में होती है। हनुमान इतने उन्मादी हो जाते है कि सूर्य को खाने दौड़ पड़ते हैं। इस मन के उन्माद को कैसे साधें? तो वही तो साधेगा जो इसे जन्म देता है। तुलसी कहते हैं—'जोइ बांध्यो सोइ छोरै'। अंजनी, हनुमान की माँ प्रकट होती है, क्रुद्ध होती लताड़ती है क्योंकि वह उग्रता की ही तो जननी है। यह अस्त्र कारगर होता है जो शक्ति के स्वामी हैं शिव; स्वयं कल्याण हैं, विषपायी हैं, वे शक्ति से जो कहते हैं— 'हे देवी इसकी विद्या से प्रबोधो।' तो शक्ति उस प्रबोधन का माध्यम अंजनी को बनाती है और हनुमान शांत होते हैं। विद्या बहुत काव्यात्मक शब्द है यहाँ। विद्या का मतलब है पूरे कौशल से पूरे संयम से, पूरे विवेक से। जितना भी आपके पास हो इस उग्रता को अपने वश में करो। हम अपने

भीतर के अहं को या अपने भीतर की उग्रता को किस तरह वश में कर सकते हैं ? अपने विवेक से अपनी विद्या से, अपनी समझदारी से और इसी के वश में हुए हनुमान। फिर विभीषण हैं। यहाँ लग रहा है कि विभीषण राम को उत्प्रेरित कर रहा है सीता के बहाने। क्यों ? उस व्यक्ति को पाना है राज्य। उसके सामने तो समस्या यह है कि राम के पराजित होने से उसका तो पूरा राज्य हाथ से निकल जायेगा। वह सोचता है कि मन से पराजित राम से उस 'मन' को निकालना होगा। वह चाहता है कि उनके भीतर वह जोश पैदा हो कि वे रावण को परास्त करें और अन्त में विभीषण राज्य करे। यह बहुत प्रत्यक्ष नहीं हैं और राम-कथा में आदर्श की तरह प्रस्तुत इस चरित्र के बारे में यह कहना शायद बहुत ज्यादती लगे लेकिन कहीं न कहीं एक चीज---जो मनुष्य के भीतर छिपी रहती है अपने स्वार्थ की कामना; वही तो विभीषण है जो ऊपर से वैसा नहीं दिखता जैसा है। कामना छिपाकर रखी जाती है। तो वह विभीषण राम को उकसाता है और कहता हैं कि अरे तुम सीता को यों ही छोड़ दोगे ? पर अवचेतन में से उसका स्वार्थ भी निकल ही आता है आखिर, कहता है—और मेरे राज्य का क्या होगा ? वह अपने स्वार्थ के कारण इस हद तक उतर आता है कि राम को धिक्-धिक् कहता है। 'धिक्-धिक्' जो शब्द है यह 'धिक्' मित्र का कहा हुआ शब्द नहीं है। राम के भीतर कौन-सा द्वन्द्व चल रहा है ? राम कौन सी लड़ाई लड़ रहे है ? इतने व्याकुल हैं। ऐसे समय कोई सच्चा मित्र धिक् धिक् कहेगा क्या ? यह 'धिक् धिक्' कह रहा है उसके भीतर छिपा हुआ स्वार्थ। इसके बाद निराला कहते हैं कि वह सब राम ने सुन लिया जैसे इन सब चीजों का उन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा हो। ये पुरुषोत्तम के लक्षण हैं। जैसे ये केवल शब्द भर हों इनका कोई अर्थ न हो। ऐसे उत्तेजक शब्दों का कोई प्रभाव नहीं होता राम पर। क्योंकि राम जिस चीज की तलाश में हैं उसका हल यहाँ नहीं मिलता बल्कि खोता ही है। इन चीजों पर वे गौर नहीं करते। गौर किन चीजों पर करते हैं ? वे जाम्बवन्त के कथन पर गौर करते हैं। जाम्बवन्त पूरी राम कथा में सबसे वृद्ध है। वृद्ध का मतलब बूढ़ा नहीं। वृद्ध का मतलब अनुभव-सम्पन्न। जिसने पूरी जिन्दगी को देखा है। इस जीवन की ऊँच-नीच को देखा है। देखा है कि जीवन क्या होता है ? हो सकता है कि उसने उस आक्रोश को भी देखा हो, उस क्षण को भी देखा हो, उस पराजय को भी देखा हो जो आज घटित हो रही है। वह कालिदास के शब्दों में 'कोविद ग्राम वृद्धाः' जैसा है जो कोविद पंडित होते हैं। वे भले ही किताब न पढ़े हों फिर भी वे पंडित होते हैं तो यह जो वृद्ध हैं यह पूरे जीवन का

अनुभव समेटे हैं। यह 'अनुभव क्या कहता है ? राम उसकी बात सुनते हैं और उसी के कहे अनुसार शक्ति की साधना करते हैं। यहाँ साफ है कि मनके किस पक्ष पर गौर करना चाहिए ? किसका अनुकरण करना चाहिए ? किसके निर्देश से शक्ति साधना करना चाहिए ? तो राम जाम्बवंत के कहे अनुसार शक्ति की साधना करते हैं। वे हनुमान की उग्रता और विभीषण के स्वार्थ या किसी अन्य भाव के वशीभूत न होकर अनुभवपूर्ण विवेक से मार्गान्वेषण करते हैं। राम ने देखा कि यह मेरे अनुभव की वाणी है। मैंने जीवन में जो कुछ भोगा है वह भोगनेवाली अनुभव सिद्ध वाणी है। जाम्बवान कोई अलग नहीं है। मनुष्य की अनुभव सिद्ध वाणी है, दृष्टि है। जब कोई चीज़ हमारा सहारा नहीं बनती तब हम अपने इतिहास को पलटते हैं। हम अपने जीवन को पलटते हैं, अतीत देखते हैं, हम इस तरह से सोचते हैं कि इस समय इस क्षण में हमको क्या करना चाहिए। जब राम में पराजय भाव जन्मा था तब भी उन्होंने अपनी विजय यात्राओं का स्मरण किया था, खरदूषणादि का वध उन्हें याद आया था। निराशाकाल में अपने ही कर्म, संबल होते हैं। कामायनी के मनु हिमालय पर चढ़ते हुए श्रद्धा से कहते हैं कि अरे इतने ऊपर जाना है अभी ? मैं नहीं जा पाऊँगा, थक गया हूं। तो श्रद्धा नीचे की ओर दिखाती है, कहती है, नीचे देखो तुम कितना पहाड़ पार कर चुके हो। तो ऐसा ही पूर्व कर्म मनुष्य के लिए संबल होता है। तो जाम्बवन्त उनसे कहता है कि ठीक है। अगर रावण के पास शक्ति है, एक बुरे के पास शक्ति है तो अगर अच्छे आदमी के पास शक्ति हो जायगी तो वह हमेशा बुरे आदमी की शक्ति से बड़ी होगी। और वह शक्ति अच्छे आदमी द्वारा मन से अर्जित की जाती है। क्योंकि सबसे पहले हारता व्यक्ति अपने मन से ही है। आप पूरे-के-पूरे भारतीय नायकों को देख लीजिये। कोई भी नायक आपको ऐसा नहीं मिलेगा जो उग्र हो। प्रतिनायक उग्र होता है। रावण उग्र है, कंस उग्र है, और भी जो तमाम दुष्ट लोग हैं वे उग्र होते हैं। लेकिन हमारे यहाँ वे सब नायक बहुत शान्त नायक हैं चाहे आप राम को ले लीजिए चाहे आप स्कन्दगुप्त को ले लीजिए, चाहे आप गाँधी को ले लीजिए, कृष्ण को ले लीजिए और दूसरी तरफ प्रतिनायकों को ले लीजिए। लाइन से खड़ा कर दीजिए। भारतीय रचना में सारे प्रतिनायक बहुत उग्र हैं लेकिन जितने नायक हैं सब बहुत शांत और संयमी हैं। उनके पास युद्ध का भी विवेक है और अपने कर्म का भी। राम आपको कहीं प्रचण्ड और उग्र नहीं दिखते हैं। वहाँ तो उनकी पीड़ा, उनकी निराशा, उनकी व्यथा दिखती है। ये सब कहाँ तीव्र या प्रखर होते है ? आत्मदान की चरम सीमा पर। जो अन्त में बताया गया है। खैर तो जाम्बवान जिस शक्ति-साधना, या शक्ति

की मौलिक कल्पना की बात कहता है वह वास्तव में भीतर से उठी हुई आवाज ही है। अपने मौलिक अनुभवों की आवाज। राम वही करते हैं और इसके बीच निराला ने अपनी पूरी दार्शनिक, योगियों और सिद्धों की परम्परा को साधना में समाविष्ट कर एक सुन्दर सांस्कृतिक संयोजन किया है। षट् चक्रों का भेदन करते हुए राम कैसे चक्र पर चक्र चढ़ते हैं। यह आध्यात्मिक चेतना है जो छायावादी युग में दिखाई पड़ती है। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी है। अपनी ही ग्रथियों, कांम्प्लेक्स को बेधते हुए मन की सर्वोच्च सीमा पर पहुंचना है यह। उसके बाद राम हनुमान से फूल मँगवाते हैं यानी उग्रता को साधना कर्म में नियोजित करते हैं। जिस व्यक्ति से आपको काम लेना है (इसे भले ही भाव कह लें) उससे कैसे काम लें। निराला कहते हैं कि राम ने हनुमान को बुलाया। कैसे ? 'प्रिय कपि को मधुर दृष्टि से खींचते हुए'। कपि को दृष्टि से खींच रहे हैं प्रियता की दृष्टि से; क्योंकि वह राम के जीवन के सबसे निकट है। उग्र है तो क्या सबसे अधिक समर्पित भी तो वही है। यह उग्रता राम का सात्विक दृष्टि से सम्पन्न भाव है, यही सयत करने पर उत्साह बनता है। उग्रता के उन्माद के समय भी राम ने हनुमान को कुछ कहा नहीं था। वह सब या तो माँ ने कहा था या शिव ने या शक्ति ने प्रतिक्रिया प्रकट की थी। उनका उग्र होना और आसमान पर चढ़ना तो राम ने भी देखा ही था। बैठे हुए थे सामने ही। वहाँ कुछ नहीं कहा था उन्होंने। लेकिन यहाँ कपि को प्रिय दृष्टि से खींचा। बोलने की कोई आवश्यकता नहीं थी। जो हमारा बहुत स्नेही आत्मीय है वह तो इशारे से समझता है। जिसे हम इशारा कहते हैं। इसे निराला कहते हैं दृष्टि से खींचते हुए। फिर राम ने पुष्प लाने को कहा। पुष्प लाने के बाद राम साधना में बैठ गए। राम फूल चढ़ाते गए। देवी की शांति कभी फूलों से नहीं होती। आपके भीतर की शक्तियाँ आपका सम्पूर्ण समर्पण चाहती हैं। आपने फूल चढ़ा दिए और हो गई साधना ! मिल गई सिद्धि ! आपकी साधना का जब चरम क्षण पैदा होता है तभी चरम सिद्धि मिलती है, और चरम सिद्धि बिना चरम त्याग के नहीं मिलती। एक पुष्प ग़ायब, साधना शीर्ष पर ही अधूरी। एक कमल चढ़ाना शेष रह गया। तो राम निर्णय करते हैं कि मेरी माँ मुझे राजीवनयन कहती थी। थे भी वे राजीव लोचन ही। तो यही राजीव क्यों न चढ़ा दिया जाए। जिस क्षण वे अपने शर से आँख बेधने को उद्यत होते हैं; यहाँ भी निराला ने बहुत ही मार्मिक प्रयोग किया है, कि अब ब्रह्मशर की नोक क्षणांश में आँखों को बाहर निकालने को सन्नद्ध थी, उसी क्षण देवी प्रकट होती हैं—

जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय
काँपा ब्रह्माण्ड हुआ देवी का त्वरित उदय।

यह जो क्षणांश है जिसमें देवी प्रकट होंगी, यह वास्तव में आत्म शुद्धि का अपने उद्देश्य, न्याय, सचाई, संघर्ष के लिए अपने को पूरी तरह झोंक देने का अंतिम क्षण होता है। यानी यह कविता क्या कहती है ? कहती है कि पराजय का तो एक लम्बा सिलसिला है लेकिन आपकी पराजय विजय में तब बदलेगी जब आप इस चरम क्षण में होंगे। जब आप अपना कुछ भी न रखकर सबसे प्रिय अर्पित कर देंगे। कालिदास ने मृग और मृगी के प्रेम में विश्वास का उदाहरण दिया है इससे। उन्होंने कहा है कि प्रेम का एक चरम क्षण होता है, जो विश्वास का भी चरम होता है। दुष्यंत कहते हैं कि वह क्षण चित्रित करूँगा जिसमें हरिणी हरिण की सींग की नोंक से अपनी आँख की कोर खुजला रही है। आँख शरीर में सबसे नाज़ुक चीज है और हरिण का सींग और उसके सींग की नोक सबसे कठिन, तीखी। विश्वास कैसा चरम होगा कि हरिणी को जरा-सी भी आशंका नहीं होगी। हरिण तो चंचल होता है न। वह तो एक पल ठहरता नहीं। लेकिन हरिणी को विश्वास है कि जब तक मैं आँख की कोर खुजलाती रहूंगी—यह हिलेगा नहीं, जरा भी नहीं काँपेगा। यह चरम विश्वास का उदाहरण है। आँख तो मनुष्य को प्राप्त संसार की, अनुपम निधि है। कल्पना कीजिए कि आँख न हो तो ? जायसी ने लिखा कि उस ईश्वर को धन्यवाद जिसने मुझे दो हाथ दिए दो पैर दिए आँख दी आदि। इसका मूल्य तो उन्हें पता है जिन्हें नहीं मिले ये अंग। तो आँख जैसी चीज ? यह सम्पूर्ण का प्रतीक है। उसी अंतिम क्षण देवी प्रकट होती हैं। उस अंतिम निश्चय के क्षण में जब उसे पता चल जाता है कि राम अब तो आँख दे ही देंगे। यह चरम साधना क्षण या त्याग, आहुति, समर्पण की अंतिम नोक पर विजय या सिद्धि की कहानी है। जो कहती है कि अंतिम क्षण तक जूझना होगा। निराश होने की जरूरत नहीं है। यह समूचे मनुष्य के संकल्प की कहानी है। सारी कविता ही प्रतीक है। मुझे तो प्रतीक लगती है, दूसरों को शायद कुछ और लगे। कालजयी रचना की विशेषता ही यह है कि वह हर एक को स्वतंत्र व्याख्या का अधिकार देती है। मुझे तो ये सारे प्रतीक लगते हैं मन की विभिन्न अवस्थाओं के, मनोविज्ञान सम्मत। निराला इस कविता के हर नाज़ुक क्षण को बारीकी से पकड़ते हैं। यह क्षण देखिए जब राम सीता को याद करते हैं देखिए, जरा 'पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन' हताशा के क्षणों में प्रेम की छवि। सम्पूर्ण समर्पण की छवि। पहला रोमांटिक क्षण। कहते हैं जिन्दगी में सबसे पहला रोमांटिक क्षण सबसे मूल्यवान क्षण होता है। निराला ने इसी मूल्यवान क्षण का इस्तेमाल किया है। जानकी के साथ तो बहुत देर

रहे हैं वे। जंगल की भी याद कर सकते थे और भी समयों की याद कर सकते थे। वह सेवा-टहल करती थीं, पैर पलोटती थीं, कुछ भी याद कर सकते थे। पर उन्होंने वहाँ याद किया प्रथम 'लतांतराल मिलन' और इसके लिए उन गम्भीर क्षणों पर कवि ने कैसी भाषा का इस्तेमाल किया। संयत भाषा का इस्तेमाल इसे कहते हैं—

'पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन'

यह क्या होता है ? जब राम सीता को देखते हैं तब सीता लाज से पलक गिरा लेती हैं। जब सीता राम को देखती है तब राम अपनी पलकें झुका लेते हैं। तो हर बार पलकों पर पलकें ही गिरती हैं, आँख नहीं आती आमने सामने। यह रीतिकाल नहीं है कि 'भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात' यहाँ वह चक्कर नहीं है। यह उस पूरी सामाजिक मर्यादा और शालीनता के भीतर रोमांटिसिज्म की रक्षा है जो आँख की पुतली की तरह किया जाता है। यहाँ सीता की लाज और राम के शील की कैसी मनोहारी प्रतिष्ठा है। यानी यह कविता सिर्फ यही नहीं सिखाती कि साधना, संघर्ष, विवेक और संयम कैसे धारण किया जाता है, बल्कि यह भी सिखाती है कि प्रेम कैसे किया जाता है और कैसे सहेजा जाता है। यह एक पूरे बोध की कविता है। मनुष्य के भीतर चलने वाले द्वंद्व के बीच धारण करने योग्य धैर्य की कविता है। अपने समय की जो सारी विभीषिकाएं हैं उन्हें समेटते हुए कवि किस तरह जीवन को अर्थ देता है और पराजय में हाथ थाम कर विजय के शिखर तक कैसी जद्दोजहद से पहुंचता है यह देखते ही बनता है। यह इस कविता की सार्थकता और सिद्धि है जो अपने को बार-बार पढ़वाती है। बार बार नई लगती है क्योंकि 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव-रूपं रमणीयता' सुन्दरता किसे कहते हैं ? उस चीज को कहते हैं कि जब आप देखें तब सुन्दर लगे। जैसे मिठाई खाते-खाते भी ऊब जाता है वैसे ही यदि सौन्दर्य को देखने से ऊबने लगें तो सौन्दर्य का कोई महत्व ही नहीं रहेगा संसार में। बिहारी कहते हैं

लिखन बैठि जाकी छवि गहि गहि गरब गरूर
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

जब देखते हैं तब नया लगता है यह सौन्दर्य। जब पढ़ते हैं तब उसका नया अर्थ, नया उत्साह, नयी प्रेरणा। वह हमारे सुख में, दुःख में, संघर्ष में उत्थान-पतन में, हमारे मन के द्वंद्वों के भीतर घुसकर अपनी जगह बना लेती है। हर वक्त हमारे साथ रहती है, चलते-बैठते-उठते संघर्ष करते, प्रेम करते, सहयोग करते, ईर्ष्या करतें, क्रोध में, भय में हमारे साथ रहती है। बड़ी कविता का यही लक्षण है और ऐसी बड़ी कविता को सिवा प्रणाम करने के और क्या किया सकता है।

निराला के गीत-प्रयोग

डॉ० चन्द्रदेव सिंह

निराला एक प्रयोगधर्मी रचनाकार हैं। भाव, भाषा, कथ्य और शिल्प सभी क्षेत्रों में निराला ने निरन्तर प्रयोग किये हैं। प्रयोग निराला का स्वभाव है, लक्ष्य नहीं। निराला ने प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं किए हैं। प्रयोग, निराला के विविध आयामी अनुभवों मनोदशाओं एवं स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम है। छायावाद के दूसरे कवियों की रचनाओं से तुलना करें तो भी मिलेगा कि तुकान्त-अतुकान्त जितने छन्दों के प्रयोग निराला ने किए हैं, दूसरों के यहाँ सम्भव नहीं हो सका है।

निराला कभी छन्दबद्ध रचना को महत्व देते हैं और कभी छन्द-मुक्ति को। कभी छन्दों की रागात्मकता और गेयता उन्हें आकर्षित करती है और कभी छन्द विधान, उसकी सीमाएँ संकीर्ण, सँकरी। "छोड़ छन्दों की छोटी राह" के द्वारा निराला ने छन्द-सीमा को अपने उन्मुक्त स्वभाव के विपरीत घोषित ही नहीं किया है, वरन् छन्द-हीन अनेक रचनाओं द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया है कि काव्य में कथ्य का आकर्षण विशेष होता है, शिल्प का नहीं।

निराला की मूल चेतना गीतात्मक है। उनके गीतों की लय, ताल, गति का कारण चाहे उनकी संगीतप्रियता हो, चाहे लोक प्रचलित रागों का प्रभाव, निराला गीत कवि ही हैं। निराला ने अनेक गीतों को छन्द-मुक्त शब्दावली में व्यक्त भले किया हो, लेकिन उन रचनाओं की प्रकृति गीत की ही कही जायेगी।

वैसे निराला ने कथात्मक कविताएँ भी लिखी हैं, किन्तु राम की शक्ति पूजा, शिवाजी का पत्र, सरोज स्मृति आदि को छोड़ दें तो बाकी रचनाओं में गीत-तत्वों की ही प्रमुखता है। तुलसीदास तो प्रबन्धात्मक होते हुए भी गीतात्मक ही है। प्रबन्ध की अनिवार्य वृत्ति कथात्मकता का अभाव ही नहीं है इसमें, वरन् 'तुलसीदास' के पद स्वयं में पूर्ण हैं; पूर्वापर सम्बन्धों की प्रबन्धात्मक-रीति का निर्वाह कवि का अभिप्राय नहीं लगता। लोक प्रचलित कथा-घटना को ही अलग-अलग पदों में व्यक्त कर देना कवि का लक्ष्य है। गीत की मनः स्थितियों को ही जैसे भिन्न-भिन्न पदों के माध्यम से व्यक्त कर दिया गया है और कथा अत्यन्त परिचित है अतः पाठक को पदों के अन्तः सम्बन्धों की स्थापना में कोई कठिनाई नहीं होती। 'जुही की कली', 'तोड़ती पत्थर' 'भिक्षुक' 'बादल राग' आदि अगीत रचनाओं की मूल चेतना गीतात्मक ही है जिसे कवि ने गीत शिल्प में ढालकर वर्णनात्मकता का रूप दे दिया है।

डी०एच० लारेंस ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि घटनाओं की भाँति ही रचनाएँ घटित हो जाती हैं और मैं मात्र दर्शक रह जाता हूँ। निराला की रचनाओं के संदर्भ में भी लारेंस की उक्ति के साथ इतना जोड़ना चाहता हूँ कि निराला की रचनाएँ गीत-रूप में ही अन्तर से प्रवाहित होती हैं, निराला उन्हें मन: स्थितियों के अनुरूप आकार देते रहते हैं।

कथ्य की दृष्टि से जहाँ निराला के गीतों को वैयक्तिक, प्रकृति अथवा प्रेम सम्बन्धी रचनाएँ, सामाजिक राष्ट्रीय संदर्भ की रचनाएँ, प्रकृति-पुरुष के प्रति जिज्ञासा-अन्वेषण से सम्बन्धित गीत, भक्ति गीत तथा वैयक्तिक, विवशता या वेदना अथवा पराजित मनोदशा के गीतों में विभाजित किया जा सकता है वहीं शिल्प और छन्दों तथा भाषा की दृष्टि से भी निराला के गीतों को कई खानों में रखा जा सकता है।

निराला मात्र दूसरों के लिए चुनौती नहीं हैं, वे तो स्वयं के लिए भी चुनौती हैं। गीत ही नहीं, शिल्पगत सारी परम्पराओं को तोड़ना जैसे निराला का स्वभाव है। गीत यदि एक मन: स्थिति; एक क्षणिक भाव दशा का अभिव्यंजन है तो निराला इसे स्वीकार नहीं करते। उनके गीतों मे वैयक्तिकता ही नहीं; देश-काल भो है, युग समाज भी है, स्वाधीनता प्राप्ति की प्रेरणा भी है और एक सर्मपित भक्त की भाँति भगवान, इष्ट से कुछ मनोनुकूल प्राप्ति की प्रार्थना भी है।

निराला वीणा वादिनि से अनुरोध करते हैं तो अपने लिए कुछ नहीं चाहते। सरस्वती की कृपा से भाव, भाषा कला-कुशलता की प्राप्ति उनका अभिप्राय नहीं है जैसा भक्ति कालीन, कवियों ने व्यक्त किया है। वे तो भारतीय जन-मानस में स्वाधीनता की चेतना को जागृत करने की आशा व्यक्त करते हैं।

वर दे, वीणावादिनि ! वरदे।
प्रिय स्वतंत्र रव,
अमृत मंत्र नव
भारत में भर दे।

इसी प्रकार कवि ने जहाँ कहीं किसी देवी देवता से कुछ मांगा है वहां उसने स्वयं को भुला दिया है। अपना सुख-दुख तो उसकी व्यक्तिगत उपलब्धि है, उसकी क्या चिन्ता ? इसीलिए कहीं मातृभूमि ही सरस्वती है और कहीं भारती ही मातृभूमि की स्वाधीनता-चेतना।

भारति, जय-विजय करे।
कनक-शस्य-कमल धरे।
लंका पदतल शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण युगल

स्तव कर बहु अर्थ भरे।
मुकुट शुभ्र हिम तुषार
प्राण प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार
शतमुख-शतरव-मुखरे।

निराला उस मिट्टी से बने हैं जो विद्रोह की निरन्तरता को ही जीवन-जागृति का कारण मानती है। इसीलिए निराला ने मात्र गीतों के शिल्प-क्षेत्र को ही मनोनुकूल आकार नहीं दिया है वरन् कथ्य को भी परम्परागत सीमाओं से पूरी तरह मुक्त कर दिया है।

निराला ने शृंगार प्रधान रचनाओं में, वर्णन चाहे संयोग का हो चाहे विप्रलम्भ का; जहाँ मर्यादा को विघटित होने से बचाया है वहीं विषयों को सीमित करने का प्रयत्न नहीं किया है। छायावादकालीन रहस्य के प्रति उनकी ललक भी कम नहीं है। मानव-मन की सहज जिज्ञासा उन्हें भी प्रकृति और स्रष्टा के रहस्यों की ओर उन्मुख करती है। छायावादी दूसरे कवियों की भाँति निराला भी जानना चाहते हैं कि सृष्टि क्या है, सृष्टि का सूत्रधार कौन है और अन्ततः यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड क्या है, इसका निर्माण और विनाश क्यों कैसे होता रहता है ?
श्री सुमित्रानन्दन पंत को यदि अपरिचित नक्षत्र निमंत्रित करते हैं और वे उन्हें जानने को उत्सुक हैं—

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन।

तो श्रीमती महादेवी वर्मा भी इसी जिज्ञासा से प्रेरित जिसे दुःखों में स्मरण करती हैं; जाँचना चाहती हैं कि उसमें भी उनके प्रति पीड़ा भाव है या नहीं—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुम में ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

जिसे राम कुमार वर्मा अज्ञात कह कर अज्ञात बनाने का प्रयत्न करते हैं—

देव, तुम अब भी हो अज्ञात।
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे—
प्रथम मिलन की रात।

उसी को निराला भी ढूँढ़ते हैं। जहाँ तक दृष्टि-सीमा है उसमें जब वह नहीं दीखता, तब इस चिन्तन का आश्रय लेते हैं कि संभव है वह दृष्टि-सीमा से परे कहीं हो—

कौन तम के पार ?—(रे, कह)
अखिल-पल के स्रोत जल-जग, गगन-घन-घन-धार।
गंध-व्याकुल-कूल उर-सर, लहर-कच-कर कमल मुख पर,
हर्ष अलि हर स्पर्श-शर, सर
गूँज बारम्बार ! (रे, कह)।

लेकिन यह जिज्ञासा शीघ्र ही शान्त हो जाती है। निराला वहाँ पहुंच जाते हैं जहाँ का यथार्थ बोध साधु-संतों-साधकों के द्वारा प्रचारित होता रहा है। और फिर भी वे स्वार्थ के वशीभूत नहीं होते। प्रभु से जब भी कुछ चाहते हैं तो उसमें समष्टि का भी भाग होता है।

निराला जन्मजात विद्रोही हैं। उनका जीवन तो विद्रोह का साधन है ही, वैयक्तिक, सामाजिक मान्यताओं, रूढ़ियों को नकारना तो जैसे उनकी प्रवृत्ति है। वे तो स्वयं से भी विद्रोह करते हैं। जीवन भर अदीन भाव से, पौरुष और स्वाभिमान के साथ जीने का परिणाम उनके लिए पीड़ा और पराजय-बोध का कारण बनता है। समझौतों को ठुकरानेवाला अंत में स्वयं को अकेला ही नहीं पाता, चारों ओर से निराश और उपेक्षित भी। जीवन भर संघर्षों में अपराजेय सेनापति की भूमिका में कर्मरत व्यक्तित्व को आयु और तद्जनित प्रभाव थका देते हैं। वह स्वयं को करुणा का पात्र समझने लगता है।

निराला दुनिया पर विजय प्राप्त कर स्वयं से हार जाते हैं। इसी हार की वेदना उनके गीतों को एक अविस्मरणीय मार्मिकता प्रदान करती है। और यहाँ तो यही लगता है कि निराला वेदना और करुणा के ही कवि हैं।
'मिट्टी की ओर' में दिनकर जी ने श्रीमती महादेवी वर्मा की पीड़ा को वायवी और आधार-हीन बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि सीताहरण से दुखी, सीता के रुदन-क्रन्दन से प्रभावित वन के पशु-पक्षियों का दुखी होना समझ में आता है, वृक्षों, लताओं, पल्लवों, पुष्पों का उदास हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं लगता। लेकिन महादेवी किसके लिए रोती हैं अज्ञात ही रहता है। इसीलिए उनकी पीड़ा के साथ सहानुभूति नहीं होती।

निराला की पीड़ा महादेवी वर्मा के ठीक विपरीत है। निराला तो काल की गति के पड़नेवाले प्रभाव, उपेक्षा, उपहास, संघर्षों से श्लथ जीवन की निस्सारता से विगलित हैं। इसीलिए उनकी वेदना सामाजिक बन जाती है। इसीलिए उनकी पीड़ा एक सतत् संघर्षरत कर्मठ व्यक्तित्व की पीड़ा लगती है जो युग और काल से पराजित स्वयं पर तरस खाता दिखलाई देता है—

मैं अकेला,
देखता हूं आ रही

मेरे दिवस की सान्ध्य-वेला
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती जा रही—
हट रहा मेला।

× × ×

स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

यहाँ निराला की पीड़ा उनकी अपनी नहीं रह जाती; सम्पूर्ण समाज की बन जाती है, युग की बन जाती है और निराला सहानुभूति के नहीं, श्रद्धा के पात्र बन जाते हैं। उनकी सहनशीलता, आत्मविश्वास, धीरता और उनके कभी भी न टूटने की निष्ठा जैसे पाठक को निराला के प्रति अधिक उत्सुक बनाती है। पाठक सोचने को विवश हो जाता है—क्या यह वही निराला हैं जो अपने अंत को भी जैसे अपने वश में किये बैठे थे—

अभी न होगा मेरा अंत
अभी - अभी तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसन्त।

और आज स्वयं पर जैसे करुणा विगलित होने को अभिशप्त हैं—

आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नही आते, पंक्ति मैं वह हूं लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।"

वैसे निराला इसीलिए गाते रहे हैं ताकि दुख भूल जाय, वेदना नेपथ्य में रहे, मंच पर न आ सके। यहीं यह भी सच है कि निराला ने जितना भोगा है, जितना सहा है वह एक पत्थर को भी पिघला देने के लिए कम नहीं है। जीवन में ऐसी चोटें मिली हैं कि होश भी बेहोश हो जाय—

चोट खाकर राह चलते
होश के भी होश छूटे
हाथ जो पाथेय थे—ठग-
ठाकुरों ने रात लूटे
कंठ रुकता जा रहा है
आ रहा है काल, देखो।
गीत गाने दो मुझे तो
वेदना को रोकने को।

वैसे यहाँ भी निराला का अप्रतिम, अप्रतिहत व्यक्तित्व ही लक्षित होता है जो रुकते हुए कंठ से भी गीत गाने का विश्वासी इसीलिए है कि गीत की अवधि में वेदना तो भूली रहे। वैसे वह अपनी यथार्थ स्थिति से अपरिचित नहीं है। उसे भी समय का बोध है, वह भी जीवन जगत की वास्तविकता के साथ ही साथ अपनी वर्तमान-दशा को झुठलाना नहीं चाहता—

आग सारी फुक चुकी है
रागिनी वह रुक चुकी है
स्मरण में है आज जीवन
मृत्यु की है रेख नीली।

यहाँ पहुँच कर, कवि को भी वृद्धावस्था का बोध होता है और तब वह सब कुछ को भुला देना चाहता है। न तो ऋद्धि-सिद्धि से कुछ लेना-देना है और न हीं भौतिक सुविधाओं से। यह सब तो नाशवान है, क्षण भंगुर है।

वृद्ध हूं मैं, ऋद्धि की क्या,
साधना की, सिद्धि की क्या,
खिल चुका है फूल मेरा
पँखुड़ियाँ हो चलीं ढीली।

वैसे यही बोध सब को नहीं होता। अधिकतर जन तो वृद्धावस्था में विशेष लोभग्रस्त हो जाते हैं और वह सब कुछ जोड़ लेना चाहते हैं जो जीवन भर संभव नहीं हुआ रहता। जनाब 'सौदा' की-सी तटस्थता तो निराला जैसे विरलों में ही देखी जाती है—

फ़कीराना आये, सदा कर चले
मियाँ खुश रहो, हम दुआ कर चले।

निराला ने कथ्य के साथ ही गीत के शिल्प-विधान को भी तोड़ा ही नहीं है, उसे नवीनता भी प्रदान की है। छंदों, अलंकारों के साथ ही साथ भाषागत परिवर्तन और उत्तरोत्तर सहजता निराला के प्रयोग के ही रूप हैं।

प्रार्थना गीतों में जहाँ भक्तिकालीन कवियों की तरह पदों का प्रयोग दीखता है, वहीं गीतों की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा भावानुकूल बन पड़ी है—

दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये—
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा।
हरे तन-मन प्रीति पावन
मधुर हो मुख मनोभावन
सहज चितवन पर तरंगित
हो तुम्हारी किरण तरुणा।
दलित जन पर करो करुणा।

निराला के प्रारम्भिक गीतों में जहाँ अनुप्रास, उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का प्रयोग जैसे सायास किया गया लगता है, भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त कहीं-कहीं तो संस्कृत ही लगती है, वहीं परवर्ती गीतों में सब कुछ सरल, सहज और अनायास-सा लगता है।

प्रतनु शरदिन्दु - वर
पद्म - जल - बिन्दु पर
स्वप्न जागृति सुघर
दुःख निशि करो शयन।
पावन करो नयन।
कण-कण कर कंकण प्रिय
किण-किण रव किंकिणी
रणन-रणन नूपुर उर-लाज
लौट रंकिणी।

इन पंक्तियों से यदि क्रिया पद हटा दिए जाँय तो कविता संस्कृत भाषा की ही बन जायेगी। यही स्थिति परवर्ती गीतों में नहीं है। वहाँ तो भाषा भी जन साधारण की है और छन्द भी जैसे स्वतः स्फुरित।

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !
यह घाट वही जिस पर हँसकर
वह कभी नहाती थी धँसकर
आँखें रह जातीं थी फँसकर
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु !

यहाँ यह भी विचारणीय है कि सम्पूर्ण छायावाद-कालीन रचनायें प्रिय और प्रियतम के सम्बोधनों से बोझिल हैं, 'बन्धु' शब्द का प्रयोग एक मात्र निराला की अपनी पहचान है। सहजता का ऐसा उदाहरण केवल पारस्परिक वार्तालाप में तो मिलता है, रचनाओं में दुर्लभ है।

यही स्थिति भाषा की है। कहाँ कण-कण, किण-किण वाली प्रतनु शरदिन्दु युक्त तत्सम शब्दावली और कहाँ ठाँव, गाँव, दाँव वाली बोली का ठाट। छन्दों के क्षेत्र में भी गीतों का वर्गीकरण कई खानों में किया जा सकता है।

निराला के गीत-प्रयोग ने ही 'नवगीत' आन्दोलन को प्रेरणा दी है। कवि श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने नवगीत के संदर्भ में निराला के योगदान का स्मरण करते हुए लिखा है—"निराला ने गीति-कविता के भाव, भाषा और शिल्प को लेकर जितने प्रयोग किए हैं, नवगीत उन्हीं प्रयोगों की उपज है।" ●

माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा निराला की प्रतिभा का आकलन

डॉ० जगदीश गुप्त

निरालाजी से मेरा विशेष सम्पर्क उस समय हुआ जब मैं सन् १९४८ से "मोती महल" दारागंज में निवास करने आया और बाद में घर बनाकर गंगा-तटवासी बन गया। किन्तु निरालाजी अन्त तक "अनिकेतन" ही रहे। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी (भैया साहब) को श्रेय है कि उन्हें वे लखनऊ से प्रयाग ले आये। कुछ दिनों तक निरालाजी उनके साथ फिर एक तीर्थ-पुरोहित के यहाँ वेणी माधव मन्दिर के सामने की गली में रहे जहाँ उन्होंने पूज्य दद्दा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का स्वागत अपने द्वारा लाये गये नये घड़े के गंगाजल से किया। कालान्तर में वे एक कलाकार श्री कमलाशंकर सिंह के पारिवारिक सदस्य होकर बाहरी कमरे में तखत बिछाकर रहने लगे। बगल की आलमारी में कुछ पुस्तकें रहती थीं, जिन्हें वे पढ़ते रहते थे और लिखने की सामग्री, जो उन्हें कविता लिखने की प्रेरणा देती रहती थी।

मुझे ज्ञात है कि माखनलाल चतुर्वेदी श्रीनारायण चतुर्वेदी के यहाँ प्रयाग यात्रा में प्रायः आते थे और वहीं भैया साहब के दरबार में दोनों कवियों की भेंट हो जाती थी। एक ओर विशालकाय निराला जी और दूसरी ओर सिंहकाय माखनलाल चतुर्वेदी जी। एक ओर गांधीवादी खद्दरधारी भारतीय आत्मा माखनलाल चतुर्वेदी और दूसरी ओर प्रायः नंगे बदन रहने वाले मनमौजी निराला जी, जो चतुर्वेदी जी को प्रभूत आदर प्रदान करते थे। मैं इसका साक्षी हूं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंचों पर भी माखनलाल चतुर्वेदी एवं निराला जी एकत्र हुए होंगे पर कोई छायाचित्र मेरे सामने नहीं है जिसके आधार पर मैं ऐसी भेंट का प्रमाण दे सकूँ। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त दोनों के लिए प्रेरणा के स्रोत थे इसमें कोई सन्देह नहीं। नवीनजी तथा अन्य राष्ट्रीय धारा के कवि दोनों के सम्पर्क में थे। जैसे गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और सोहनलाल द्विवेदी। गणेशशंकर विद्यार्थी के उत्सर्ग की चेतना उनके क्रांतिकारी तथा बलिपंथी रूप की स्मृति दोनों में सजीव थी। कानपुर जिसका केन्द्र बना। निरालाजी से पूर्व मैं कानपुर में माखनलाल चतुर्वेदी तथा 'सनेही' जी के सम्पर्क में आ चुका था किन्तु कार्य रूप में निरालाजी का दर्शन माखनलालजी से पूर्व मुरादाबाद में हो चुका था। सन् १९४० के आस-

पास "गोकुलदास गर्ल्स कालेज" में विश्वम्भर मानव एवं शकुन्तला सिरोठिया द्वारा जब निराला जी आमंत्रित किये गये तब मैं विद्यार्थी के रूप में उनकी कविता का श्रोता बना। "यह गर्म पकौड़ी" कविता मैंने वहीं सुनी। निरालाजी की गम्भीर कविताओं के साथ-साथ व्यंग्यात्मक कविताएँ भी सराही गईं किन्तु माखनलाल जी की कविता में विद्रोह अधिक था व्यंग्य कम। एक प्रकार से माखनलाल जी छायावाद के पूर्वपुरुष थे। यह विडम्बना है कि कवि के रूप में उनकी विशेष मान्यता तभी हुई जब उनके संग्रह प्रकाशित हुए। "समर्पण" में सन् १९२४-१९२६ तक की उनकी कविताएँ प्रकाशित हैं जो निश्चित रूप से छायावाद के उद्भव का प्रारम्भिक काल था। माखनलालजी की ख्याति उनकी कविताओं से अधिक उनकी धाराप्रवाह ओजस्वी भाषण-शक्ति से हुई जिसे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि सबने प्रभूत सराहना प्रदान की। "साहित्य-देवता" जब लीडर प्रेस से पहली बार मुद्रित हुआ तब उसका आवरण चित्र मैंने ही बनाया था। इसकी प्रशंसा पाठक जी ने तथा माखनलाल जी के अनुज एवं प्रकाशक ब्रजभूषण चतुर्वेदी ने की। यह कृति हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। हिन्दी ही क्यों ऐसा गद्य भारतीय साहित्य तथा विश्व-साहित्य में भी अपनी प्रतिष्ठा बनाने के योग्य माना गया। सितम्बर १९४३ में यह प्रथम संस्करण माखनलाल चतुर्वेदी जी के लिए कीर्ति-स्तम्भ के रूप में सिद्ध हुआ। "हिमकिरीटिनी" एवं "हिमतरंगिनी" जैसी अन्य काव्यकृतियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि माखनलाल चतुर्वेदी भारतीय काव्य-साहित्य में अद्वितीय व्यक्तित्व रखते हैं।

निश्चय ही माखनलाल चतुर्वेदी ने समस्त छायावादी कवियों तथा राष्ट्र-वादी कवियों पर व्यापक प्रभाव डाला। जिसका इतिहास साक्षी है।

माखनलाल चतुर्वेदी ने निरालाजी के सम्बन्ध में एक लम्बी कविता "निराला" शीर्षक से लिखी जो उनकी काव्य-कृति "माता" में दिसम्बर ४४ में प्रकाशित हुई। बाद में "माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली" के खण्ड-६ में यह पृष्ठ २३१ से पृष्ठ २३६ तक मुद्रित है। इस कविता में "एक भारतीय आत्मा" ने निराला को "निश्चय एक प्रचण्ड निराला" के रूप में प्रस्तुत किया जिसे संसार ने सही रूप में नहीं समझा। माखनलाल जी ने लिखा—

"वह आँसू का हार नहीं, भुजदण्डों में संहार लिए है
प्रतिभा के मरुथल में वह, सूझों का पारावार लिए है।"

इस लम्बी कविता के अन्त में पूज्य दादा ने लिखा :—

"आ तेरे/इन बलिदानों पर/थोड़ा चन्दन/चर्चित कर दूँ/
तेरे जी के घावों को आ,/युग के/तरुण रुधिर से/भर दूँ।)

आ तेरी/जीवित मौतों को/जीने का/त्यौहार बना दूँ/
सूझों के मन्दिर के गायक/तेरी कीर्ति-रागिनी गा दूँ"/

निराला जी ने एक भारतीय आत्मा को समादर तो दिया पर इस तरह की कविता उन्होंने लिखी हो, मुझे ज्ञात नहीं। "समय के पाँव" में जिन लोगों को पूज्य दादा ने स्मरण किया उनके व्यक्ति चित्र अपनी लेखनी से बनाये, उनमें निराला जी भी हैं ऐसा मुझे याद पड़ता है। प्रसाद जो, महादेवी जी, पंत जी हों और निराला न हों ऐसा नहीं हो सकता पर पुस्तक ही इसका प्रमाण देगी।

माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली के चौथे खण्ड में "निराला: उनकी समाधि से प्रेरणा की सुगन्ध आती रहेगी।" रचना समाहित है। कर्मवीर अक्टूबर १९६२ में माखनलाल चतुर्वेदी जी ने निराला जी के निधन पर जो उद्‍गार प्रकट किये वे मैं अविकल रूप से प्रकट कर रहा हूँ—

माखनलाल का अभिमत :

निराला : उनकी समाधि से प्रेरणा की सुगन्ध आती रहेगी

निराला हिन्दी भाषा में उस सूझ का नाम है जो बेदाग आई थी और बिखरकर चली गयी। मेरे तरुण मित्रों को सोचना यह है कि युग जो चरण-चरण इतना बढ़ गया था, वह निराला के साथ मर तो नहीं गया। पहले पहल निराला जी मुझे कलकत्ता में अपने अनेक साथियों को लेकर मेरे और स्व० गणेशशंकर विद्यार्थीजी के मित्र श्री नारायण कांया से मिले थे। उस समय उन्होंने अपनी नयी अतुकान्त कविताएँ भी सुनायी थीं। उस समय उन कविताओं को सुनकर लगा था कि हिन्दी का एक युग समाप्त हो रहा है और दूसरा युग आने की झिझक में व्यस्त। निराला जी ने हिन्दी को एक युग प्रदान किया। हिन्दी भाषा में श्रीमती महादेवी वर्मा यदि विश्वास की तरह अडिग हैं, अटल हैं, तो श्रीयुत सूर्यकान्त निराला सूर्य चन्द्र और नक्षत्रों की तरह घूमते हुए युग-प्रवर्तक हैं। इसके पहले निराला जी श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा तथा उनके पतिदेव श्री चौधरीजी के सान्निध्य में उन्नाव में युगमन्दिर में रहा करते थे। कहते हैं उन्होंने अपनी तुलसीदास, बिल्लेसुर बकरिहा आदि वहीं लिखी थी। मेरे निकट तो विश्व में प्रतिभा का मूल्य सदैव कष्टदायक रहा है, जो उनकी (प्रतिभाशीलों) की बराबरी नहीं कर सका वे कष्ट देते हैं। साहित्य में जो लोग सोचते हैं कि मेरे लिखने से मेरी रोटी देने वाला तो नाराज नहीं हो जायेगा, मेरी प्रशंसा करने वाला तो नहीं रूठ जायेगा, मुझे परिवार से देश-निकाला तो नहीं दिया जायेगा, समाज से तिरस्कार की दृष्टि से तो नहीं देखा जायेगा, मुझ पर जमाने का शासन तो नहीं टूट पड़ेगा? तो इतने छन्नों में

छाने जाने के बाद साहित्य के कण रह ही कहाँ जाते हैं ? श्री सूर्यकान्त जी ने जन्म से जीते रहने तक किसी भी विरोध की परवाह नहीं की। वे जब तक जिए संघर्ष करते रहे, इसीलिए कविता में जो संघर्ष करे उसका नाम और उसका काम "निराला" होना ही चाहिए।

मुझे तो प्रारम्भ में ही इस तरुण ने मोह लिया था। अतः मैं सम्यक् विरोध में भी शामिल न हो सका।

हिन्दी कविता में वादों की बहुत चर्चा होती है। वादों को सूली दी स्व० श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" ने इसीलिए जाने कितने अपवादों को सहन किया। कवि का मार्ग "कहना" होता है, माना, किन्तु उसकी "कहन" उसकी सहन में से आती है। इसीलिए निराला की बात में रस है, इसीलिए युग बेबस है कि निराला की कीर्ति में कुछ करे। माना निराला समाधिस्थ हो चुके है किन्तु उनकी समाधि में से प्रेरणा की सुगन्ध आती रहेगी, जो युग के भोजन का काम करेगी, उनके लिए, जो उस प्रेरणा को ग्रहण करेंगे। हिन्दी संसार की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए जिसने मीरा को सिर पर चढ़ाया, कबीर की साखियों को आदर की दृष्टि से देखा, सूरदास के पदों से मन बहलाया और तुलसीदास की क्रान्ति को समझ सका। इसीलिए श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने जब काशी में निराला का अभिनन्दन रचा, तब जानकार लोग हिन्दी के स्वभाव को जानते थे कि वह धनिकों की घोर उपेक्षा करके गरीब प्रतिभाओं का सम्मान किया करती है।

निराला की याद का मैं सम्मान करता हूँ।

निराला-साहित्य : आधुनिक युग परिवेश में

पं० भूपेन्द्रनाथ शुक्ल

विश्वजनीन साहित्य अथवा कालजयी साहित्य इन दोनों की अवधारणाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं, और यदि हो भी तो निराला-साहित्य इन सभी मान्यताओं से परिपूर्ण है। यही कारण है कि सन्त तुलसी का साहित्य जिस प्रकार आज भी मान्य, पथ प्रदर्शक एवं विश्वजनीन है और सदैव बना रहेगा, उसी प्रकार निराला साहित्य के माध्यम से समय एवं परिस्थितियों की उद्‌भूत समस्याओं का संवेदनशील निराकरण होता रहेगा। कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाएँ कालजयी अवश्य हैं किन्तु वह ऊँचे महल से उतर कर समृद्ध संसार की भावभूमि पर मान्यता की केन्द्र बनी और उनको उन्हीं हाथों से पुरस्कार भी प्राप्त हुआ; किन्तु धरती पर उगा कुकुरमुत्ता यदि साधारण जन-जीवन की पीड़ा अपने में समेटता उसकी सामूहिक वाणी बन जाय; वह जो कहे उसे करे, वह दुखी दलित, मर्माहत की वाणी का स्वर बन कर मुखरित हो तो वह राजनीति में 'गाँधी' और साहित्य में 'निराला' के अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता। देश की पीड़ा का उन्मुक्त स्वर निराला की साहित्य बाँसुरी से इसलिए निनादित हुआ क्योंकि देश के नब्बे प्रतिशत व्यक्तियों से सम्बन्धित अथाह समस्याओं एवं दुखदर्द को उन्होंने निकट से देखा-परखा था। बगाल के परिवेश में लालन पालन किन्तु धमनियों में बैसवाड़े का रक्त, दोनों का समन्वय, निराला की निराली विधा में फूट निकला। महान व्यक्तित्व की आत्मा से क्षमा प्रार्थी होता हुआ कहने का निर्भीक साहस करूँगा कि सन् १९१२ में प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत हेतु जो गीत—'जनगणमन अधिनायक, लिखा गया था और जो आज देश का मान्य राष्ट्रगीत बना, उसके ठीक प्रतिकूल निरालाजी ने उस ब्रिटिश शासन के विरोध में आवाज़ उठाई :—

> **जागो फिर एक बार !**
> **समर में अमर कर प्राण,**
> **गान गायें महासिन्धु से**
> **सिन्धुनद तीर वासी**
> **सैन्धव तुरंगों पर**
> **चतुरंग चमू संग**
> **सवा-सवा लाख पर**

एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा ?

० ० ०

सिंहो की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान।
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है
किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है
स्मरण करो बार बार
जागो फिर एक बार।

बंगाल की भावभूमि, शरत् एवं बंकिम की साहित्यिक दृष्टि, कवीन्द्र एवं नजरुल इस्लाम की काव्य छाप की साहित्यिक पीठिका पर समाज की विकृत स्थिति एवं राष्ट्र की पराधीनता ने बैसवाड़े के इस युवक को नवीन भंगिमा एवं प्रखरता प्रदान की। बंगाल से आकर गढ़ाकोला की फूटी मठिया और टूटी खटिया पर विश्राम कर, चतुरी चमार और कुल्लीभाट जैसे व्यक्तियों से जुड़कर समाज की विकृत समस्याओं के निराकरण हेतु लेखनी उठाई। इस महापुरुष की लेखनी से समाज का कोई कोना शेष न रहा। पर लेखनी के पैनेपन ने उन्हें प्रदान किया संघर्ष, गरीबी और पीड़ा।

निराला की लेखनी उठी कि साहित्यकारों के मध्य हाहाकार मच गया। उनकी कविता कविता नहीं मानी गई। 'जुही की कली' नामक कविता, जिसे आज का साहित्य संसार कई दृष्टि से उच्चतम, प्रांजल और रचनाकार की उत्कृष्ट रचना मानता है, जब द्विवेदी जी के पास प्रकाशन के लिये भेजी गई तो उन्होंने छपने के योग्य न मानकर इसे वापस कर दिया। १९२३ में जब 'अनामिका' पुस्तक

छपी, इसे उसमें स्थान मिला। इस शृंगारिक रचना का शिल्प कितना पवित्र है यह देखते ही बनता है, 'जुही की कली' सुन्दर धवल एवं अन्तःस्निग्ध उस अवस्था की द्योतक है जब किशोरावस्था से आगे बढ़कर कोई युवती यौवनावस्था की ओर बढ़ती है। उस कली के सौन्दर्य एवं मदालसा की सुगन्ध प्राप्ति हेतु पवन दूर देश से आता है—जिसे मलयानिल कहते हैं। कवि का कौशल और अभिव्यंजना की शैली साहित्यानुरागी मन को शृंगारिकता से विचलित न कर मन को मुग्ध कर देने में सक्षम हैं। सब कुछ कहकर भी मन वासनामय नहीं होता, शब्दों का चयन, वाणी का प्रांजल स्वरूप, भावाभिव्यक्ति पर असाधारण नियन्त्रण, कवि का माधुर्य स्वरूप बड़ी कुशलता से सामने प्रति-लक्षित कर देता है। ऐसे प्रसंग 'राम चरित मानस' में भी आये हैं। शंकरजी को घोर तप की साधना से विमुक्त करने हेतु जब कामदेव को भेजा गया और कामदेव ने काम की बयार चलाई तो सारा संसार, जड़चेतन काममय हो गया उस कामपूरित पवन ने वनों, वल्लरियों, लताओं, नदी-नद, सिन्धु सभी को काम मय कर दिया किन्तु निरालाजी का काम-पवन मर्यादा नहीं तोड़ता, यह पवन भागता हुआ—'**उपवन, सर सरित, गहन**
गिरि, कानन, कुंज लता, पुंजों को
पार कर पहुँचा'

किन्तु कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता दिखाई पड़ा। प्रेम की लपेट में वासना का नंगा नृत्य नही दिखाई पड़ता। हो सकता है परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों किन्तु प्रकृति और पुरुष का इतना निकट का संवेदनशील दृश्य एक कुशल शिल्पी द्वारा ही किया जाना सम्भव है—जिसका आचार्यत्व निरालाजी को निर्विवाद रूप से प्राप्त है।

यह तो एक दिशा हुई, किन्तु कितने साहित्यकार ऐसे हैं जिनके साहित्यिक जीवन के साथ, चतुरी चमार, बिल्लेसुर, बकरिहा, कुल्लीभाट जीवन्त पात्रों के रूप में साथ रहे! ग्रामीण जीवन, बैसवारा का परिवेश, गरीबी का आलम, ऊँच-नीच का भाव, सामाजिक कुरूपतायें आदि ने निराला जी को पूँजीवादी समाज के विरुद्ध लेखनी उठाने के लिये आगे बढ़ाया।

'निराला' जी का विविधतापूर्ण लेखन प्रमुख रूप से समाजवादी अवधारणाओं की ओर उन्मुख इस कारण से भी हुआ कि उन्होंने बंगाल तथा गढ़ाकोला के अपने ग्रामीण जीवन में गरीबी, शोषण, उत्पीड़न एवं ब्रिटिश शासन की क्रूरताओं का नग्न नृत्य देखा था। वह राष्ट्रवादी थे, पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ना चाहते थे, जमींदार, तालुकेदार, साहूकार, मिल मालिक अपनी शक्ति एवं धनबल का प्रयोग कर उत्पीड़न के स्रोत बन गये थे। उस पर व्यंग्य करते हुए निराला जी लिखते हैं—

जमींदार की बनी
महाजन धनी हुये हैं
जग के मूर्त पिशाच
धूर्तगण गनी हुये हैं

इसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों पर जब उनकी दृष्टि पड़ती है तो खुलकर पूँजीवाद को कोसते हैं। चक्की में स्वयं आटा पीसकर खाने वाला 'निराला' वास्तविकता को निकट से देखकर लिखता है—जिसकी बदौलत आज पूँजीपति गुलाब का फूल बना बैठा है, वह वर्ग भूखा और नंगा है, इस धनी वर्ग ने उसका रक्त चूसा है। 'कुकुरमुत्ता' नामक कविता में स्पष्ट शब्दों में इस धनी वर्ग को कोसते हुए 'निराला' जी लिखते हैं :—

"अबे, सुन बे, गुलाब
भूल मत, पाई जो खुशबू
रंगोआब,

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट,
रोज डाला गया है तुझ में पानी
तू हरामी खानदानी।"

जब रास्ते पर चलते हैं तो आँखें खोलकर चलते हैं और उन निस्पृह प्राणियों पर निगाह जाती है जो वृहत्तर समाज के अंग हैं। भरी दोपहर, बिना छाया के एक स्त्री पत्थर तोड़ती दिखती है। दिल दहल जाता है, उसकी दयनीयता पर। विह्वल होकर कवि सम्राट निराला का स्वर फूट पड़ता है। वह दरबारी या सामन्ती कवि न होकर धरती के ऊपर जन्मे दुर्भाग्यपूर्ण प्राणियों को देख सहृदयता से लिखते हैं :—

"वह तोड़ती पत्थर।
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर

सैकड़ों और हजारों उस मार्ग से दिन भर निकलते हैं किसी का मन नहीं पसीजा। सामने हवेली है, बड़े बड़े पेड़ और लतायें हैं किसी ने छाँह के लिये नहीं पूछा, किन्तु 'निराला' के प्राण इन नत नयनों के प्राणों से संवेदित होकर गीत गा बैठते हैं और परोक्ष से उस हवेली के रहने वालों के लिये मातम का संदेश देते हैं।

वह सामने की हवेली निरालाजी की आँखों में खटकती है। एक ओर धूप में हथौड़ा चला पत्थर तोड़ती युवती और दूसरी ओर हवेलियों में रहने वाले निर्दय धनी जो उसी पत्थर तोड़ने वाली के श्रम पसीने से निर्मित हवेली

में रहते हैं, निरालाजी की पीड़ा के साथ आक्रोश भी जन्म ले लेता है। आगे बढ़कर देखा तो लड़के ज़मीन पर बैठे कुछ पढ़ रहे हैं और कुछ गा रहे हैं। पढ़ने के लिये भवन नहीं, बैठने को स्थान नहीं, बिछाने को साज-सज्जा नहीं 'यह है भारतीय समाज'। दुःखी हो कवि कहता है :—

जल्द जल्द पैर बढ़ाओ, आओ आओ
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे, अँधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ

यह क्रान्ति की भावना, यह भावी संदेश, और यह समाज की उत्पीड़ित दशा का अवलोकन। सोते, जागते, चलते-फिरते, समाज की वितृष्णा पर पैनी निगाह रखता हुआ जिसका हृदय दरिद्रता देखकर उद्वेलित हो उठता हो, उसी निराला ने तो लिखा :—

"वह आता
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता,
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी, पुरानी झोली का फैलाता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

कितनी हृदयविदारक स्थिति है ! पेड़ों पहाड़ों के प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन के साथ-साथ धरती की ओर सजग दृष्टि। यह धरती पुत्र 'निराला' की नजर थी जो करोड़ों पीड़ित, वंचित, भूखे-नंगे देशवासियों के बीच रहकर उनके बोझ को अपना बोझ मानकर समाज को साथ लेकर चलने के पक्षधर थे। उन्होंने अपने प्राणों को लाखों प्राणों में समाहित कर संवेदना के स्वर ही नहीं व्यक्त किए वरन् क्रान्ति का शंखनाद भी किया।

सन् १९३३-३४ का समय था। किसान आन्दोलन उठते पर दबा दिये जाते। कांग्रेस किसानों के आन्दोलन की अगुवाई करती फिर भी लगता था कि यह कभी-कभी समझौतावादी राजनीति में पड़ जाती। निरालाजी का जीवन भी तो किसानों के बीच का था। उन्हें यह कदापि सह्य नहीं था कि तहसीलदार, डिप्टी, दरोगा सभी शासन के डंडे की बदौलत, किसान को

उत्पीड़ित करते, बेगार लेते। निरालाजी की विद्रोही आत्मा इसे सहन नहीं करती वह लिखते हैं :—**गोड़यत कह रहा है**

ऐसे वैसे नहीं हैं

डिप्टी साहब बहादुर तशरीफ ले आये हैं

× × ×

उनके साथ और अफसरान हैं

जैसे दरोगा जी,

बीस सेर दूध दोनों घड़ों में जल्द भर,

वह चाहते थे इस अत्याचार से खुलकर लड़ाई हो, भारत स्वतन्त्र हो, देहात की जनता बेगार से छूटे। स्वतन्त्र भारत भी कैसा हो, उसका चित्र भी उन्होंने खींचा :— **'सारी सम्पत्ति देश की हो**

सारी आपत्ति देश की बने

जनता जातीय वेश की हो।'

इसीलिये माँ सरस्वती से वह प्रार्थना करते हैं :—

'भारति जय विजय करे

कनक शस्य कमल धरे'।

इस सबके लिये त्याग की आवश्यकता होगी। निर्भय होकर पूरी जनता को संघर्ष में झोंक कर स्वतन्त्रता प्राप्त करनी होगी—

'निर्भय अपने को

और दुर्बल समाज को

करके दिखाना है

स्वाधीनता का ही

एक और अर्थ निर्भय है'।

इस दिशा में जितना लिखा जाय थोड़ा है। निराला साहित्य का यह पक्ष आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भी उतना ही प्रासंगिक है जितना परतन्त्रता के समय था। उनके साहित्य का दूसरा पहलू अध्यात्म की दिशा की ओर आकृष्ट था और उसकी ऊँचाई स्वामी विवेकानन्द के सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं से उद्भूत है। छायावाद और रहस्यवाद की रचनाओं का भी उस समय काफी प्रसार था, किन्तु निरालाजी दोनों को एक दूसरे का पर्याय ही मानते थे। 'तुम और मैं,' कविता में—वे आत्मा और परमात्मा को एक ही पिण्ड के अंश और अंशी मानकर लिखते हैं—

'तुम तुङ्ग हिमालय शृंग, और मैं चंचल गति सुर सरिता

तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मैं कान्त कामिनी कविता'

इसी प्रकार 'राम की शक्ति पूजा', भले ही वह कृत्तिवास रामायण आधारित हो या अन्य ऐतिहासिक कथाओं से, यहाँ पर इतना ही समीचीन है कि 'निराला' जी अनीश्वरवादी नहीं थे। राम रावण युद्ध वर्णन में वैष्णवी एवं शक्ति पूजा का समन्वय ईश्वरीय शक्ति में उनकी अटूट श्रद्धा का परिचायक काव्य है। यही नहीं निराला भक्ति मार्ग के भी पक्षधर थे। वे पूजा के भजन भी लिखते हैं और आत्म प्रक्षालन हेतु भगवान के चरणारविन्द की उपासना भी करते हैं :—

दलित जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा।
× × ×
भजन कर हरि के चरण, मन !
पार कर मायावरण, मन।

साहित्यिक विधायें उन्होंने कविता ही नहीं कहानी उपन्यास, रेखाचित्र एवं निबंध संग्रह इत्यादि की भी चुनी और सब में एक उद्देश्यपूर्ण भाव प्रदर्शित किया। विशेषता सब में यह रही कि वह अपनी दीनता के साथ-साथ राष्ट्र और समाज की दीनता के साथ भी जूझते रहे। वे परतन्त्रता के निवारण हेतु उद्बोधन, जागरण के गीत एवं जुझारू काव्य से समाज को जागरूक तथा साहित्य को समृद्ध करते रहे। 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी ओजस्वी कविता में, महाराज जयसिंह, जो मुगल सम्राट के सेनापति हैं, को धिक्कारते हुए वे लिखते हैं :—

वीरता की गोद पर
मोद भरने वाले शूर तुम
मेधा के महान
राजनीति में हो अद्वतीय जयसिंह
सेवा हो स्वीकृत—
है नमस्कार, साथ ही
आसीस है बार बार।
× × ×
सुना है मैंने, तुम
सेना से पाट दक्षिणा-पथ को
आये हो मुझपर चढ़ाई कर
जय-श्री, जयसिंह।

मोगल-सिंहासन के—
औरंग के पैरों के—
नीचे तुम रखोगे
× × ×
मोगलों को तुम जीवनदान
काढ़ हिन्दुओं का हृदय
× × ×
चेतो वीर, हो अधीर जिसके लिये
अमृत नहीं गरल है—
अति कटु हलाहल है
× × ×
पास ही तो-देखो
क्या कहता है चितौरगढ़ ?
मढ़ गये ऐसे तुम तुर्कों में ?
करते अभिमान भी किन पर—
विदेशियों—विधर्मियों पर !
× × ×
और यदि एकीभूत शक्तियों से एक हो
बन जाय परिवार
× × ×
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जायेंगे
मिलो राजपूतों से, घेरो तुम दिल्ली गढ़
× × ×
खून की पियेंगी धार
संगिनी सहेलियाँ भवानी की

महाप्राण निराला की बहुआयामी साहित्य यात्रा में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत कुछ शेष है। संसार में ऐसे वाणी के वरद्पुत्र शायद ही कहीं देखे गये हों और भविष्य में देखे जाँय। माँ भारती के अनन्य पुजारी निराला जी का दुर्भाग्य रहा कि उनका साहित्य, उनका विचार, उनकी कला, उनका साहित्यिक उद्बोधन उनके जीवनकाल में उतनी प्रतिष्ठा नहीं पा सका जितनी उसकी प्रासंगिकता आज है। यह कहा जा सकता है कि जब तक सृष्टि का स्वरूप जन-जीवन से अभिभूत रहेगा, तब तक 'निराला' का साहित्य, उनका उद्बोधन जीवन भरता रहेगा, प्रेरणा देता रहेगा, दलित पीड़ित और असहाय जनों के सहारे के लिये लाठी का काम करता रहेगा।

निराला - बाबा को नमन

डॉ० रामजी पाण्डेय

वैसे तो बाबूजी (स्व० श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय) द्वारा निराला के बारे में इतना सुन-जान चुका था कि बिना देखे भी वे बाबा जैसे लगने लगे थे, और उनके व्यक्तित्व का शक्तिशाली, पौरुषमय रूप जो कि अनवरत संघर्ष ही करता रहा, का चित्र बन गया था। उन्हीं के शब्दों में—

कवि तुम, एक तुम्हीं
बार-बार सहज झेलते सहस्रों वार
निर्मम संसार के।
दूसरे के अर्थ ही लेते दान
महाप्राण ! जीवों में देते हो
जीवन ही जीवन जोड़
मोड़ निज मुख से सुख।

निराला ने भाषा, भाव, छंद, वेश-भूषा, सामाजिक मान्यताओं, रूढ़ियों की सम्पूर्ण परम्परा से विद्रोह किया। परम्पराओं को तोड़ने वाला व्यक्ति इस बात को जानता है कि जो वह तोड़ रहा है उसके साथ उसे बहुमूल्य बनाना भी है, निराला ने वही किया। नया करने का, नया रचने का भाव निरन्तर निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व में रहा।

जब मैंने निराला को देखा तो वे जर्जर हो चुके थे—

देखता हूँ आ रही,
मेरे दिवस की सांध्य वेला
मैं अकेला।

इस निराशा की स्थिति के बीच भी जीवन के प्रति जबर्दस्त मोह था उनका। अन्यथा बच्चों के साथ कोई इतने सहज रूप में खेल नहीं सकता। उनके साथ बिताये हुए दिनों और उनसे प्राप्त आत्मीयता, स्नेह से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि वे अपनापन, प्यार के भूखे थे जो उन्हें प्रायः नहीं मिला। उनके बड़े से पेट में या रूखे चेहरे में जब मैं हाथ फेरता तो कैसे वे पुलकित होते थे। उनकी पंक्तियाँ हैं—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा

० ० ●

"स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है।"

उनकी ये कविता की पंक्तियाँ मैंने उनमें साकार होते देखी हैं। किसी नदी के किनारे थोड़ी-सी बालू हटाते ही जैसे पानी की धार निकल आती है, ऊपर से असहज दिखने वाले निराला भीतर से वैसे ही बहुत सहज, सरल और निश्च्छल थे।

इलाहाबाद में गंगा किनारे रसूलाबाद घाट में स्थित 'साहित्यकार संसद' जहाँ बाबूजी वर्षों रहे हैं, वहाँ निरालाजी भी बीच-बीच में कई बार आकर रहे हैं। उस अबोधपन में जो मैंने निराला को देखा, समझा, उससे आज इसी नतीजे पर पहुँचा हूं कि उनकी तमाम कवितायें उनके व्यक्तित्व का साकार रूप देती हैं। कभी वे 'जुही की कली' की तरह कोमल, सुकुमार और रूमानी तो कभी 'बादल' की भाँति उन्मुक्त त्यागी और उदार। कभी 'शिवाजी का पत्र' का ओज उनमें दिखता है तो कभी 'राम की शक्ति पूजा' की विवशता, जिसमें उन्होंने लिखा है—

धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध।

निराला ने 'विधवा' कविता में जो चित्र खींचा है, कभी-कभी मुझे लगता है कि यदि इसे विधवा का चित्र न मानकर निराला के लिए ही कह दिया जाये तो असंगत न होगा। कई बार कई मौकों पर मैंने उन्हें इसी भाव से देखा।

"वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर-काल तांडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन"

निराला में व्यंग्य विनोद उपहास का भी एक गहरा भाव था जो उनकी कविताओं—'गरम पकौड़ी', 'प्रेम संगीत', 'मँहगू-मँहगा' के साथ विशेष कर 'कुकुरमुत्ता' में स्पष्ट रूप देखने को मिलता है।

निराला सहज ही मेरे लिए बाबा थे, और मैं उनके लिए 'जूनियर पाँड़े' या "रामू"। साहित्यकार संसद में रहते हुए उन्हें हमेशा लगता था कि मैं सतना से आऊँ और मुझे भी यहाँ आने पर निराला के साथ जो उन्मुक्त प्यार

मिलता था वह अद्‌भुत था। बच्चों के साथ कैसे वो बच्चे बन जाते थे—तद्‌वत। उनमें शाश्वत शिशु का भाव हमेशा बैठा रहता था। इसीलिए वे आदमियों के ही नहीं, जानवरों के बच्चों को भी अपना लेते थे। यह मात्र किंवदन्ती ही नहीं है, बल्कि हकीकत है कि एक कुतिया अपने छोटे पिल्लों को मुँह में दबाकर निराला के पास रखवाली के लिए छोड़कर निश्चिन्त भाव से इधर-उधर चली जाती थी। परिवार के बड़े-बूढ़ों का जो बच्चों के प्रति वात्सल्य भाव हो सकता है वही भाव उनका होता था। घन्टों हम लोगों के साथ 'चन्दा' (कौड़ियों से खेला जाता है) 'रामतूल' (पत्थर की गोटियों से खेला जाता है) और ताश के कई प्रकार के खेल खेलते थे। हम लोग उन्हें परेशान करते और वे बिना यह जताये कि वे परेशान हो रहे हैं, होते रहते थे। वे बिना चिढ़े, बिना थके खेलने में ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि बार-बार खाने के लिए बुलाये जाने पर भी नहीं जाते थे। जब हम लोग थक जाते और कहते 'खेला खतम पैसा हजम' तब यह कहते हुए कि बच्चों का मन भर गया अब हमें भी खाना खाने में मजा आयेगा, चले जाते।

मैं गाँव के जिस परिवेश से आया था उसमें पेड़ों पर चढ़ना, नदी में तैरना आदि सहज रूप में आते थे। वे मुझे लेकर गंगा स्नान के लिए जाते। मैं पानी में इधर-उधर भागता, धार की तरफ जाता, तो प्यार से डाँटते हुए कहते—"अब हम कल से तुम्हें ले के नहीं आएँगे। तुम मेरे पास क्यों नहीं रहते हो?" पूरे नहाने के समय वे अपना नहाना भूलकर मुझे सहेजते रहते और मेरी चौकीदारी करते। घाट में तमाम विपन्न भिखारियों को देखते तो बहुत दुखी होते और लगता था कि जैसे वे कहना चाह रहे हैं—

> **"ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा।**
> **अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,**
> **तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।"**

उनकी बड़ी-बड़ी पनीली आँखें अपने लाल डोरों की जाली में प्राणों के न जाने कितने स्नेह-संदेश उछाला करतीं थीं। कुछ कर न पाने की विवशता से उनके होंठ बोलने के लिए आतुर होकर भी केवल काँप कर रह जाते थे। इतना ठोस और इतना साहसी किसी कवि का जीवन होना मुश्किल है। वे हिन्दी के प्रायः अकेले कवि थे जो अपने कवि कर्म के प्रति अत्यन्त सचेत रूप से जागरित रहे, और साथ ही युग के बदलते हुए मूल्यों को भी जीवन के कड़ुवे अनुभवों के माध्यम से सहेजा। उनकी स्याही की बूँद उनके अपने खून और पसीने की उपज थी।

रह-रह कर कभी वे विचलित हो जाते और आवेश में आकर बोलना शुरू कर देते थे। बात बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती थी, लेकिन लगता था बहुत गुस्से में हैं और बड़बड़ाये जा रहे हैं। जब मैं पूछता—क्या अपने आप बोले जा रहे हैं? तो ध्यान मेरी तरफ करते और कहते—"कुछ नहीं तुम अभी नहीं समझोगे। सबको ठीक करना है।"

खाने पीने और पहलवानी करने की बात बार-बार मुझसे करते थे। कभी-कभी परात भर जलेबी ले आते और कहते—"खाओ"। कभी ढेर सा खोवा लाते और कहते —'चीनी मिलाकर इसको खाओ'। थोड़ा बहुत खाने के बाद मैं मना करता तो कहते—"मेरा पुराना खाया हुआ शरीर ही इतना सब झेल सका। अभी तुम लोगों को तो बहुत लड़ाई लड़नी है, इसलिए खूब खाओ ताकतवर बनो"।

एक बार गर्मियों में गाँव से चुसिया आम आये। निरालाजी को आम बहुत पसन्द थे। उन्हें खाते समय वे ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि आम का रस उनके पूरे चेहरे और सीने में लग जाता था। मेरे टोकने पर कि—'कैसे आप खाते हैं।' बड़ी बेफिक्री से जवाब देते कि—"इतना सम्भाल के हम नहीं खा सकते। खा लें और अभी धो लेंगे।" कभी-कभी तो जानबूझ कर हमलोगों के मनोविनोद के लिए तमाम जगह रस लगा लिया करते थे। बातें तो बहुत हैं अभी इतनी ही।

ऐसे महामानव, महाकवि, युग-प्रवर्त्तक, सिद्ध-साधक अपने निराला बाबा की स्मृति को अशेष प्रणाम।

महाकवि निराला का विश्व-बोध

डॉ० यतीन्द्र तिवारी

सामान्यतया भारतीय नव जागरण को उपनिवेशकालीन विदेशी राजसत्ता के दमन शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह तथा स्वायत्तता, स्वतन्त्रता एवं स्वाभिमान के लिये जाग्रत सक्रिय चेतना के रूप में मूल्यांकित किया जाता है। इतना ही नहीं इसे पश्चिमी देशों के नवजागरण के समतुल्य मानकर या उससे प्रेरित मानकर ही एक सुधारवादी आन्दोलन के रूप में देखा जाता है। सच तो यह है कि बहुत से समीक्षकों ने इस नवजागरण काल के सृजनात्मक सोपानों को "पुनरुत्थानवादी चेतना" या पुनरुत्थानकालीन साहित्य कहकर उसका अवमूल्यन भी किया है।

वस्तुतः यह एक प्रकार से ऐतिहासिक प्रवृत्ति के निषेध का ही परिणाम है। कोई भी देश या समाज अपने आपको अतीत के वैभव से अलग रखकर मात्र वर्तमान की भूमि पर गौरवशाली भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता है। उसे स्वयं को अतीत के साथ जोड़ना होगा और इतिहास पुरुष से कहीं न कहीं मार्गदर्शन प्राप्त करना ही होगा। सही अर्थों में नवजागरणकालीन साहित्यकार अपने सृजन के लिये "भाव" तो "अतीत" से ग्रहण करते थे और प्रस्तुति अर्थात् "शैली" अपने युग की ग्रहण करते थे। तभी निराला की "राम की शक्ति पूजा" जैसी अमरकृति का सृजन सम्भव हो सका जिसमें आत्मबोध, राष्ट्रबोध और विश्वबोध एक साथ अत्यन्त प्रभावी रूप में व्यक्त हुए हैं।

वास्तविकता तो यह है कि भारतीय नव जागरण पश्चिम से प्रेरित जन आन्दोलन मात्र नहीं था। यह आन्दोलन जनता द्वारा उपनिवेशकालीन बन्धनों को तोड़ने के लिये विकसित होती हुई एक ऐसी सक्रिय जन चेतना का परिणाम है जिसमें एक ओर यदि क्रान्तिकारी वामपंथी विचारों की भूमिका है तो दूसरी ओर पारम्परिक भारतीय संस्कृति पर आधारित गांधीवादी मूल्यपरक चेतना की सक्रिय भूमिका भी है। क्योंकि भारतीय चिन्तन चरम सत्ता और चरम जीवन मूल्यों के साथ सामाजिक और वैश्विक रहा है। सारा संसार ही हमारा परिवार है अर्थात् "वसुधैव कुटुम्बकम्"। यह ठीक है कि हमारा कुल-परिवार है, ग्राम है, जनपद है, और राष्ट्र भी है। उत्तरोत्तर व्यापकता की ओर अभिमुख होकर वैश्विक भी है। इस प्रकार भारतीय जीवन

आदर्श का वृत्त और वर्तुल व्यक्ति से परिवार, परिवार से ग्राम, ग्राम से जनपद जनपद से राष्ट्र और राष्ट्र से वैश्विक मानवता की ओर अभिमुख होता है। किसी व्यापक स्वार्थ के लिये छोटे-छोटे स्वार्थों का परित्याग करना ही भारतीय समाज जीवन के मूल्य और आदर्श रहे हैं। यही कारण है कि भारतीय जीवनादर्श सदैव वैश्विक रहा है जिसे हम भगवान गौतम बुद्ध के शब्दों में "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" कहें या दूसरी शब्दावली में "सर्वोदय" की भावना के अनुरूप "सर्वे भवन्तु सुखिना: सर्वे सन्तु निरामया:" कहें। वास्तव में "आत्मवत सर्वभूतेषु" की भावना पर अवस्थित भारतीय वैश्विक चेतना से हम अलग नहीं हो सकते हैं। यह अलग बात है कि हमारी इस वैश्विक चेतना के साथ विश्व स्तर पर होने वाले परिवर्तनों एवं चिन्तन धाराओं का प्रभाव भी साथ जुड़ता रहा और भारतीय "विश्वबोध" को नवीन आयाम प्रदान करता रहा है।

नव जागरण कालीन विकसित विश्वबोध में इसका प्रभाव भली प्रकार मूल्यांकित किया जा सकता है। नवजागरण काल के मध्य अगस्त १९१७ की सोवियत क्रान्ति ने एक नवीन इतिहास की सृष्टि की। इस क्रान्ति ने विश्व के विभिन्न देशों में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के विरुद्ध होने वाले संघर्षों को न केवल गति प्रदान की, वरन् उन्हें साम्राज्यवादी परतंत्रता से मुक्ति प्राप्त कराकर स्वतंत्र रूप से सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकास के लिये अनुप्राणित भी किया। नव जागरणकाल में सोवियत क्रान्ति के प्रभाव के परिणामस्वरूप जिन नवीन विचार सूत्रों का समावेश हुआ उनमें—साम्राज्य-शाही ताकतों के विरुद्ध संघर्ष, शोषण के प्रति विद्रोह, जन जागरण एवं देश भक्ति की प्रतिष्ठा, प्रजातंत्र के प्रति निष्ठा, समानता, शान्ति एवं सुरक्षा के प्रति आस्था, आर्थिक व्यवस्था का नवनिर्माण, समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति, राष्ट्रीय एकता का उद्घोष, मानवतावाद एवं विश्वबंधुत्व के प्रति विश्वास, सर्वांगीण विकास के प्रति जनधारणा की जागरूकता एवं सांस्कृतिक उत्थान हेतु सतत् प्रेरणा आदि उल्लेखनीय रहे हैं। इन विचारों-सूत्रों ने नवजागरणकालीन भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को जहाँ एक नयी दृष्टि और नवीन ऊर्जा प्रदान की, वहीं एक ऐसे नवीन विश्वबोध को भी जागृत किया जिससे अनुप्राणित होकर भारत के साथ-साथ तीसरी दुनिया के माने जाने वाले अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में स्वातन्त्र्य चेतना का विकास हुआ।

सोवियत क्रान्ति के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय नव जागरणकाल में जो नवीन सामाजिक चेतना एवं विश्वबोध का विकास हुआ उसका हिन्दी के आस्थावान साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव से सर्वाधिक

अनुप्राणित होने वाले साहित्यकारों में मुंशी प्रेमचन्द तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। क्योंकि 'गबन', 'गोदान' एवं 'पूस की रात' जैसी रचनाओं ने जितना अधिक परवर्ती कथा साहित्य को प्रेरित किया उससे कहीं अधिक प्रेरक रहीं निरालाजी की 'तोड़ती पत्थर' 'कुकुरमुत्ता', 'दान' 'जागो फिर एक बार' आदि रचनायें, जिन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी काव्य धारा एवं काव्य-दृष्टि में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये—

फिर देखा उस पुल के ऊपर
बहु संख्यक बैठे हैं बानर
एक ओर पथ के कृष्ण काय
कंकाल शेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल
अति क्षीण कण्ठ, हैं तीव्र श्वास
जीता ज्यों जीवन से उदास।

इस प्रकार समाज के एक ऐसे वर्ग को जो अपना जीवन एक शाप सा ढो रहा था उसे साहित्य में सार्थक अभिव्यक्ति मिली। परवर्ती कवियों ने निरालाजी की मानवतावादी विचारधारा से अनुप्राणित होकर ऐसी रचनायें की जिन्होंने सामाजिक क्रान्ति की दिशा में अभिनव योगदान किया। निराला की मानवतावादी चेतना केवल अभाव, अन्याय और अत्याचार के शमन और मानवीय पोषण तथा महत्व का ही स्वर मात्र नहीं हैं—उनकी यह दृष्टि मानवता में विस्तार पाकर संवेदना की पृष्ठभूमि पर छोटे-बड़े सभी में मानव की तलाश करती हुई व्यापक विश्व जन-बोध में समा जाना चाहती है। निराला का कवि-मानस "बादल राग" में बादल से समाज में नवक्रान्ति उत्पन्न करने के लिये मानवों के हृदयों में उथल-पुथल एवं हलचल मचाने का अनुरोध करता है। वह समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले एवं विश्व-वैभव को लूट-लूट कर एकत्र करने वाले पत्र-पुष्प-पादप जैसे धनिकों एवं शोषकों को छिन्न-भिन्न करके उन पर अपने प्रचण्ड बज्र-घोष से आतंक स्थापित करने तथा भय के इस मायामय आँगन में विप्लवकारी गर्जना करने का अनुरोध करता है।

ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले-उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले-अपवाद !
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर-पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प पादप वन उपवन,
बज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड ! आतंक जमाने वाले !

कम्पित जंगम-नीड़, विहंगम-ऐ न व्यथा पाने वाले
भय के मायामय आंगन पर गरजो विप्लव के नव जलधर।

इसी प्रकार कविवर निराला की इसी 'बादल राग' कविता में कवि सारे विश्व में नवजीवन भरकर भारत में भी नवजीवन का संचार करने के लिये बादल से भारत में उतरने का का आग्रह करता है—

ऐ त्रिलोकजित ! इन्द्रधनुर्धर !
सुर बालाओं के सुख स्वागत !
विजय ! विश्व में नव जीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत !

महाकवि निराला की मानव कल्याण और समाज-कल्याण की भावना संकुचित और केवल देश की भौगोलिक सीमाओं तक सीमित ही नहीं है उसका विस्तार देश के साथ-साथ विश्व मानव समाज तक विस्तृत है। सच्चे अर्थों में वे ऐसे युगान्तरकारी कवि हैं जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता की परवशता और उसके प्रति उत्पन्न आक्रोश अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोह, विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियो में संघर्ष करने की तीव्र गर्जना के स्वर हैं। उनकी यह तीव्रता केवल अपने देश की सीमाओं तक ही केन्द्रित नहीं है। वरन् विश्व के जिन-जिन देशों में इस प्रकार की परिस्थितियाँ हैं उन सभी के लिये है। अर्थात् उनकी मानवीय चेतना विश्व मानवीय चेतना में सन्निहित है। निराला मानव के पतन या उसकी दुर्दशा को देखकर भीतर से इतने अधिक द्रवित हो जाते हैं कि सब मान्यतायें, दायरे और मर्यादाओं का अतिक्रमण कर उसके उद्धार हेतु सचेष्ट हो जाते हैं। उनके वैश्विक बोध में विवेकानन्द के चिन्तन में पोषित संस्कारों की प्रेरणा भी देखने को मिलती है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि निराला के वैश्विक बोध का विकास इतने विराट फलक पर हुआ है कि जिसमें पारम्परिक भारतीय चिन्तन और मार्क्सवादी चेतना पर आधारित विश्वबोध की मान्यताओं का समन्वित मूल्यांकन किया जा सकता है।

निराला-काव्य में युग प्रभाव

सेवक वात्स्यायन

अनादि-अनन्त समय के एक निश्चित काल-क्रम को युग की संज्ञा दी जाती है जिसकी अपनी एक व्यक्ति-सत्ता होती है। युग की परिस्थितियाँ एवं विशिष्ट घटनाएँ अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील और भावुक तथा विचारवान मनुष्यों को विशेष प्रभावित कर उनमें एक ऐसी सर्जनात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं जिसके फलस्वरूप ये प्रभावित विशेष व्यक्ति समाज को कुछ ऐसा विशेष देय दे जाते हैं जिससे मानवता चिरकाल तक कृतार्थ रहती है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि इनके द्वारा प्रस्तुत कृतित्व कोई लोकातीत वस्तु ही होता है प्रत्युत इनके प्रस्तुत करने की विधि, सत्य तक पहुंचने का दृष्टिकोण तथा उसे फिर जगत के सामने रखने की प्रणाली, कुछ इतनी विशेष अथवा मौलिक होती है कि उसके समक्ष सामान्यों के द्वारा किये गये वे ही कार्य बहुत कम महत्व के जान पड़ते हैं। लेकिन इस कर्ता-संबंधिनी कृतित्व क्षमता अर्थात् मौलिकता के साथ ही विचारक अथवा कलाकार की चिन्ता व्यवस्था को तीव्रता और रूप देने के लिये यह भी आवश्यक है कि कलाकार युग, अपने समय, के प्रति जागरूक रहे और यह जागरूकता तभी युगीन समाज और सामाजिक-प्रक्रिया से कुछ ग्रहण कर सार्थकता प्राप्त कर पायेगी जबकि उस युग में कुछ विशेष दृष्टव्य हो अर्थात् युग में प्रभावित करने की क्षमता हो। युग जिसका समाज से ही सम्बन्ध है कलाकार को जिस तीव्रता में यह प्रभाव दे पायेगा कलाकृति उस समय के सदर्भ में उतनी अधिक चमकदार और समर्थ बन पड़ेगी। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कला और साहित्य में केवल स्वस्थ युग और समाज के ही अच्छे चित्र उभरते हैं बल्कि सत्य तो यह है कि संसार के प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास बताता है कि दुर्दशाग्रसित क्षणों की ही प्रभाववती भूमिका में अनुभूति-सिद्ध कलाकारों ने अक्षय अमृतत्व देने वाली अमर-वाणियाँ संसार को दी हैं। तुलसी, कबीर और दाँते का साहित्य ऐसे ही समय की संसृष्टि है।

उन्नाव (उ० प्र०) गढ़ाकोला के ब्राह्मण माता-पिता के पुत्र के रूप में बसंत-पंचमी सन् १८९६ ई० को महिषादल (बंगाल) में जन्म ले तथा किशोरावस्था यहाँ बिताकर हिन्दी के विद्रोही कवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने उन्नाव, लखनऊ और प्रयाग (उत्तर प्रदेश) को अपनी क्रीड़ा-स्थली बनाकर पन्द्रह अक्टूबर सन् १९६१ को प्रयाग में अपनी

ऐहिक-लीला समाप्त की। संसार में केवल पैंसठ वर्ष दिन की रोशनी और रात की अँधेरी निराला ने आँख खोल कर देखी, जी भर सुनी-गुनी और अपने उच्चतम स्वर में उसका अनुगान कर आने वाली पीढ़ियों को अपना युग कुतूहल का विषय बना दिया। आगे आने वाली नस्लें जब निराला-काव्य का अध्ययन करेंगी, उनके व्यक्तित्व के चमत्कारी प्रभाव सुनेंगी और पढ़ेंगी तब हो नहीं सकता कि वे यह न जानना चाहें कि आखिर वे क्या परिस्थितियाँ थीं, क्या स्थिति थी राजनीति, समाज और साहित्य की, जिन्होंने प्रभावित होकर अथवा प्रभावित करके पं० मदनमोहन मालवीय और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध की हिन्दी को यह "निराला" दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गाँधी किस हिन्दी की बात कितने पहिले करते थे? वे निराला का युग-रूप अवश्य जानना चाहेंगी। सन् १८९६ से लेकर १९६१ तक अर्थात् पैंसठ वर्ष तक निराला जीवित रहे और जब से लिखने पढ़ने लायक हुए तब से विशेष अध्ययन और मनन प्रारम्भ कर दिया। ब्रज-भाषा तथा बंगला में जो कुछ बालोचित लिखा भी, परन्तु उनकी पहिली प्रौढ़ रचना "जुही की कली" है जिसने हिन्दी के आधुनिक काव्य-साहित्य में क्रान्ति उपस्थित कर दी। "जुही की कली" सन् १९१६ ई० की रचना है। इस प्रकार विशेष रूप में साहित्यिक दृष्टि से निराला का साहित्यिक चेतना का क्रियात्मक युग सन् १९१६ से सन् १९५५ तक समझना चाहिए। सन् १९५५ में निराला की कुछ कविताओं का संग्रह "कवि श्री" श्री सियाराम शरण गुप्त ने चिरगाँव से प्रकाशित किया था। प्रबन्ध संग्रह "चयन" का सम्पादन श्री शिवगोपाल मिश्र ने किया और सन् १९५७ में छपाया था। निराला का गद्य-साहित्य भी बेजोड़ है पर उनकी विशेष मौलिक देन काव्य को है। अतः हमें १९१६ से १९५५ तक ही उनका युग समझना चाहिए, इसके आगे उन्होंने लिखना-लिखाना बन्द सा कर दिया था—अपनी मृत्यु तक अर्थात् सन् १९६१ तक। दूसरे जो उन्हें हिन्दी को देना था अधिकांश ५५ तक दे ही चुके थे। सन् १९१६ "जुही की कली" का प्रकाशन वर्ष तथा सन् १९५५ ई० "कवि श्री" का प्रकाशन-वर्ष अपने मध्य उन्तालीस वर्ष की अवधि सँजोये हुए है और यही कवि निराला का युग है। उनके काव्य पर युग-प्रभाव का अध्ययन करने के लिये हमें इस उन्तालीस वर्षों की अवधि का राजनीति, समाज, अर्थ और साहित्य आदि के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण कर लेना चाहिए और तभी हम निराला के काव्य को उनके युग के संदर्भ में समझ पायेंगे।

ब्रिटिशाधिकृत भारत में महारानी विक्टोरिया की अपेक्षाकृत उदार नीति से आशा की क्षीण किरण दिखाई दी थी कि लार्ड कर्जन के दुबारा गवर्नर-

जनरल बनकर आने पर उसके व्यवहार ने भारत में घोर असन्तोष उत्पन्न किया था और सन् १९०१ में विक्टोरिया की मृत्यु से यह किरण भी लुप्त हो गई। १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की याद अभी ताजा थी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में लार्ड ह्यूम के प्रयत्नों से हो चुकी थी। यह सक्रिय हुई कांग्रेस पार्टी जन-जागरण के लिये प्रयत्नशील थी ही कि प्रथम महायुद्ध की अग्नि मे भारतीय सैनिको की आहुतियाँ सरकार ने दी और इन सैनिकों के बावजूद ब्रिटिश सरकार के पक्ष में उदारतापूर्वक अपनी कुर्बानियाँ देने के, भारतीयो के प्रति अंग्रेजो के बर्बर व्यवहार और दमन नीति मे कोई अन्तर नही आया। भरतखण्ड की सम्पूर्ण राष्ट्रीयता इससे आहत थी और गुलामी का यह अनभीष्ट लबादा किसी भी कीमत पर अपने ऊपर से उतार फेकने को कटिबद्ध थी। ससार को ज्ञान का प्रथम पाठ सिखाने वाले राष्ट्र भारत की यह दुर्दशा कितनी करुण थी यह महज ही विचारा जा सकता है, हम अपने घर में ही प्रवासी बना दिये गये थे। कौन जाने महामानव निराला के विशाल हृदय के किसी कोने मे पड़ी सिसकती हुई यही करुणा, मानवता की यही अवशता उनके जीवन और काव्य मे कराहती रही हो, और उनका "वज्र कठोर" पुरुषार्थ इस अवश अवमानना से मात न खाने की सौगन्ध लिये रह-रह कर फुफकार उठता हो कि—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन !
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन"

और फिर घोर यथार्थ पर उतर कर यही ओजस्वी मन जीवन की असहायता और विवशता को देख यह विरक्त्युक्ति बोलता हो कि—

"दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूं आज जो नहीं कही"

राम और कृष्ण के देश मे राजनीति का यह पश्चिमी नंगा-नाच हो रहा था जब निराला का कवि धरती पर उतरा। गोखले, गाँधी, नेहरू, तिलक और मालवीय क्या कारा के निविड़तम अन्धकार मे बन्दी जीवन व्यतीत करने योग्य धरती-पुत्र थे। भगतसिह और आजाद जैसे दुर्धर्ष पराक्रम के नौजवान लड़के, क्या सचमुच फाँसी पर टाँग देने और गोली मार देने के लायक थे।

इन "नवीन पुरुषोत्तमो के बदन मे" क्योंकि "महाशक्ति लीन" थी, त्याग और बलिदानो के इस अक्षुण्ण क्रम की शाश्वत आत्मा मे अपने पावन लक्ष्य के प्रति सत्य निष्ठा थी, अतः "जय" हुई। अन्तरिम सरकार बनी, कुछ वर्षों बाद खण्डित भारत स्वाधीन हुआ—पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ ई० का दिन भारत के इतिहास का एक ऐसा पृष्ठ है, जिसकी तुलना हम उस निर्दोष बन्दी

से कर सकते हैं जिसे कारामुक्त करते समय अन्यायी न्यायाधिपति ने, बन्दी के अमोघ आत्मबल से अपनी क्रूरता और कपटाचरण का उपहास होता देख, चिढ़ कर, उसका एक हाथ काट लिया हो, और फिर कहा हो "जाओ, तुम्हें स्वतंत्र किया"। देश के इस अनौचित्यपूर्ण विभाजन का फल हम आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इस दिन का भारत, डाकुओं द्वारा अपहरण किये गये और उन्हीं के द्वारा छिन्नांग्कृत, उस जीवित लौटाये गये शिशु के समान था, जिसे प्राप्त कर, माता-पिता का चिरविदग्ध आकुल मोह, उसके जीवन मात्र को ही बचा देख, आनन्द-विभोरता की स्थिति में शेष सब कुछ भूल गया हो। फिर भी माँ भारती, खण्डित भारतवर्ष का छिन्न तन देख, रोई न होगी, यह कहना अस्वाभाविक होगा। विभाजित भारत के असंख्य, बाल-वृद्ध-नर-नारियों का, साम्प्रदायिकता के नाम पर हुआ रक्तपात, रुदन और चीत्कार, उतनी ही मात्रा में हृदय-विदारक था, जितनी मात्रा में कि स्वतंत्रता-जनित आह्लाद प्रफुल्लता देने वाला था। हम अन्धे हो गये। पता नहीं दुःख से अथवा सुख से। और हमीं में से एक ने, आजादी की नाव को खेकर किनारे लगाने वाले समय के सब से बड़े मल्लाह को गोली मार दी। तीस जनवरी सन् १९४८ ई० को, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की गोली मार कर हत्या कर दी गई। कभी-कभी भगवान् प्रार्थना का जवाब गोली से देता है। भारतीय-पुत्र निराला ने जीवन की यह विडम्बना देखी थी, हिल उठे थे, जीवन का यह सुरूप-विद्रूप देखा था, 'पागल' हो गये थे। 'विक्षिप्तता' में मनुष्य एक साथ रोता है हँसता है, अति-कोमल, अति-कठोर हो जाता है, फूल से भी अधिक और वज्र से भी अधिक। इन युगीन घटनाओं का निराला-साहित्य में वर्णन तो नहीं पर प्रभाव बड़ा भारी है। युग की इन विषमताओं की गहरी छाप धूप-छांव सी सर्वत्र प्रतिबिम्बित होती हैं। सन् ४६ के निराला ने 'बेला' गीत-संग्रह में स्वतन्त्र भारत के प्रजातन्त्र की सुखद कल्पना इस प्रकार की है—

> **'आज अमीरों की हवेली, किसानों की होगी पाठशाला,**
> **धोबी, पासी, चमार, तेली, खोलेंगे, अन्धेरे का ताला,**
> **एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ'।**

और सन् ५० में प्रकाशित निराला की 'अर्चना' में अशरण-शरण भगवान के प्रति व्यक्त ये भाव देखिये—

> **'दुरित हरो नाथ !/अशरण हैं, गहो हाथ।'**

सन् ४६ में गांधी थे और ५० में नहीं थे। निराला पर अपने युग का जितना अधिक स्थायी प्रभाव है, शायद ही किसी समकालीन कवि में मिले। प्रसाद 'अतीत' में रहते थे, पन्त—भविष्य (कल्पना) में और महादेवी का प्रिय

उनका 'सर्वस्व' लिये परलोक-वासी था। इस चतुष्टयी में धरती का तो केवल निराला था। वर्तमान के सभी चित्र उनकी दृष्टि में उतर आये थे जो उनके साहित्य में उभरे हुए मिलते हैं। गत बीस-तीस वर्षों में गद्य और काव्य के रूप में निराला साहित्य को बहुत दे चुके थे और सभी जगह युग का वह बिम्ब मिलता है। अब वे अपने चरम पर थे।

छब्बीस जनवरी सन् १९५० को भारत गणतन्त्र बना था। हमारा अपना शासन 'स्वराज्य' और अपना संविधान लागू हुआ। १९५३ के कवि के काव्य-संग्रह 'आराधना' में सत्य, सुन्दर और मंगल की आराधना इन पंक्तियों में दृष्टव्य है—

'पद्मा के पद को पाकर हो
सविते, कविता को वह वर दो

□ □

उठें ऊर्ध्व मन से जो ओछे
मिल निलय में एक प्रकर दो'

□ □

'दुख भी सुख का बन्धु बना
पहले की बदली रचना— ।'

राजनीति, कूटनीति की पुत्री है, वह उसी का दूध पीकर प्रायः फलती-फूलती है, और नीति का या तो उसे बहुधा, बोध नहीं रह पाता अथवा फिर उसे अनावश्यक मानकर उसका तिरस्कार करती चलती है। इसीलिए दूर-दर्शी भारत के विचारकों और सूत्रधारों ने सदा से भारतीय राजनीति पर धर्म का अंकुश रक्खा था। सन् १९४७ के स्वतन्त्र-भारत के शासकों ने राजनीति में धर्म की अपेक्षा, परिस्थितिवश, नहीं समझी। भारत धर्म-निरपेक्ष संघ बना। धर्म समाज में आस्था और नैतिकता की प्रतिष्ठा करता है और कोरी राजनीति उसे उच्छृंखल अवसरवादिता प्रदान कर अव्यवस्थित कर देती है। भारत में भी यही हुआ।

निराला को मरे अभी अधिक समय नहीं हुआ उनका देखा यह समाज अब भी ज्यों का त्यों है, कुछ 'प्रगति' ही हुई है। सभा में हम हाथ फेंक-फेंक कर अन्तर्जातीय विवाह और दहेज प्रथा समाप्त करने के लम्बे व्याख्यान देते नहीं थकते और अपने लड़के-लड़की के ब्याह में कुल और प्राप्ति की पूरी तहकीकात के बाद ही बात करते हैं। निराला की पुत्री के विवाह की कथा उनकी 'सरोज-स्मृति' कविता में दृष्टव्य है। हम दीन-दुखियों के प्रति

सहानुभूति का अभिनय करते हैं पर उनकी भी गाँठ काटने में हमारा पत्थर हृदय नहीं पसीजता। समाज में ऐसा अन्धाधुन्ध है कि सरल चित्त मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो गया है और लोग कहते भी हैं कि यह कलजुग का प्रभाव है। निराला ने यह युग-प्रभाव देखा है और जी भर उसकी भर्त्सना भी की है, जिससे उनका काव्य हमारे अभावों को व्यावहारिक रूप में भले ही दूर न कर दे, साहित्य यह कर भी नहीं सकता, परन्तु जीवन मन के थके राहियों को संबल अवश्य प्रदान करता है।

निराला ने समाज का प्रवंचक रूप देखा था। सरल-सच्चे, सीधे-सादे हृदय प्रवंचना के रंजित रूप पहचान नहीं पाते और जब रहस्य खुलता है तो ये अनभ्यासी बेचारे इस असंभावित अपूर्व-कल्पित दुर्घटना से या तो विचूर्णीकृत हो जाते हैं, जैसे कि अंग्रेजी कवि जान कीट्स, अथवा चटक जाते हैं। निराला का हृदय ऐसी ही चटकी हुई चट्टान था। वे समाज की इस अन्यायपूर्ण विषमता और विडम्बना से टूट गये थे फिर भी खड़े रहे। वे कुछ अव्यवस्थित हो उठे थे, लोगों ने इसे उनका पागलपन कहा जो उन पर युग के प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण है। यह अव्यवस्था उनके काव्य और जीवन दोनों में मिलेगी, फलतः न उनके जीवन में कोई क्रम था न काव्य में। कभी सब दे दिया, कभी पैसे पर ही अकड़ गये। कभी छैला बने घूमने लगे, कभी भिखारियों का लिबास। कभी खूब खाया, कभी चाय की प्याली भी नसीब नहीं हुई। इसी प्रकार कभी उपन्यास लिखने बैठ गये, तो कभी कहानी। कभी कविता तो कभी समीक्षा, कभी छन्द में तो कभी मुक्त शैली में, कभी निरन्तर लिखते ही गये और कभी काफी समय तक न लिखने की प्रतिज्ञा कर बैठे, कभी बहुत बोलते-बहुत हँसते, कभी एकदम मौन, अति गुरु-गंभीर, भयंकर। और कहीं-कहीं तो ऐसा भी मिलेगा कि कही पहिले कोई बात कह गये और आगे उससे ठीक उलटी, एकदम पूर्व कथन के विरोध में। काव्य और जीवन दोनों ही स्थानों पर यह विरोधाभास, विद्रोह, क्रान्ति, स्वच्छन्दता सब कुछ निराला को युग की देन है। निराला ने कोई प्रबन्ध काव्य हिन्दी को नहीं दिया यह भी युग का ही प्रभाव है। वास्तव में बात यह थी कि किसी वृहत् प्रबन्ध काव्य को लिखने के लिये भले या बुरे समय के एक निश्चित रूप की आवश्यकता होती है पर निराला एक ऐसे समय में आये थे जब क्षण-क्षण नये परिवर्तन घटित हो रहे थे। निराला का समय हमारे देश का संक्रान्तिकाल था ठीक वैसे ही जैसे कि गेटे के समय का जर्मनी और कवि टेनीसन के समय का इंगलैण्ड। दूसरे निराला को जीवन में इतने प्रकार के झटके लगे कि प्रतिक्रिया का कोई एक रूप संभव नहीं था। निराला के काव्य की पंक्तियाँ युग-प्रभाव

की प्रतिक्रियात्मक विद्रोही साँसें हैं जो कभी अपने में ही अवश और असहाय दीखने लगती हैं और थोड़ी देर में ही उनकी प्राणशक्ति महाशक्ति सी मुखर हो उठती है। उनकी मुक्तछन्दता उनकी विषय-स्वच्छन्दता के समान ही युगावस्था का ही परिणाम है। दूसरे इन सभी छायावादी कवियों पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों का भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष बहुत अधिक प्रभाव था। रोमांटिक कवियों के समान ही ये भी सबके सब विषम समाज में असन्तोष पाकर बहुधा पक्षपात-विहीन प्रकृति की शरण लेने वाले हैं। निराला-काव्य भी इसका प्रतिवाद नहीं जिसे हम युग-प्रभाव ही कहेंगे। निराला ने तुलसी की तरह "कलिकाल वर्णन" तो नहीं किया पर उनके सम्पूर्ण काव्य में आव्याप्त व्यंग्य की तीखी चोटें लक्ष्य पर पूरा वार करती हैं। स्वतंत्र देश में उन्हें राष्ट्रभाषा का अपमान भी बहुत खला था और इसके लिये जहाँ भी अवसर हुआ वे बिना बोले न रहे। उन्हें साहित्य पर राजनीति का प्रभुत्व भी सह्य न था इसके कितने ही उदाहरण हैं। मनुष्य-समाज के सम्बन्ध में महादेवी वर्मा की यह उक्ति कितनी सार्थक दीखती है कि "मनुष्य ने मनुष्य के प्रति अपने दुर्व्यवहार को इतना स्वाभाविक बना लिया है कि उसका अभाव विस्मय उत्पन्न करता है, और उपस्थिति साधारण लगती है।" निराला ने पूरे युग में यही "दुर्व्यवहार" देखा। वे मर रहे थे और प्रकाशक उनके पैसे दबाये बैठे थे। वे घबरा उठे थे, लोग पागल कहते थे। उन्होंने साहित्य यज्ञ को जीवन की आहुति दी, लोग तुलसी और सूर की हिन्दी को कहते कि वहाँ अभी रवीन्द्र जैसा कोई नहीं हुआ। कितनी विडम्बना, कितना दुर्भाग्य है कि हिन्दी अब तक भारत में अपना वास्तविक पूर्ण स्थान ग्रहण नहीं कर सकी है। थानेदार और पटवारी तक यहाँ विद्वानों, कवियों और कलाकारों की तुलना में अधिक सम्माननीय हैं। चलचित्र भी कला के अन्तर्गत है परन्तु उसकी लोकप्रियता का रहस्य जनता की कलाभिरुचि में नहीं, नग्न प्रदर्शन में है। निराला जिस युग से सम्बद्ध है संसार उसे 'गाँधी युग' नाम से जानता है। परन्तु हिन्दी में हम चाहें तो उपरिलिखित उन्तालीस वर्ष को 'निराला-युग' कह सकते हैं। और यह समय, उस युग की दुरूहता है जिसे भ्रमवश निराला के काव्य की दुरूहता कहा जाता है।

निराला के उपन्यास

डॉ० गोपाल राय

कवि के रूप में निराला का आधुनिक हिन्दी कविता में स्थान वैसे ही कनिष्ठिकाधिष्ठित हो चुका है जैसे उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द का। पर निराला ने कुछ उपन्यास भी लिखे थे, जिनके स्थान-निर्धारण में आलोचकों में मतभेद है। कुछ आलोचक, जो निराला के प्रशंसक हैं, उपन्यास के क्षेत्र में भी निराला के योगदान को 'अद्वितीय', 'अनोखा', 'अनुपम' आदि विशेषणों से जोड़ने का लोभ नहीं छोड़ पाते। पर तटस्थ आलोचक उपन्यासकार के रूप में निराला के योगदान को उतना महत्वपूर्ण नहीं मानते। निराला के उपन्यासों के विश्लेषण से इसी दूसरे मत की पुष्टि होती है।

निराला के उपन्यासों की सूची को लेकर भी मतभेद है। कुछ आलोचक 'अप्सरा' (१९३१), 'अलका' (१९३३), 'प्रभावती' (१९३६) और 'निरुपमा' (१९३६) को निराला के 'प्रथम चरण' के उपन्यास मानते हैं और 'कुल्ली भाट' (१९३९), 'बिल्लेसुर बकरिहा' (१९४२), 'चोटी की पकड़' (१९४६) और 'काले कारनामे' (१९५०) को 'द्वितीय चरण' के उपन्यास। 'निराला रचनावली' में डॉ० नन्दकिशोर नवल ने भी ऐसा ही माना है। पर कुछ आलोचक 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को उपन्यास नहीं मानते। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय (कलकत्ता) की, जिसके तत्वावधान में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, 'निराला जन्मशती स्मारिका १९९७' में भी 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को **रेखाचित्र** की श्रेणी में रखा गया है। इसके अतिरिक्त 'चमेली' (१९३९) और 'इन्दुलेखा' (१९६०) अधूरे उपन्यास हैं। 'चमेली' के केवल दो परिच्छेद (शब्द सं० लगभग ४०००) 'रूपाभ' (फरवरी १९३९) और 'इन्दुलेखा' के तीन छोटे-छोटे परिच्छेद (शब्द सं० १८००) 'ज्योत्सना' (दीपावली, १९६० ई०) में प्रकाशित हुए थे।[१]

सबसे पहले हम 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' के उपन्यासकत्व की परीक्षा करें। 'निराला रचनावली' के सम्पादक का कहना है : "व्यावसायिक दबाव से मुक्त उनके उपन्यास हैं : 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'। इन लघु उपन्यासों में अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में दिखलाई पड़ने वाले कल्पना और यथार्थ के अन्तर्विरोध को हल कर वे यथार्थ की भूमि पर आ गये हैं और उस पर अपनी विलक्षण सृजनशीलता का परिचय दिया है। ....ये शुद्ध यथार्थवादी

उपन्यास हैं, इनमें कोई कल्पनाप्रसूत चमत्कार नहीं है।[२] इसके बाद वे लिखते हैं :......"कुल्लीभाट एक संस्मरणात्मक उपन्यास है, जिसमें कुल्ली भी हैं और निराला भी। दोनों के प्रसंग एक दूसरे से जुड़े हैं। लेखक कहीं बहकता नहीं, और वह बड़े कौशल से अपने कथानायक के चरित्र को उद्‌घाटित करता हुआ आगे बढ़ता है। चरित्र भी कैसा? कुल्ली एक बिलकुल मामूली चरित्र है, जो आरम्भ में एक (कथा के अनुसार दो)[३] एक्का चलवाता है और यौन विकृति का शिकार है। धीरे-धीरे वह स्वाधीनता-आन्दोलन में सम्मिलित होता है और कांग्रेस का कार्यकर्ता बन जाता है। इस क्रम में उसके चरित्र में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता है, वह कुन्दन की तरह निखर उठता है। निराला ने बड़ी खूबी से इस उपन्यास में यह दिखलाया है कि चरित्र का निर्माण जनान्दोलनों में होता है। जनान्दोलन मनुष्य के चरित्र को उसकी कमजोरियों और विकृतियों से मुक्त कर उसे अत्यन्त उदात्त स्तर तक पहुंचा देते हैं।"[४]

इस वक्तव्य से लगता है कि 'निराला रचनावली' के सम्पादक ने बिना ठीक से विचार किये, केवल अपनी रुचि के बहाव में, 'कुल्लीभाट' को उपन्यास मान लिया है। अपने वक्तव्य में निहित अन्तर्विरोध पर भी उनका ध्यान नहीं गया है। उनके कथन से यह अर्थ निकलता है कि निराला के प्रथम चार उपन्यासों में "कल्पना और यथार्थ का अन्तर्विरोध" है, जो 'कुल्लीभाट' मे नही है। पहली जानने की बात यह है कि उपन्यास में कल्पना और यथार्थ का विरोध या 'अन्तर्विरोध' नहीं होता। उपन्यास का संसार कल्पनाप्रसूत ही होता है, पर कल्पनाप्रसूत होते हुए भी वह पूर्णतः यथार्थ होता है। कल्पना और यथार्थ एक दूसरे के विरोधी पद नहीं हैं और उपन्यास मे तो इनका परस्परावलम्बन ही अपेक्षित होता है। यह सही है कि निराला के प्रथम चार उपन्यासों में, और बाद के उपन्यासों में भी, ऐसी घटनाओं के जाल बुने गये है जो केवल संयोगाधारित और कौतूहलप्रद हैं, पर उन्हें तथ्यविरोधी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः **कल्पना, तथ्य** और **यथार्थ** में निहित अर्थ की सूक्ष्मता पर ध्यान न देने के कारण उपन्यास की आलोचना में अक्सर ऐसी भूल हो जाती है।

'कुल्लीभाट' में निराला यथार्थ की भूमि पर आ गये हैं, केवल इतना ही उसके **उपन्यास** होने की पर्याप्त कसौटी नहीं है। विचारणीय यह भी है कि उसमें कितना तथ्य है और कितनी कल्पना। हमें ध्यान रखना होगा कि उपन्यास **कल्पनाप्रसूत** ही होता है, अन्यथा **जीवनी, आत्मकथा, इतिहास** सभी **उपन्यास** हो जाएँगे। यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'कुल्लीभाट' का आधे से अधिक अंश निराला की **आत्मकथा** है। 'चकल्लस' (साप्ताहिक, लखनऊ) के

मई, १९३८ अंक में इसके दूसरे परिच्छेद का 'मेरी ससुराल यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित होना भी इसका प्रमाण है। निराला की जीवनी के निर्धारण में भी 'कुल्लीभाट' की सहायता ली जाती रही है। इसका मैं शतप्रतिशत निराला है, इसका निश्चय रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना' से किया जा सकता है। यदि ब्यौरों या कथा-शैली में थोड़ी बहुत कल्पना का सहारा लिया भी गया हो तो इसे **औपन्यासिक जीवनी** कह सकते हैं **जीवनोपरक उपन्यास** या **संस्मरणात्मक उपन्यास** नहीं।

जहाँ तक उपन्यास के दूसरे पात्र कुल्लीभाट का सवाल है, वह कल्पना-प्रसूत है या वास्तविक, इसका निर्णय डा० रामविलास शर्मा ही कर सकते हैं। यदि हम निराला की स्वीकृति को महत्व दें तो निश्चय ही कुल्ली निराला के मित्र थे। वे इसे स्वीकार करते हैं : 'पं० पथवारी दीनजी भट्ट (कुल्लीभाट) मेरे मित्र थे। उनका परिचय इस पुस्तिका में है। उनके परिचय के साथ मेरा अपना चरित भी आया है, और कदाचित् अधिक विस्तार पा गया है। रूढ़िवादियों के लिए यह दोष है, पर साहित्यिकों के लिए, विशेषता मिलने पर, गुण होगा।''[५] यदि निराला ने हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह, जैसा उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में किया है, कथा की विश्वसनीयता को **पक्का** करने के लिए, विनोद की मुद्रा में **पं० पथवारी दीनजी भट्ट** को अपना **मित्र** घोषित कर दिया हो (इसकी पुष्टि भी रामविलासजी ही कर सकते हैं) तो भी केवल कुल्लीभाट जैसे एक आयामी, मनोवैज्ञानिक जटिलता और संघर्ष से रहित चरित्र की प्रस्तुति को उपन्यास की सज्ञा नहीं दी जा सकती। अधिक से अधिक इसे रेखाचित्र या संस्मरण कहा जा सकता है, जिसका आधार लेखक के अनुभव-वृत्त का ही कोई व्यक्ति होता है।

उपन्यास के लिए एक और चीज जरूरी होती है, जिसे **विजन** कहते है और जिसमें कथ्य से लेकर लेखक की जीवन-दृष्टि, संवेदना, विचारधारा, कल्पनाशीलता, यथार्थ की पकड़, अनुभव का विस्तार आदि बहुत सारी बातें होती हैं। इसके फलस्वरूप कथा का इकहरापन भी समाप्त हो जाता है और कथा-संसार अनेक छोटी-मोटी कथा-धाराओं से संश्लिष्ट बन जाता है। 'कुल्लीभाट' में कथा संसार की यह संश्लिष्टता नहीं है।

एक बात और, जो गौण प्रतीत हो सकती है, सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। उपन्यास की कोई लघुतम आकार-सीमा है या नहीं ? इस सवाल का किसी निश्चित सुझाव के साथ जवाब देना मुश्किल है। इ० एम० फोर्स्टर ने **पर्याप्त** आकार वाली कथा को ही उपन्यास मानने का सुझाव दिया है और **पर्याप्त** के लिए उन्होंने पचास हजार शब्दों का सुझाव दिया है। पर 'कुल्लीभाट' की

शब्द संख्या क्या है ? लगभग तेईस हजार मात्र। कोई तर्क दे सकता है कि 'अलका' की भी शब्द संख्या तो लगभग बयालीस हजार ही है, फिर इसे क्यों उपन्यास मानते हो ? जवाब है, अन्य कसौटियों पर उसके उपन्यास होने की योग्यता। पचास हजार शब्दों की सीमा कोई लक्ष्मण रेखा नहीं है, पर उसे घटाते घटाते शून्य पर भी नहीं लाया जा सकता।

तात्पर्य यह कि 'कुल्लीभाट' एक श्रेष्ठ गद्यरचना होने पर भी उपन्यास नहीं है। किसी गद्य रचना के श्रेष्ठ होने के लिए उसे जबरदस्ती उपन्यास बनाना जरूरी नहीं है।

उपन्यास होने के सम्बन्ध में जो तर्क 'कुल्लीभाट' के सम्बन्ध में दिये गये हैं, वे 'बिल्लेसुर बकरिहा' पर भी लागू होते हैं। इसकी शब्द संख्या तो 'कुल्लीभाट' से भी कम, मात्र सोलह हजार (लगभग) है। इसमें कोई औपन्यासिक बिजन या जटिल कथा संसार नहीं है। इसका केन्द्रीय विषय बकरी पाल कर जीवन बिताने वाला और मिहनत तथा होशियारी से अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सुधार कर लेने वाला बिल्लेसुर नामक अपढ़ ग्रामीण ब्राह्मण किसान है। उसे धोखा देने की कोशिश तो लोग करते हैं, पर वह किसी के हत्थे नहीं चढ़ता और अन्ततः सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल होता है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' को 'निराला रचनावली' के सम्पादक ने **रेखाचित्रात्मक उपन्यास** कहा है जो उपन्यास तो कत्तई नहीं है, हाँ एक व्यंग्यपूर्ण **औपन्यासिक रेखाचित्र** अवश्य है। स्वयं निराला के अनुसार यह 'हास्य लिये एक स्केच' है[७] और इस रूप में निश्चय ही एक उच्च कोटि की और प्रयोगात्मक रचना है। उक्त सम्पादक के इस कथन से हमारी सहमति है कि निराला ने 'बिल्लेसुर के माध्यम से एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो जीवित रहने के लिए अथक संघर्ष करता है और अन्ततः विजयी होता है।'[८] पर साथ ही यह भी स्वीकार करता है कि यह 'संघर्ष' और 'विजय' किसी उदात्त प्रभाव से युक्त नहीं है। सम्पादक के इस कथन से भी सहमत होना कठिन है कि निराला ने····उनके (कुल्लीभाट और बिल्लेसुर)[९] चरित्र-चित्रण में वैसी कलात्मकता का प्रदर्शन किया है, जैसी कलात्मकता संसार के महान यथार्थवादी कथाकारों की कृतियों में ही देखने को मिलती है।'[१०] यह अत्युक्ति है।

अप्सरा निराला का पहला उपन्यास है। इस समय (१९३१) तक प्रेमचन्द हिन्दी के 'उपन्यास सम्राट' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे और 'कंकाल' (१९२९) की रचना कर जयशंकर प्रसाद भी उपन्यासकार के रूप में चर्चित होने लगे थे। यहाँ तक कि कतिपय समकालीन समीक्षक प्रसाद को

प्रेमचन्द का 'समकक्ष' या उनसे 'बड़ा' उपन्यासकार भी घोषित करने लगे थे। कदाचित यह स्पर्धा ही निराला के उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त होने का कारण रही हो। 'अप्सरा' के वक्तव्य से इसका किंचित् आभास भी मिलता है। निराला को अपनी उपन्यास-लेखन की क्षमता के प्रति पूरा विश्वास भी था, जो 'वक्तव्य' की इस पंक्ति से प्रकट होता है : "..... इन बड़ी बड़ी तोंद वाले औपन्यासिक सेठों (जिनमें प्रेमचन्द भी शामिल हैं)[११] की महफिल में मेरी दंशिताधरा अप्सरा उतरते हुए बिल्कुल संकुचित नहीं हो रही—उसे विश्वास है, वह एक ही दृष्टि से इन्हें अपना अनन्य भक्त कर लेगी।" निराला का यह आत्मविश्वास मिथ्या साबित हुआ और 'अप्सरा' किसी 'बड़ी' रचना के रूप में स्वीकृत नहीं हुई, यह अलग बात है।

हमें आज यह देखना है कि इसमें आलोचकों की नासमझी या किसी प्रकार का पूर्वग्रह तो सक्रिय नहीं रहा है ? वैसे कुछ आलोचक तो अपने अति-उत्साह में यही मानते हैं पर उत्साह और तर्क प्रायः एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

पहले हम यह मुद्दा उठाएँ कि 'अप्सरा' का कथ्य क्या है ? निराला अपने 'वक्तव्य' में कहते हैं : "मैंने किसी विचार से अप्सरा नहीं लिखी, किसी उद्देश्य की पुष्टि भी इसमें नहीं। अप्सरा इसमें स्वयं मुझे जिस-जिस ओर ले गयी दीपक-पतंग की तरह मैं उसके साथ रहा।" इस कथन से, और उपन्यास के पठन से भी, प्रमाणित होता है कि निराला के मानस में इस उपन्यास का कोई 'विज़न' नहीं था। वे एक भटकाव के शिकार प्रतीत होते हैं, भले ही वह उपन्यास की प्रमुख पात्र, वेश्यापुत्री कनक, के पीछे 'दीपक-पतंग' वत् भटकाव ही क्यों न हो। इसके बावजूद उपन्यास का एक विषय है : **अप्सरा विवाह** जिसका उल्लेख उपन्यास के पृष्ठ १२६ पर अप्रत्यक्ष रूप से आया है। वेश्या समाज की समस्या बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही हिन्दी-उर्दू उपन्यास का विषय रही और प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'सेवा सदन' (१९१८) में इसे मुकम्मल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। संवेदनशील रचनाकारों में वेश्या समाज के प्रति बढ़ती सहानुभूति उस नारी-मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत मानी जा सकती है जो आज अपने चढ़ाव पर है। प्रेमचन्द की वेश्याओं के प्रति सहानुभूति तो है, पर उनमें इतना साहस नहीं कि वे किसी वेश्या का किसी ज्ञातकुलशील युवक से विवाह दिखा सकें। निराला में यह साहस है। वे 'निरुपमा' में वेश्यापुत्री कनक का विवाह साहित्य के प्रति पूर्णतः समर्पित युवक राजकुमार से चित्रित करते हैं। उल्लेखनीय यह भी है कि इस विवाह के समर्थन में खड़े होने वाले और इसे अंजाम देने वाले कई अन्य पात्र, स्त्री-पुरुष

दोनों हैं। कनक की वेश्या माँ भी इसमें अपना भरपूर योग देती है। यद्यपि इस कारण, सामाजिक टकराव की स्थितियाँ प्रायः नहीं आ पायी हैं, जो कदाचित् उपन्यास को तनावपूर्ण और वैचारिक समृद्धि से युक्त बनातीं, पर इससे, कम से कम निराला की एक ज्वलंत सामाजिक समस्या के प्रति सहानुभूति-पूर्ण प्रतिबद्धता तो जाहिर होती ही है। उपन्यास में एक स्थान पर तारा नामक युवती कहती है : 'आदमी आदमी है, और ऊँचे शास्त्रों के अनुसार सब लोग एक ही परमात्मा से जुड़े है।'[१२] निराला ने वेश्यापुत्री कनक को इसी दृष्टि से देखा और प्रस्तुत किया है, जो उनकी प्रगतिशील सामाजिक सोच का परिचायक है।

पर जैसा मैंने कहा, निराला के मानस में इस विषय का कोई चमकता हुआ विजन नहीं है। उपन्यास के प्रमुख पुरुष पात्र राजकुमार की वेश्यापुत्री कनक से अत्यन्त आकस्मिक रूप में मुलाकात होती है और कनक अँगरेज पुलिस आफिसर हैमिल्टन से अपने उद्धारकर्त्ता राजकुमार को दिल दे बैठती है। यह प्रसंग अतिनाटकीयता का शिकार हो गया है और किसी पारसी नाटक कम्पनी या आज की मारधाड़ वाली फिल्म का हिस्सा जान पड़ता है। सच पूछें तो पूरा उपन्यास ही इस प्रकार के अतिनाटकीय प्रसंगों और संयोगों से भरा पड़ा है जिससे औपन्यासिक संसार कृत्रिम और हास्यास्पद हो गया है।

प्रेम इस उपन्यास के केन्द्र में है, पर उपन्यास में प्रेम की बहुत गहरी संवेदना और उससे उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व और बेचैनी का अभाव है। उपन्यास के प्रमुख पात्र राजकुमार का द्वन्द्व है कि उसने साहित्य की सेवा का व्रत लिया है, जिसके लिए वह प्रेम को बाधक समझता है। यद्यपि वह एक जगह कनक के प्रेम को 'अपने साहित्यिक जीवन संग्राम की विजय' कहता है,[१३] पर बाद में फिर उसका मानसिक द्वन्द्व जोर पकड़ लेता है। कनक का वेश्यापुत्री होना भी उसके मानसिक द्वन्द्व का कारण बनता है। इसका सबसे कमजोर पक्ष यह है कि राजकुमार के मानसिक द्वन्द्व में मनोवैज्ञानिक गहराई या तार्किक संगति नहीं है। उसकी सोच और आचरण अनेकत्र बेतुके हैं। यही बात कनक पर भी लागू है। यह उपन्यासकार की सर्जनशीलता पर गहरा प्रश्नचिह्न है।

उपन्यास में एक प्रसंग है उत्तर प्रदेश के किसान आन्दोलन, लखनऊ षड्यंत्र केस और आतंकवादियों का। राजकुमार का अभिन्न मित्र चन्दन देश की स्वतन्त्रता के प्रति समर्पित युवक है। वह किसानों का संगठन करता है और लखनऊ-षड्यंत्र केस में गिरफ्तार भी होता है। पुलिस चन्दन के क्रान्ति-कारी होने के संदेह में उसके घर पर छापा भी मारती है। पर इन सारी बातों का उल्लेख मात्र ही हुआ है, प्रभावशाली चित्रण नहीं। यदि निराला ने

समकालीन यथार्थ के इस पक्ष का प्रामाणिक और संवेदना-सिंचित अंकन किया होता तो निश्चय ही वे प्रेमचन्द की बराबरी के उपन्यासकार होते।

उपन्यास की अनेक घटनाओं में तारतम्य और संगति का अभाव है। उपन्यास के अन्त में राजकुमार और कनक का विवाह हो जाता है, पर उसी समय राजकुमार का पुलिस द्वारा गिरफ्तार होना और एक साल की सजा पाकर जेल चला जाना खटकता है। प्रसंगों का विश्वसनीय तानाबाना बुनने में निराला कुशल नहीं हैं, यह 'अप्सरा' से साफ जाहिर होता है।

उपन्यास के अन्त की ओर बढ़ते समय पाठक का ध्यान एक और बात पर गये बिना नहीं रहता। उपन्यासकार कनक के वेश्यापुत्री के संस्कार और उसके अतीत को नष्ट करने का प्रयत्न करता दिखाई देता है। उसकी पाजेब जलायी जाती है, उसे गंगा स्नान कराया जाता है, देवकार्य के समय नंगे पाँव रहने का उपदेश दिया जाता है, कालीजी का दर्शन कराया जाता है और इस प्रकार उसका पूरी तरह से शुद्धिकरण कराया जाता है। निराला की प्रगतिशील चेतना की दृष्टि से यह प्रसंग संगत नहीं जान पड़ता।

'अप्सरा' की सबसे बड़ी कलात्मक कमजोरी उसकी भाषा है। उपन्यास की सबसे प्रमुख पहचान उसकी यथार्थ के प्रति प्रतिबद्धता होती है, जिसका सृजन निहायत यथार्थवादी भाषा के बिना सम्भव नहीं होता। अलंकृत और सजावटी भाषा यथार्थ सृजन की सबसे बड़ी दुश्मन होती है। लॉक ने कहा था कि यथार्थ की प्रस्तुति के प्रसंग में अलंकृत और सजावटी भाषा पढ़ते समय या तो हँसी आती है या नींद। निराला मुख्यतः कवि थे और १९३० ई० के पूर्व उनकी कविता-भाषा छायावादी संस्कारों से युक्त, अतिशय कल्पना प्रधान अलंकारयुक्त और समस्त पदावली प्रधान होती थी। कविता में इस भाषा का एक अलहदा सौन्दर्य और नयापन था पर उपन्यास के लिए यह भाषा निहायत अनुपयुक्त थी। 'अप्सरा' में छायावादी कविता से प्रभावित गद्य का बहुल प्रयोग उसके यथार्थवादी प्रभाव को बिलकुल नष्ट कर देता है। वेश्याकन्या के लिए 'अप्सरा' या 'गन्धर्व कुमारिका' का प्रयोग सुरुचिपूर्ण चाहे जितना हो, है वह सन्दर्भ से कटा हुआ ही। भाषा के कुछ नमूने यथार्थ चित्रण के सन्दर्भ में अपनी व्यर्थता का अहसास कराये बिना नहीं रहते :—

सर्वेश्वरी की अथाह सम्पत्ति की नाव पर एक मात्र उसकी कन्या कनक ही कर्णधार थी। (पृ० २२) कनक अब कली नहीं, उसके अंगों के कुलदल खुल गये हैं। उसके हृदय के चक्र में चारों ओर के सौन्दर्य का मधु भर गया है। (पृ० २२)

इस तरह वह शुभ्र-स्वच्छ निर्झरिणी विद्या के ज्योत्स्ना लोक के भीतर से मुखर शब्द-कलरव करती हुई ज्ञान के समुद्र की ओर अबाध बह चली। (पृ० २७)।

इस तरह की सजावटी भाषा से सारा उपन्यास भरा हुआ है। यहाँ तक कि पात्रों की मनोदशा के वर्णन में भी काव्यात्मक भाषा का ही प्रयोग किया गया है जो मनोवैज्ञानिक चित्रण को प्रभावहीन कर देता है।

पर जहाँ थियेटर, इजलास और मुजरा-मजलिस का वर्णन है, वहां की भाषा बेहद सटीक, सजावट रहित, यथार्थ और आकर्षक है। इससे यह प्रतीत होता है कि निराला यथार्थवादी गद्य लिखने में असमर्थ नहीं थे, पर अपने आरम्भिक उपन्यासों में वे छायावादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाये है। नारी के रूप वर्णन और पात्रों के भावांकन में यथार्थवादी गद्य की कल्पना ही उनके लिए कदाचित् अटपटी थी।

अलका में निराला सम-सामयिक यथार्थ का चित्रण करते हैं। यद्यपि किसी मुकम्मल, सम्पूर्ण और चकित करने वाले विजन का अभाव यहाँ भी है, पर यहाँ निराला की दृष्टि अपने अवध क्षेत्र के किसानों की अभावग्रस्त, दयनीय नाटकीय जिन्दगी की ओर है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद और देशी सामन्तवाद ने किसानों के जीवन को नर्क बना रखा है। एक तरफ प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फैली इन्फ्लुएंजा की भयानक महामारी ने मृत्यु का तांडव मचा रखा है दूसरी तरफ सरकार के आदेश से गरीब जनता घी के दिये जलाकर महायुद्ध में अंग्रेजो की विजय पर खुशी मनाने के लिये बाध्य की जा रही है। जमीन्दार इस मौत के बाजार में भी असहाय किसानो की बहुओं-बेटियो पर बलात्कार करने का प्रयास करता है, जिससे बचने के लिए शोभा को, जिसका बाद में अलका नाम पड़ता है, गाँव छोड़कर भागना पड़ता है। शोभा (अलका) का बी० ए० पास युवा पति उसकी खोज में दर-दर की खाक छानता है, पर वह उपन्यास के बिलकुल अन्त में, एक अतिनाटकीय परिस्थिति में मिलती है। किन्तु शोभा और उसके पति विजय की यह वियोग और मिलन की कथा उपन्यास का कथ्य नहीं है। यह कथा स्वयं में भी अति नाटकीय, सयोगों पर टिकी हुई और अविश्वसनीय है। इससे निराला की कथा-रचना की कमजोरी सामने आती है।

पर 'अलका' का महत्त्व इस कमजोर कथा के माध्यम से समकालीन जीवन के यथार्थवादी अंकन के प्रयास के कारण बहुत बढ़ जाता है। इस उपन्यास मे चित्रित समय भारतीय स्वाधीनता सग्राम का वह चरण है जब प्रथम विश्व युद्ध के बाद गांधीजी ने आन्दोलन की बागडोर सँभाली थी और

उनके साथ वकीलों-बैरिस्टरों और पूँजीपतियों के समाज से उभरे-निकले नेताओं की फौज आजादी की लड़ाई में कूद पड़ी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस वर्ग ने त्याग किया और तकलीफें झेली पर किसानों मजदूरों की दुर्भाग्यपूर्ण जिन्दगी से इनकी प्रतिबद्धता बहुत कम थी। इनका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से अपने लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। गांधीजी कदाचित इन वर्ग स्वार्थ से प्रेरित नेताओं के सामने लाचार थे, क्योंकि भारतीय किसान और मजदूर वर्ग अभी अपनी मुक्ति की लड़ाई के लिए सजग और संगठित नहीं था। हिन्दी के सबसे बड़े उपन्यासकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में किसानों की तकलीफों और जमींदारों-साहूकारों तथा सरकारी तंत्र द्वारा उनके शोषण का चित्रण तो किया पर वे भी किसानों-मजदूरों द्वारा व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का खुलकर चित्रण करने में कतरा गये। उनका ध्यान इस तथ्य की ओर प्रायः नहीं गया कि कांग्रेस का नेतृत्व जमींदारों-पूँजीपतियों के विरुद्ध किसानों-मजदूरों के विद्रोह को उभरने न देने की कोशिश करता था। इसका कारण था कांग्रेस-नेतृत्व का वर्ग स्वार्थ। पर निराला ने 'अलका' में इस वर्ग स्वार्थ का स्पष्ट उल्लेख किया। उन्होंने देश की स्वतंत्रता को 'एक मिश्र विषय' बताते हुए उसकी 'सब तरफ से पुष्टि' की बात कही।[१४] उन्होंने लिखा : संवाद-पत्रों में स्वतंत्रता का व्यवसाय होता है। सम्पादक ऐसी स्वाधीनता के ढोल हैं जो केवल बजते हैं....वे केवल दूसरे की हाथों की थपकियों से मधुर बोलते हैं—जनता वाह-वाह करती है, और बजाने वाले देवता को पुष्पमाला लेकर यथाभ्यास, जैसा सुझाया गया, पूजने को दौड़ती है।"[१५] उपन्यास का एक पात्र उन नेताओं का भी आलोचनात्मक रूप में उल्लेख करता है जो लाखों-करोड़ों की कमाई करने के बाद नेता बन गये हैं। दूसरी ओर वह किसान है जो "हल और माची कन्धे पर लादकर, एक पहर रात रहते खेतों में जाता, शाम तक जोतता, दोपहर वहीं नहाकर भोजन करता, घंटे भर छाँह में बैल चारा खाते। तब तक अपनी प्रिया से खेती की बातचीत करता है। शाम को घर लौटता है।'[१६] इस प्रकार कांग्रेस-नेतृत्व और किसान जनता के वर्ग स्वार्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे, जिसे निराला ने प्रेमचन्द की तुलना में ज्यादा अच्छी तरह से समझा था।

निराला ने 'अलका' में जमीन्दारों के विरुद्ध किसानों की बगावत का यथार्थ और प्रभावी अंकन किया है। उनके विद्रोह को नेतृत्व प्रदान करते हैं विजय और अजित जो किसानों मजदूरों के हितों की रक्षा के प्रति समर्पित हैं। वे किसानों को संगठित करते हैं, उन्हें शिक्षित करते हैं, उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाते हैं और जमीन्दार के खिलाफ तन कर खड़े होने का

साहस प्रदान करते हैं। किसान ऐसा करते भी हैं, पर वे जमीन्दार के क्रूर दमन से इतने टूटे हुए हैं कि उसके सामने अधिक देर तक टिक नहीं पाते। जमीन्दारों को जहाँ सरकार का समर्थन प्राप्त है, वहाँ किसानों को कांग्रेस नेतृत्व का समर्थन भी नहीं है। जमीन्दार उन्हें अपने आतंक और चिकनी चुपड़ी बातों से फोड़ लेता है। किसान पुनः नेतृत्व विहीन हो जाने के कारण अपनी पुरानी स्थिति में लौट जाते है।

खेद की बात है कि निराला के मानस में इस विषम का कोई प्रोद्भासित विजन नहीं है। अतः वे इसे पूर्णता प्रदान नही कर पाते। उपन्यास बहुत जल्दबाजी में विजय और शोभा (अलका) के अतिनाटकीय मिलन, अजित और विधवा युवती वीणा के विवाह तथा जमीन्दार राजा मुरलीधर की हत्या में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार उपन्यास के लिए एक बहुत उपयुक्त विजन की भ्रूण हत्या हो जाती है।

'अलका' में निराला की भाषा, उपन्यास की दृष्टि से, 'अप्सरा' की तुलना मे आगे बढ़ी हुई है। इन्फ्लुएंजा की महामारी, किसानो की स्थिति तथा उनके विद्रोह को प्रस्तुत करने वाली भाषा बड़ी ही यथार्थ, जमीन से निकली हुई, जीवन्त और धारदार है। पर निराला का अड़ियल छायावादी कवि मानो अपनी उपेक्षा बर्दाश्त नहीं कर पाता और प्रायः उपन्यास की स्वाभाविक, जीवन्त भाषा को सजावटी और फीलपाँवी बना देता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

गृह की कली में उसे सौरभ की तरह छिपा रखा। शत-पथ-वाहिनी शतद्रु जैसे पर्वत पिता के वक्षःस्थल में भूलकर अन्तर्हित कर रही थी। (पृ० १४९)

उपन्यास में अनेकत्र इस प्रकार की बोझिल और कृत्रिम भाषा प्रयोग मे लायी गयी है जो औपन्यासिक यथार्थ को विकलांग बनाती है।

अपने तीसरे उपन्यास **निरुपमा** में निराला ने अपने समय के, आर्थिक और वैचारिक दृष्टि से पिछड़े, रूढ़िगत सस्कारों से जकड़े, ग्रामीण समाज का बड़ा ही तल्ख चित्रण किया है। यथार्थ-चित्रण की दृष्टि से 'निरुपमा' 'अलका' से भी आगे बढ़ा हुआ उपन्यास है। सबसे बड़ा परिवर्तन तो उनकी भाषा में दिखाई पड़ता है जो अवधी शब्दो और मुहावरों से जुड़कर चित्रणीय विषय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त, सजीव और धारदार बन गयी है। बहुत कम ऐसे स्थान हैं जहाँ निराला के छायावादी कवि ने अनावश्यक हस्तक्षेप किया है, बिलकुल नहीं किया है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर निराला का विधानुशासनगत संयम यहाँ देखने लायक है। इसी प्रकार 'निरुपमा' में संयोगाधृत और बेसिर पैर की घटनाओं की भरमार भी नहीं है। उपन्यास के अन्त में

फिल्मी कथाओं की पद्धति पर कुछ घटनाओं की योजना की गयी है, पर वे उपन्यास के कथ्य को कोई हानि नहीं पहुंचातीं और थोड़ा बहुत मनोरंजन भी करती हैं।

निराला को अपने गाँव गढ़ाकोला के ब्राह्मण समाज के रूढ़िवादी विचारों, कठोर जातिगत संस्कारों और पिछड़ी जातियों के प्रति क्रूर व्यवहार का कटु अनुभव था। किसी पढ़े लिखे, जड़ ब्राह्मण संस्कारों का अनुकरण न करने वाले व्यक्ति को जाति बाहर कर, सामाजिक बहिष्कार का शिकार बनाकर, तरह-तरह की यातना देना उनके जातिगत श्रेष्ठता-भाव से कुंठित सामूहिक मन की सहज वृत्ति थी। निराला ने अवध क्षेत्र के ग्रामीण ब्राह्मणों की इस श्रेष्ठताग्रन्थि जन्य क्रूर और कमीनी मानसिकता का बहुत ही प्रभावशाली अंकन 'निरुपमा' में किया है। ये ब्राह्मण यों तो बड़े गरीब हैं, हल जोतते हैं, जमीन्दार की बेगार करते हैं, शिक्षा की दृष्टि से बेहद पिछड़े हुए हैं पर ज्योंही गाँव का कोई युवक पढ़ लिखकर जातिगत पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश करता है वे भेड़िये की तरह खूंखार हो उठते हैं और उसके सारे परिवार को अवज्ञा, अपमान और बहिष्कार की आग में डाल देते हैं। असह्य ग्रामीण यथार्थ का इतना मर्मवेधी चित्रण हिन्दी के और किसी उपन्यासकार ने नहीं किया है, प्रेमचन्द ने भी नहीं। यह निराला की यथार्थवादी, प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है।

'निरुपमा' में निराला ने एक ऐसी स्थिति का भी सृजन किया है, जो अनुकरणीय आदर्श कही जा सकती है, पर वह विश्वसनीय नहीं है। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र, कृष्णकुमार या कुमार, लन्दन से भाषाविज्ञान की डी० लिट० डिग्री लेकर हिन्दुस्तान लौटता है, पर बंगाली विद्वानों और अधिकारियों के पक्षपात के कारण उसे कलकत्ता विश्वविद्यालय में नौकरी नहीं मिलती, यहाँ तक कि लखनऊ विश्वविद्यालय में भी उसकी योग्यता की उपेक्षा कर एक बंगाली को ही लेक्चरर के पद पर नियुक्त कर लिया जाता है। इस प्रकार लन्दन की डी० लिट० डिग्री रहते हुए भी कुमार किसी कॉलेज में लेक्चरर का पद प्राप्त नहीं कर पाता और बेकारी की जिन्दगी व्यतीत करता है। इसके बाद वह जूता पॉलिश का पेशा अपनाता है और अच्छी तरह से अपनी जीविका चलाने लगता है, यहाँ तक कि अपनी माँ को, जो गाँव में रहती है, पचास रुपये प्रति माह मनीआर्डर भी करने लगता है। १९३९ ई० में इस स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उस समय तो अपने देश की ही प्रथम श्रेणी की एम० ए० की डिग्री रखनेवाले को आसानी से किसी अच्छे कॉलेज में लेक्चरर की नौकरी मिल जाती थी। वस्तुतः उपन्यास में निराला ने स्वयं को कुमार के चरित्र पर आरोपित कर दिया है। निराला उन दिनों, स्वयं साहित्यिक दृष्टि